भारतवर्ष का इतिहास

मुगल भारत

१२५६ से १७६१ ईस्वी तक

मूल लेखक

सी० एस० श्रीनिवासाचारी, एम० ए०

तथा

एम० एस० रामस्वामी अयंगर एम० ए०

सम्पादक

गोरखनाथ चौबे एम० ए०

भूतपूर्व रजिस्ट्रार, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

—:o:—

प्रकाशक

रामनारायण लाल

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

इलाहाबाद

प्रथमबार] १९५० [मूल्य ३॥)

मुद्रक—
मुंशी रमजान अली शाह
नेशनल प्रेस
प्रयाग

भूमिका

हिन्दी साहित्य में समाज-शास्त्र सम्बन्धी पुस्तकों का सर्वथा अभाव है। इतिहास, राजनीति, धर्म-शास्त्र आदि विषयों पर गम्भीर पुस्तकें हिन्दी में बहुत ही कम उपलब्ध हैं। जब तक इन विषयों में प्रामाणिक-ग्रन्थों की रचना नहीं होगी तब तक हिन्दी साहित्य के भण्डार की पूर्ति होना असम्भव है। केवल कहानी और उपन्यास विषयक ग्रन्थों से कोई साहित्य समृद्धशाली नहीं कहलाता। हिन्दी साहित्य में यह अभाव भारतीय विद्वानों को खटक रहा है और वे इसकी पूर्त्ति का प्रयत्न कर रहे हैं। भारतीय सरकार ने हिन्दी को राष्ट्र भाषा घोषित करने का आश्वासन दिया है। यद्यपि इस आश्वासन की पूर्त्ति में अभी पन्द्रह वर्ष का विलम्ब है परन्तु भारतीय विद्वानों के लिये यह समय बहुत ही अमूल्य है। यदि कठिन परिश्रम द्वारा उन्होंने विभिन्न क्षेत्रों में अपनी विद्वत्ता का परिचय दिया और ठोस साहित्य की रचना की तो सरकार को बाध्य होकर पन्द्रह वर्ष के भीतर ही हिन्दी को राष्ट्र भाषा मान लेना होगा। इसलिये वर्त्तमान समय भारतीय विद्वानों के लिये बहुत ही अमूल्य और परीक्षा का है। उनकी प्रतिभा और अन्वेषण-शक्ति कितनी है इसका भी परिचय इसी समय के अन्तर्गत होगा।

किसी भी बड़े कार्य की पूर्त्ति के लिये एक विचार-शील कार्य-क्रम की आवश्यकता होती है। इससे कार्य करने में सुविधा होती है और समय समय पर कार्य की गति का अनुमान होता है। हिन्दी-साहित्य में समाज-शास्त्र-विषयक-ग्रन्थों को लाने के लिये दो प्रकार के कार्य आवश्यक हैं। ये दोनों साथ-साथ करने होंगे और इनकी प्रगति अबाध रूप से जारी रखनी होगी। अन्य भाषाओं में जितने भी प्रामाणिक ग्रन्थ इन विषयों में उपलब्ध हैं उनका अनुवाद हिन्दी में आना चाहिये। समय समय पर यह भी ध्यान रखना होगा कि ज्योंही कोई प्रामाणिक ग्रन्थ किसी भाषा में प्रकाशित हो त्यों ही उसका अनुवाद हिन्दी में आ जाय। अंग्रेजी साहित्य के समृद्ध होने का यही मुख्य कारण है। संसार की किसी भी भाषा में एक भी प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं है जिसका अनुवाद अंग्रेजी में प्राप्त न हो।

कहा जाता है कि अंग्रेजी साहित्य में इस बात का प्रयत्न किया जाता है कि किसी भाषा का मूल-ग्रन्थ और उसका अंग्रेजी अनुवाद साथ ही प्रकाशित हो। यदि थोड़ा अन्तर पड़ता है तो केवल महीने दो महीने का। इसीलिये अंग्रेजी विद्वानों को अपने विषय की जानकारी के लिये पूरा आत्म-विश्वास होता है। उन्हें अन्य भाषाओं का कोई विशेष आकर्षण नहीं होता। इस प्रकार के ग्रन्थों के प्रकाशन आर्थिक लाभ की दृष्टि से नहीं किये जाते, प्रत्युत इनका उद्देश्य साहित्य की वृद्धि और शोध कार्य करने वालों की सुविधा है। अनुवाद के अतिरिक्त मौलिक ग्रन्थों की रचना भी आवश्यक है। देश के विद्वान केवल अनुवाद द्वारा अपनी प्रतिभा का परिचय नहीं दे सकते। मौलिक ग्रन्थों में ही विषयों के साथ साथ अपने देश की सामान्य परिस्थिति और राष्ट्रीय उद्धरणों का परिचय मिलता है। इन दोनों प्रकार के कार्यों की सफलता सरकार के सहयोग पर ही निर्भर है। जब तक कुछ विद्वानों को विदेशी साहित्य की पूरी जानकारी न होगी तब तक प्रामाणिक ग्रन्थों का अनुवाद उपलब्ध नहीं होगा।

'मुगल-भारत' नामक पुस्तक एक प्रामाणिक अंग्रेजी पुस्तक का अनुवाद है। अंग्रेजी भाषा में यह पुस्तक इतिहास के विद्वानों के लिये और विशेषकर विद्यार्थी तथा अध्यापक वर्ग के लिये बहुत ही प्रिय और उपयोगी रही है। अंग्रेजी राज्य के साथ अंग्रेजी भाषा को भी आकर्षण करता रहा। पुस्तक का अनुवाद इसीलिये किया गया है कि विद्यार्थी और अध्यापक इस प्रामाणिक ग्रन्थ की उपयोगिता से वंचित न रह जाय। पुस्तक के मूल लेखकों ने जिस खोज और विद्वत्तापूर्ण ढंग से विषय का वर्णन किया है वह इतिहास के अन्य विद्वानों के लिये अनुकरणीय है। पुस्तक में सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों की भारतीय राजनीतिक प्रगति का वर्णन है। परन्तु विद्वानों ने शासकों की नामावली, उनकी वंश परम्परा एवं शासन काल तक ही अपने को सीमित नहीं रखा। पुस्तक में दोनों शताब्दियों की सामाजिक और आर्थिक परिस्थिति का विशद वर्णन पाया जाता है। दोनों ही विद्वान इस बात से सहमत हैं कि इतिहास का उद्देश्य केवल घटना वर्णन नहीं है। इसमें देश के उत्थान और पतन का प्रतिबिम्ब होना चाहिये। 'मुगल भारत' के अध्ययन से

इस ऐतिहासिक सिद्धान्त की पुष्टि होती है। एफ० ए० तक के विद्यार्थी अपने ऐतिहासिक ज्ञान की वृद्धि के लिये इस पुस्तक से लाभ उठा सकते हैं। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में भारतवर्ष की राजनीतिक परिस्थिति क्या थी, समाज में लोगों की आर्थिक और सांस्कृतिक विकास के साधन क्या थे तथा विभिन्न शासकों ने जनता की भलाई के लिये कौन-सा कार्य किया—इन बातों का स्पष्ट वर्णन पुस्तक में पाया जाता है। इसके अध्ययन के पश्चात् पाठक गण अपनी वर्त्तमान परिस्थिति का भली-भाँति अनुमान कर सकते हैं।

मुगल बादशाहों का समय भारतवर्ष के इतिहास में एक विशेष स्थान रखता है। इन्हीं के समय में सम्पूर्ण भारत का एकीकरण हुआ था। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ का शासन स्वर्ण-युग माना गया है। भारतवर्ष की उन्नति के लिये इन शासकों ने जो-जो कार्य किये वे वर्त्तमान भारत सरकार के लिये पथ प्रदर्शन का कार्य कर सकते हैं। मुगल शासकों का निर्माण कार्य, इनके समय में कला और साहित्य की उन्नति तथा भारतीय प्रतिष्ठा को बढ़ाने के ठोस कार्य आज भी लोगों को आकर्षित करते हैं। इन्हीं शासकों की नीति का परिणाम था कि भारतवर्ष धन धान्य से सम्पन्न था और साधारण जनता भी सुख और शान्ति का जीवन व्यतीत करती थी जो समस्यायें देश के सामने आज उपस्थित है उनको इन शासकों ने बहुत ही बुद्धिमत्ता पूर्ण ढंग से हल किया था। यह कहना अनुचित न होगा कि अशोक और विक्रमादित्य के शासन के पश्चात् मुगल शासकों ने ही भारतवर्ष की प्रतिष्ठा और गौरव को इतना अधिक बढ़ाया कि विदेशियों ने भी मुक्त कण्ठ से इसकी प्रशंसा की है। प्रसिद्ध फ्रांसीसी यात्री बर्नियर लिखता है "संसार के हर देश से सोना और चाँदी आ आ कर इस देश में इकट्ठा होता है, परन्तु इनके जाने का एक भी रास्ता नहीं है।" आशा है पुस्तक से विद्यार्थी और अध्यापक दोनों का हित होगा।

राम भवन
प्रयाग
१०-१-५०

गोरखनाथ चौबे

विषय-सूची

मुगल भारत

पहला परिच्छेद

मुगल साम्राज्य की स्थापना

१—मुगल साम्राज्य का संस्थापक बाबर

भारत के इतिहास में १५२६ एक युग-प्रवर्तक वर्ष का स्थान रखता है। इसी वर्ष उस बड़े साम्राज्य को स्थापना हुई थी जो दो शती से अधिक तक भारतीय जनता के राजनीतिक भाग्य का विधाता, सूत्रधार, बना रहा। इस साम्राज्य का निर्माता जहीर उद्दीन मुहम्मद नामक एक उल्लेखनीय व्यक्ति था जो बाबर [सिंह] उपनाम से प्रसिद्ध है। वे कौन सी परिस्थितियाँ थीं जिनकी वजह से वह इतने बड़े साम्राज्य का अधिकारी बन सका, इस पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। इसलिए यहाँ हम उनका संक्षेप में ही वर्णन करेंगे।

सोलहवीं शती की चार राजनीतिक शक्तियाँ

सोलहवीं शती के प्रथमार्द्ध में भारत चार सुस्पष्ट राजनीतिक भागों में बँटा हुआ था। पहला उत्तरी भाग अर्द्ध-वृत्ताकार रूप में इन्दस के मुहाने से बंगाल की खाड़ी तक फैला हुआ था। यह भाग मुसलमान शासकों के हाथ में था। इसी के साथ पश्चिम में, सिंध और मुलतान, पंजाब, की सलतनतें थीं जो नाम को दिल्ली के

आधीन थीं पर वस्तुतः उन पर—तीन अफ़गान वंशों का आधिपत्य था। * दक्षिण में और पूर्व में जौनपुर स्थित था। यह शरकी राज्य के आधीन था। आज के आगरा और अवध के सूबों पर भी शरकी सत्ता का प्रभाव था। सुदूर पूर्व में बंगाल था जो दिल्ली की राजनीतिक हलचलों से अछूता और अलग था। दूसरा दक्षिणी भाग गुजरात, मालवा, खानदेश और दकन जैसे राज्यों का था। यह भाग बहमनी शासकों के आधिपत्य में था।

मुसलमान राज्यों के उत्तरी और दक्षिणी पाटों के बीच में मृत्यु और जीवन के संघर्ष में जूझने वाला अमर राजपूताना था। शतियों के संघर्ष के बाद अब राजपूताना ने अपने पुराने गौरव को प्राप्त करना आरम्भ कर दिया था। मुसलमान शासकों की आपसी फूट और मतभेदों ने राजपूतों को अपनी सत्ता स्थापित करने का अच्छा अवसर प्रदान कर दिया था।

राजपूताना और मालवा के दक्षिण-पूर्व तथा पूर्व में बुंदेलखंड और गोंदवाना का वन्य प्रदेश अभी एक स्वतंत्र हिन्दू राजाओं का घर बना हुआ था। राजपूताना के राज्यों में मारवाड़ और मेवाड़ शक्तिशाली थे। यदि मुगल बीच में न आ गए होते तो उत्तरी भारत पर उनका प्रभुत्व स्थापित हो गया होता। राजपूताना के राज्यों का यह समूह तीसरा राजनीतिक भाग था। चौथा और सब से अन्तिम भाग विजयनगर का साम्राज्य था जिसने लोहे की दीवार की तरह दक्षिण में मुसलमानों के प्रसार को रोका था, बहमनी शासकों के विरुद्ध बहुधा मोर्चा लिया था और अपने निरन्तर

---

*दिल्ली का महत्व उन दिनों बहुत कुछ नगण्य हो गया था। रशब्रुक विलियम ने फ़ारसी का एक शेर उद्धृत किया है जिसका प्रत्येक शब्द दिल्ली की सल्तनत के उपहास से भरा हुआ है—

बादशाही शाहे आलम,
अज दिल्ली ता पालम!

इसका अर्थ है कि दिल्ली की बादशाहत 'दिल्ली से पालम तक फैली हुई है।" पालम दिल्ली से लगा हुआ एक गाँव है। [देखिये रशब्रुक विलियम कृत " एन एम्पायर बिल्डर आफ दि सिक्सटींन्थ सेंचुरी, पृष्ठ १]

आक्रमणों से उनके सन्तुलन और गुटों को छिन्न-भिन्न करने में सफलता प्राप्त की थी। विजयनगर मुसलमान शासकों को इस योग्य नहीं रहने दिया कि वे राजपूताना के लिए खतरनाक रूप धारण कर सकें। विजयनगर के अतिरिक्त इस भाग में उड़ीसा का राज्य भी था जो बंगाल को दक्षिण की ओर बढ़ने से रोके हुए था।

१४५१ईसवी में दिल्ली की राजनीति

इस काल के विभिन्न राज्यों के इतिहास का वर्णन हम पहले ही कर चुके हैं। यहाँ यह देखना अधिक संगत होगा कि मुगलों के आगमन के समय दिल्ली की क्या स्थिति थी। तथाकथित सैयद वंश १४५१ में दुःखद अन्त को प्राप्त हो चुका था। पंजाब में शासन करने वाले सर्वशक्तिशाली अफगान वंशों ने लोदी जाति के बहलोल को अब सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर दिया। बहलोल एक अच्छा योद्धा और दूरदर्शी नीतिज्ञ था। अपने आकर्षक व्यक्तित्व और चरित्र के बल पर दिल्ली पर उसने अपना प्रभुत्व जमाए रखने में सफलता प्राप्त की। आस-पास के सरदारों को उसने अपने वश में कर लिया और जौनपुर पर फिर से अपना अधिकार स्थापित कर लिया। अपने पुत्र सिकन्दर को अपना उत्तराधिकारी बनाने में भी वह सफल हुआ। सिकन्दर ने १४८९—१५१७ तक शासन किया। अपने पिता की तरह उसने भी अफगानों के प्रति अति मान प्रदर्शित करने और उनसे मित्रता बनाए रखने की नीति का पालन किया। लेकिन सिकन्दर के उत्तराधिकारी इब्राहीम ने इस नीति को छोड़ कर निरंकुशता का मार्ग ग्रहण किया। परिणामतः अफगानों की मित्रता और सहानुभूति के साथ-साथ उसे राज्य से भी हाथ धोना पड़ा। पंजाब और जौनपुर ने विद्रोह कर दिया। राजपूतों ने, जो सदा दिल्ली पर आँखें गड़ाए रहते थे, इब्राहीम को दो बार युद्ध में परास्त कर दिया। ऐसा मालूम होता था कि राजपूतों के संघ के प्रमुख मेवाड़ के राणा संग्राम सिंह का दिल्ली के सिंहासन पर आधिपत्य हो जाएगा। लेकिन विधाता ने कुछ और ही रच रखा था। पंजाब के सूबेदार दौलतखाँ लोदी ने

काबुल के शासक बाबर को निमंत्रण भेजा कि वह आए और दिल्ली को इब्राहीम की निरंकुशता से मुक्त करे। इस प्रकार बाबर ने भारत की भूमि पर पाँव रखा।

बाबर का प्रारम्भिक जीवन

बाबर मुगल जाति का था। पूर्व को रौंदने वाले तमुज़ीन उर्फ चंगेज़ खाँ और तैमूरलंग के वंश से उसका निकट का सम्बंध था। पितृपक्ष में वह तैमूर की पाँचवीं पीढ़ी में हुआ था। मातृपक्ष से वह चंगेज वंश से सम्बंध रखता था। बाबर मध्य एशिया और भारत के लूट-मार करने वाले आक्रमकों और सल्तनत के निर्माताओं, तैमूरलंग और अकबर के बीच की कड़ी था। स्टैनली लेनपूल के शब्दों में उसका व्यक्तित्व स्थिर होकर न बैठ सकने वाले तातारों की अशान्तता और फारस की नागरिकता से मिल कर बना था। मंगोलों की शक्ति, तुर्कों के साहस और क्षमता के साथ उसने भारत में प्रवेश किया। १४८२ ईसवी में, १४ फरवरी, शुक्रवार के दिन उसका जन्म हुआ था। उसका पिता फरगना के छोटे से राज्य का शासक था। फरगना आज रूसी तुर्किस्तान का एक छोटा-सा जिला है। बारह वर्ष की आयु में ही बाबर फरगना का उत्तराधिकारी बन गया था। उसके शासन के प्रारम्भिक दिन काफी संकट में बीते। पिता के उग्र स्वभाव की विरासत में छोटे से फरगना पर तीन ओर से संकट के बादल उमड़ आए थे। इन सरहदी आक्रमणों के फलस्वरूप फरगना के क्षेत्र में जहाँ कमी आई, वहाँ बाबर ने बहुत कुछ सैनिक शिक्षा भी प्राप्त की।* बाबर की सब से बड़ी आकांक्षा समरकंद के सिंहासन पर बैठने की थी।

* इन सरहदी आक्रमणों का रोचक वर्णन स्टैनली लेनपूल ने अपनी पुस्तक 'बाबर' [रूलर्स आफ इन्डिया सीरिज] के दूसरे परिच्छेद में, खुद बाबर के अपने जीवनी रूपक संस्मरणों में [अर्सकीन और लीडेन द्वारा अनुवादित, —मूल संस्करण १८२६, सर लूकस किंग द्वारा संशोधित संस्करण, दो खण्ड, १९२१] और एस० एम० एडवर्ड्स के लघु ग्रंथ "बाबर, डायरिस्ट एण्ड डेस्पॉट" में देखिये।

सौभाग्य वश उसकी इस आकांक्षा को पूरी करने वाली परिस्थिति भी उत्पन्न हो गई। उत्तराधिकार सम्बंधी झगड़े से लाभ उठा कर उसने समरकंद पर चढ़ाई कर दी और १४९७ में उस पर अधिकार कर लिया। यहाँ आकर बाबर बीमार पड़ गया और फरगना में स्थित उसके महात्वाकांक्षी वजीर ने यह खबर फैला दी कि बाबर मर गया। अपनी पैतृक गद्दी पर अपना अधिकार फिर से प्राप्त करने के लिए बाबर समरकंद से फरगना के लिए तुरंत रवाना हो गया, मगर वहाँ देर से पहुँचा। विद्रोहियों ने उसके प्रमुख सहायक ख्वाजा काजी को फांसी पर लटका दिया था। उसकी अनुपस्थिति में समरकंद पर भी शक्तिशाली उजबेग सरदार शैबानी ने अधिकार कर लिया। इस प्रकार बाबर बिल्कुल बेघर-बार हो गया। लेकिन जैसा कि कैनेडी ने लिखा है—"इन मुसीबतों को उसने हँस कर उड़ा दिया और युद्ध के मैदान में अपने भाग्य को फिर से चमकाने का दृढ़ निश्चय किया।"*

बाबर की काबुल विजय

उजबेगों की कुख्याति से लाभ उठा कर बाबर ने १५०० में समरकंद पर फिर से अधिकार कर लिया, किन्तु अपने सैनिकों के बुरे व्यवहार के कारण अधिक दिनों तक उसे अपने अधिकार में नहीं रख सका। इसके बाद कई वर्ष फरगना पर फिर से अधिकार करने के विफल प्रयत्नों में बीते। इसमें सफल न होने पर उसने काबुल की ओर अपने पाँव बढ़ाये।

काबुल पर बाबर के चचा उगल वेग मिर्जा का अधिकार था। १५०१ में अपने अबोध लड़के अब्दुल रज्जाक को छोड़ कर वह मर गया। उत्तराधिकारी के नबालिग होने से लाभ उठा कर कबायली सरदारों ने विद्रोह कर दिया। बाबर के लिए उससे अधिक सुनहरी अवसर और क्या हो सकता था। फरगना और अफगानिस्तान के बीच के पहाड़ी हल्के में बसने वाले खुर्रम

---

* देखिए पी० कैनेडी लिखित "हिस्ट्री आफ दि ग्रेट मुगल्स", खण्ड १, पृष्ठ १२९।

सैनिकों की मदद से उसने काबुल पर अधिकार कर लिया। बिना रक्त बहाए ही यह काम हो गया। और द्रुतगति से कंधार और हेरात पर अधिकार कर उसने अपनी स्थिति को और भी मजबूत बना लिया।

समर कंद पर अधिकार करने का बाबर का अन्तिम प्रयत्न

हिन्दुस्तान और खुरासान के बीच में स्थित काबुल को बाबर बहुत मूल्यवान समझता था। लेकिन अपनी मातृभूमि समरकंद पर अधिकार प्राप्त करने की उसकी आकांक्षा अभी तक बनी हुई थी। उसके पुराने शत्रु शैबानी की इसी बीच मृत्यु हो गई। बाबर ने देखा कि अब अच्छा अवसर है। फारस के शाह की मदद से उसने समरकंद पर अधिकार कर लिया। लेकिन इस बार समरकंद की जनता ने उसका स्वागत नहीं किया। क्योंकि उसने फारस के घृणित शियाओं से अपना नाता जोड़ लिया था जब कि आकसस के उत्तरी प्रदेश के समूचे मुसलमान सुन्नी सम्प्रदाय के थे। परिणामतः, १५१४ में, उसे सदैव के लिए इस प्रदेश को छोड़ देना पड़ा।

आकसस के प्रदेश से उखड़ जाने के बाद बाबर ने हिन्दुस्तान की ओर कदम बढ़ाया। अब उसने बादशाह की उपाधि धारण कर ली थी और इसी रूप में वह प्रसिद्ध भी हुआ। अफगानिस्तान पर उसका शासन अपेक्षाकृत शान्तिपूर्ण रहा जब कि फारस और आकसस-प्रदेश निरन्तर संघर्ष की भूमि बने हुए थे। बाग-बगीचे बनवाकर उसने काबुल के सौन्दर्य में वृद्धि की और अफगानों को शान्त रखने के लिये अनेक बार उसे सैनिक कार्यवाही करनी-पड़ी।

हिन्दुस्तान पर बाबर के प्रारम्भिक आक्रमण [१५१९-२४]

भारत पर अधिकार करने से पहले बाबर ने अनेक बार प्रारम्भिक धावे किए थे। १५१९ में उसने इन्दस के ठीक पश्चिम में स्थित बजौर पर घेरा डाला। इसके बाद उत्तर-पश्चिमी पंजाब में प्रवेश किया और उस प्रदेश पर अपने प्रभुत्व की घोषणा कर

दी। पंजाब में प्रवेश करने के बाद पहली बार उसने दिल्ली की धुन लगी राजनीति की झलक देखी। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, उसे पंजाब के सूबेदार दौलतखां का निमंत्रण मिला। इस निमंत्रण को पाकर बाबर काबुल लौट गया, वहाँ जाकर नई सेना जमा की और पानीपत के युद्ध के बाद दिल्ली के सिंहासन पर अधिकार कर लिया।

पानीपत का युद्ध (१५२६)

बाबर के काल में पानीपत एक महत्वपूर्ण और सम्पन्न नगर था। इस नगर के पास ही बाबर ने अपने युद्ध का मैदान बनाना शुरू कर दिया। खुद पानीपत ने उसके दाहिने बाजू के रक्षक का स्थान ग्रहण कर लिया। अपने बाँए बाजू को उसने खाई खोद कर और खाई के अग्रभाग में पेड़ गिरा कर सुरक्षित कर लिया। सामने के भाग की रक्षा के लिए उसने सात सौ गाड़ियाँ और कुछ जगह छोड़ कर बाड़ खड़ी कर ली। बीच में छूटी हुई जगहों में से उसके सैनिक आक्रमण के लिए आगे बढ़ सकते थे। उसके सैनिकों की संख्या ६ हजार थी। सभी सैनिक परखे हुए अनुभवी योद्धा थे। दूसरी ओर सुलतान इब्राहीम एक लाख सैनिकों के साथ आ जमा था। इन सैनिकों में से अनेक ने व्यक्तिगत साहस और बहादुरी का परिचय दिया, किन्तु व्यवस्था और संगठन ठीक न होने से जिस वक्त जो होना चाहिए वह न हो सका। सात दिन तक प्रतीक्षा करने के बाद इब्राहीम के सैनिकों ने आगे बढ़ना शुरू कर दिया और मुगलों की रक्षा-पंक्ति तक पहुँच गए। इतना आगे बढ़ कर अपने मोर्चे को विस्तृत कर लेने के बाद उसके लिए सुसम्बद्ध और संगठित रहना कठिन हो गया। इसी बीच इब्राहीम की पिछली पंक्ति के सैनिक भी आगे बढ़ आए और आगे बढ़ी हुई पंक्ति के साथ मिल गये। बाबर ने देखा कि उसके सैनिकों के सामने अव्यवस्थित सैनिकों का एक समूह जमा है। उसने अपने घोड़सवारों को आगे बढ़ने और तोपखाने को गोले दागने का आदेश दिया। इसके फल स्वरूप जो घपला हुआ उसमें अफगान सैनिकों पर सभी ओर से हमला होने लगा और उनके लिये

हरकत करना असम्भव हो गया। फिर भयानक कत्ले आम हुआ। इब्राहीम के बीस हजार से अधिक सैनिक मौत के घाट उतार दिए गये जिनमें खुद सुलतान भी था। हिन्दुस्तान बाबर के हाथों में पहुँच गया। मुगलों ने अपनी नेतृत्व शक्ति और घोड़सवारों तथा तोपखाने के सुनियोजित आक्रमण की श्रेष्ठता के कारण यह सफलता प्राप्त की।

पानीपत के बाद दिल्ली और आगरा

बाबर ने इन सफलताओं को नशा अपने दिमाग पर नहीं सवार होने दिया। वह जानता था कि अभी तो यह श्री गणेश है। चुने हुए सैनिकों की टुकड़ियों को उसने दिल्ली और आगरा पर अधिकार करने के लिए तुरन्त रवाना कर दिया। दिल्ली पर अधिकार हो गया और वहाँ एक अस्थायी सरकार स्थापित कर दी गई। आगरा के विरुद्ध बाबर के बड़े पुत्र हुमायूं के नेतृत्व में चढ़ाई की गई। हुमायूं का बहुत कम प्रतिरोध का सामना करना पड़ा और लूट का भारी माल उसके हाथ लगा।

इसी बीच बाबर को एक भारी कठिनाई का सामना करना पड़ा। उसके सैनिक तंग आ गए थे और अब वे काबुल लौट जाना चाहते थे। सिकन्दर की तरह बाबर ने अपने सैनिकों में विजित प्रदेशों की ओर संकेत कर के प्रोत्साहित करने का प्रयत्न किया। सिकन्दर को इस काम में सफलता नहीं मिली थी, मगर बाबर ने सफलता प्राप्त की। एक दो को छोड़ कर बाकी सभी सैनिक अधिकारियों ने हिन्दुस्तान में रह कर बाबर के अधूरे काम को पूरा करने का निश्चय किया।

कनवाहा का युद्ध

बाबर के सैनिकों के इस निश्चय का सबसे तीखा आघात राजपूत राज्यों के संघ के प्रमुख मेवाड़ के संग्राम सिंह पर हुआ। उसे उम्मीद थी कि वह दिल्ली में फिर से हिन्दू राज की नींव डाल सकेगा। वह सोचता था कि तैमूर की तरह मुगल भी लूट का माल लेकर हिन्दुस्तान से चले जाएँगे।

काफी बड़ी सेना के साथ आगरा के पश्चिम में २३ मील की दूरी पर स्थित सीकरी की ओर संग्राम सिंह बढ़ चला। यहीं बाबर ने राजपूत शौर्य के साथ लोहा लिया। बाबर भी पूरी तरह से सज्जित था। कहा जाता है कि राजपूतों के विरुद्ध प्रयोग करने के लिए उसने भीमाकार तोप बनवाई थी। सीकरी से दस मील दूर स्थित कनवाहा नामक गाँव में मार्च १५२७ में यह युद्ध हुआ। पानीपत वाली रण-नीति की यहाँ भी पुनरावृत्ति हुई। तुर्की के कुशल तोपचियों ने राजपूत सैनिकों के समूह को अस्तव्यस्त कर दिया। भारी संख्या में राजपूत हताहत हुए। साथ ही मुगल सैनिक भी काफी मारे गए और पाँव भी पतली पड़ने लगी। बाबर ने जब यह देखा तो राजपूत सैनिकों के मध्य-केन्द्र पर स्वयं आगे बढ़ कर हमला कर दिया। उसके साथ-साथ थोड़े सवारों ने भी हमला किया। दोपहर होते होते राजपूतों की सेना बर्फ की तरह पिघल कर खाक हो गई। इस प्रकार बाबर ने कनवाहा के युद्ध में विजय प्राप्त की।

कनवाहा के युद्ध का परिणाम

कनवाहा के युद्ध का भारी प्रभाव हुआ। राजपूतों का प्रभुत्व स्थापित होने की आशंका का सदा के लिये अन्त हो गया। राजपूती संघ विच्छिन्न हो गया। मुगल साम्राज्य की नींव दृढ़ता के साथ भारत में जम गई। बाबर की राजनीतिक शक्ति का केन्द्र अब काबुल से हट कर हिन्दुस्तान के मैदानों में आ गया। दिल्ली और आगरा के अगल-बगल राजपूतों के जितने भी गढ़ थे, बाबर ने सब पर अधिकार करने का निश्चय किया। मालवा के दक्षिण पूर्व में स्थित चन्देरी पर उसने चढ़ाई की। राणा का ख्याति प्राप्त सेनापति मेदिनीराय उन दिनों यहाँ का शासक था। अपनी जान की चिन्ता न कर मुगल सैनिकों ने किले पर आक्रमण किया और उस पर अधिकार कर लिया। राजपूत सैनिकों ने जान रहते किले की रक्षा की। इस आक्रमण में एक भी राजपूत सैनिक नहीं बचा। चन्देरी के पतन के शीघ्र बाद ही राणा सांगा की मृत्यु हो गई और उत्तराधिकार को लेकर झगड़ा उठ खड़ा

हुआ। राजपूत संघ में अब कोई ऐसा प्रमुख नहीं रहा जो झगड़े को निबटा पाता।

चन्देरी के बाद बाबर ने बिहार और बंगाल की अपेक्षाकृत कम शक्तिशाली अफगान शक्तियों के गुट्ट के विरुद्ध चढ़ाई की। पटना के निकट घाघरा के युद्ध में बाबर ने बंगाल को पराजित कर दिया (१५२९)। पश्चिम में सिंध में और पूर्व में बिहार में अफगान सरदार अभी तक प्रायः आज़ाद थे। बिहार के अफगान सरदारों ने अपनी विरोधी मुगल सेना को परास्त तक कर दिया था—यहाँ तक कि उसे लखनऊ छोड़ना और कन्नौज से पीछे हटना पड़ा। उनकी इस शक्ति को देख कर खुद बाबर ने उनके विरुद्ध चढ़ाई की और उन्हें कन्नौज से हटने के लिये बाध्य कर दिया। अफगान सैनिकों के प्रतिरोध से लोहा लेते हुए बाबर ने गङ्गा को पुल डाल कर पार किया और अफगान सैनिकों को कुछ समय के लिये छिन्न-भिन्न कर दिया।

घाघरा का युद्ध (मई, १५२९)

कन्नौज में परास्त हो जाने के बाद बिहार के अफगानों ने अपनी शक्ति को फिर से संगठित कर सुलतान इब्राहीम के भाई मुहम्मद लोदी के नेतृत्व में फिर से विद्रोह का झंडा खड़ा किया। अपनी सत्ता को प्रतिष्ठित करने के लिए अफगानों का यह अन्तिम प्रयत्न था। बाबर ने एक बार फिर मुगल सैनिकों के साथ गंगा के दाहिने तट की ओर से आक्रमण कर अफगान सैनिकों को चुनार, बनारस और गाजीपुर से खदेड़ दिया। अपने को अकेला पाकर मुहम्मद लोदी ने बंगाल के आज़ाद अफगान शासक से शरण की याचना की। बंगाल के शासक ने साथ दिया और उसकी सेना घाघरा और गङ्गा के संगम के निकट सरहद पर जमा हो गई। बाबर भी आगे बढ़ा। भारी गोलाबारी का सामना करते हुये मुगल सेना घाघरा नदी को पार कर शत्रु की सेना पर टूट पड़ी। मुगल तोपखाने की मार के सामने अफगान सैनिक न टिक सके। इस युद्ध के फलस्वरूप

अफ़गान-विद्रोह की कमर टूट गई और बंगाल के शासक को सुलह करनी पड़ी।

शाही महल का षड्यंत्र

अपने सम्भावित प्रतिद्वन्द्वी राजपूत और अफ़गानों को ठिकाने लगाने के बाद ऐसी कोई चीज़ नहीं रह गई जिसके विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने की आवश्यकता होती। बाबर का स्वास्थ्य तेज़ी के साथ गिरता जा रहा था। उसका मस्तिष्क बुझा-बुझा-सा रहता था। ऐसे समय में बाबर के पुराने साथी खलीफ़ा ने बाबर की सगी बहन के पति मीर मुहम्मद यहदी ख्वाजा को सिंहासन पर प्रतिष्ठित करने का षड्यंत्र रचा।* लेकिन हुमायूँ की माता माहम के ठीक समय पर हस्तक्षेप करने के कारण शाही महल का यह षड्यन्त्र सफल नहीं हो सका। इस षड्यन्त्र का आधार हुमायूँ के कुछ ऐसे कृत्य थे जिनको बाबर ने अस्वीकार किया था। जो भी हो, हुमायूँ को बादशाह खाँ से तुरन्त बुला लिया गया और बाबर को उससे जो शिकायत थी वह दूर कर दी गई। षड्यन्त्रकारियों को इसका पता नहीं चला और वे अन्त तक यही समझते रहे कि बाबर और हुमायूँ के बीच खाई बनी हुई है जब कि यह खाई पट चुकी थी।

बाबर की मृत्यु

दिल्ली वापिस आते ही एक बड़ी सेना के साथ अपनी जागीर का निर्णय करने के लिए हुमायूँ सम्भल पहुँचा। वहाँ वह बुरी तरह बीमार पड़ गया और उसे आगरा ले आया गया। बाबर को अपने पुत्र की इस बीमारी का इतना सदमा पहुँचा कि उसे बचाने के लिये उसने अपनी जान की बलि देने का निश्चय कर लिया। कहा जाता है कि बाबर ने तीन बार हुमायूँ के बिस्तर की परिक्रमा की और कहा—"हुमायूँ की बीमारी को मैं अपने

*देखिए गुलबदन बेगम द्वारा लिखित और ए० एस० बीवरिज द्वारा अनुवादित "हिस्ट्री आफ हुमायूँ" (पी० टी० एस०), नया संस्करण, परिशिष्ट बी।

सिर पर लेता हूँ।" ऐसा ही हुआ। हुमायूँ अच्छा हो गया और बाबर बीमार पड़ गया और २६ दिसम्बर १५३० को, सोमवार के दिन, उसकी मृत्यु हो गई। काबुल के एक पहाड़ी स्थल पर, जहाँ से चरागाह और एक नदी का दृश्य दिखाई देता था, बाबर को दफनाया गया। यह पहाड़ी स्थल बाबर को बहुत प्रिय था।

बाबर का चरित्र

बाबर के चरित्र का अध्ययन हम स्वयं उसके लिखे हुए तुर्की संस्मरणों से कर सकते हैं। वह एक भला, बहादुर और सच्चा आदमी था। एक पुराने लेखक❀ के शब्दों में बाबर की आठ विशेषताएँ थीं—ऊँची निर्णय-शक्ति, शुभ आकांक्षा, रण-नीतिज्ञता, शासन-कार्य में दक्षता, प्रजा को सुखी बनाने की क्षमता, बिना दमन के हुकूमत करने की कला की जानकारी, सैनिकों के हृदय को अपने वश में रखने की क्षमता और न्याय-प्रियता।

"बाबर के चरित्र की एक उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि," संस्मरणों के अनुवादक अरस्कीन ने लिखा है—"अन्य एशियाई शासकों से वह भिन्न था। नपे तुले और कृत्रिम राजसी ठाठ-बाट की जगह वह सहज स्वाभाविक, सजीव, स्नेहसिक्त, सादा जीवन का प्रतीक था। सामान्य जीवन की श्रेष्ठतम भावनाओं और प्रेम को उसने सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर दिया था। प्रतिभा और कार्य करने की क्षमता में बाबर की समानता करने वाले शासक कठिनता से मिलेंगे। गम्भीर और सदेच्छाओं से पूर्ण शासन-नीति की दृष्टि से उसका पौत्र, अकबर सम्भवतः उससे भी आगे बढ़ गया था। टेढ़ी चाल चलने वाले औरंगजेब की उससे कोई तुलना नहीं की जा सकती। चंगेज़ खाँ और तैमूरलंग की विशेषताओं का अन्त उनके विजेता-रूप के साथ हो जाता है। आक्रमिक के रूप में वे बाबर से कहीं बड़े थे। किन्तु जहाँ तक बुद्धि के क्षेत्र का

❀ इलमिन्स्की फ्रेगमेण्ट, रशब्रुक विलियम द्वारा "एन एम्पायर बिल्डर आफ दि सिक्सटीन्थ सेंचुरी" में पृष्ठ १७६ पर उद्धृत।

सम्बन्ध है, भले से भले और बुरे से बुरे क्षणों में भी चित्त को प्रसन्न और सुस्थिर रखने की जहाँ तक बात है, मानवीय और सामाजिक गुणों को विकसित तथा परिष्कृत करने का जहाँ तक सम्बन्ध है, साहित्य और संस्कृति से प्रेम करने और उनके अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करने की क्षमता का जब प्रश्न सामने आता है तो एशियाई शासकों में बहुत कम ऐसे दिखाई देते हैं जिन्हें बाबर के समकक्ष रखा जा सके।"

बाबर के संस्मरणों के सम्बन्ध में एलफिन्स्टन ने लिखा है कि वे अपने विषय और सामग्री की दृष्टि से अद्वितीय हैं। इन संस्मरणों के दर्पण में सब कुछ साफ-साफ दिखाई देता है और इन्हें हम "एशिया में सच्चे इतिहास का नमूना कह सकते हैं।" इन संस्मरणों का सबसे आकर्षक तत्व इनके लेखक का व्यक्तित्व है जो जीवन के सभी उतार-चढ़ावों और उथल-पुथल में से गुज़र कर भी हृदय की सहृदयता और प्रेम करने की क्षमता को बनाये रखता है, अपनी सहज स्वाभाविक मन-स्थिति को बिगड़ने नहीं देता,—प्रारम्भ से अन्त तक अपने मानवीय गुणों को नहीं छोड़ता। सल्तनत की शान-शौकत के रहते हुए भी वह अपनी सुसंस्कृत रुचि को कुंठित नहीं होने देता, प्रकृति और कल्पना की बारीकियों को परखने-सराहने की अपनी क्षमता को कायम रखता है।* सेना-नायक में, शासक और एक साहित्यिक के रूप में उसे सीज़र की पंक्ति में रखा जा सकता है। मुगल बादशाहों में वह सबसे अधिक प्रशंसनीय और प्रिय था।

[२]

हुमायूँ का शासन काल

बिना किसी विघ्न-बाधा के बाबर का ज्येष्ठ पुत्र हुमायूँ १५३० ईसवी में सिंहासनारूढ़ हुआ। खलीफा उसका वज़ीर और सहायक

* देखिए ई० बी० कावल लिखित "हिस्ट्री आफ इण्डिया,—हिन्दू एण्ड मुहम्मडन पीरियड्स, पाँचवाँ संस्करण, पृष्ठ ४२८—९

था। बाबर की इच्छा के अनुसार हुमायूँ के तीनों भाइयों—कामरान, हिन्दाल और अस्करी—के लिए समुचित प्रबन्ध कर दिया गया था। बाबर की मृत्यु के समय कामरान काबुल और कंधार का सूबेदार था। हुमायूँ ने उसके शासन-क्षेत्र में इन्डस और पंजाब का सरहद्दी प्रदेश भी सम्मिलित कर दिया। हिन्दाल को सांभल का सूबेदार नियुक्त कर दिया और मेवात की जागीर अस्करी को सौंप दी गई। लेकिन यह प्रादेशिक विभाजन, सब कुछ होते हुये भी, दोषयुक्त सिद्ध हुआ। हुमायूँ का सैनिक शक्ति के स्रोत उसके हाथ में नहीं रहे। काबुल से मुगल सम्राट् अपनी सेना के लिए मजबूत सैनिकों की भर्ती करते थे। इसके हाथ से निकल जाने पर हुमायूँ की शक्ति को भारी आघात लगा और अपने हाथ मज़बूत करने के लिए उसे फारस का मुँह देखना पड़ा।*

साम्राज्य फूलों की सेज नहीं

उत्तराधिकार में हुमायूँ को जो साम्राज्य मिला वह फूलों की सेज नहीं सिद्ध हुआ। पूर्व में जब कभी कोई शक्तिशाली शाह मरता था तो विद्रोही तत्वों की बन आती थी—अगर उत्तराधिकारी कठोर सैनिक होता था तो ये विद्रोही और अराजकवादी ताकतें सिर उठाने का साहस नहीं करती थीं,—करती भी थीं तो कुचल दी जाती थीं। हुमायूँ को विशेष रूप से अपने भाइयों की कड़ी प्रतिद्वन्द्विता का, लोदी वंश के असन्तुष्ट सदस्यों का, अपने ही दरबार के विश्वासघाती लोगों और सबसे बढ़कर बिहार और बंगाल के अफगान अमीरों का, जो काफिरों से भी अधिक मुगलों से घृणा करते थे, सामना करना पड़ा।

* "कामरान को काबुल दे देने के बाद हुमायूँ के पास शक्ति का वह स्रोत नहीं रहा जिसके सहारे हिन्दुस्तान पर विजय प्राप्त की गई थी और इस विजय को अपने हाथ में रखने के लिये जिसका बने रहना आवश्यक था।"—देखिए एलफिन्स्टन लिखित "हिस्ट्री आफ इण्डिया," पृष्ठ—४४१।

कुछ सूबे देकर हुमायूँ ने भाइयों को तो किसी प्रकार सन्तुष्ट कर लिया। हुमायूँ की राजधानी से पहली अनुपस्थिति से लाभ उठाकर लोदी वंश के सुलतान महमूद ने जौनपुर पर अधिकार कर लिया, यद्यपि बाद में उसे परास्त होकर जौनपुर से भागना पड़ा। सूर वंश के एक अफगान ने, जिसका नाम शेरशाह था और जिसके बारे में विस्तार से हम आगे चल कर बताएँगे, चुनार पर आकर मोर्चा जमा दिया था। लेकिन उसे भी फिलहाल आत्मसमर्पण करना पड़ा। दरबार के दो अमीर—दोनों ही मिर्ज़ा और तैमूर के वंशज थे—सिंहासन पर अधिकार करने की ताक में थे। इन दोनों को दिल्ली से निर्वासित कर दिया गया। लेकिन दिल्ली से भागकर इन दोनों ने गुजरात में शरण ली और हुमायूँ को पदच्युत करने के लिए षड्यंत्र रचने में लग गए। हुमायूँ ने जिन परिस्थितियों के कारण गुजरात पर आक्रमण किया, उनका हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

हुमायूँ और गुजरात का बहादुरशाह

मालवा और गुजरात के दो मुसलमानी राज्य राजपूताना के दक्षिण में स्थित थे। गुजरात का शासक बहादुरशाह था। घटनाओं के संयोग, बल या षड्यत्रों के सहारे वह गुजरात और मालवा दोनों का स्वामी बन बैठा था। हुमायूँ के दरबार से भागे हुए मिर्ज़ाओं ने उसी के यहाँ जाकर शरण ली। मुगल सम्राट् ने मिर्ज़ाओं के समर्पण की माँग की। बहादुरशाह ने इस माँग को ठुकरा दिया। फलतः युद्ध छिड़ गया।* मालवा की राजधानी

* राजपूतों की वीरता के इतिहास-लेखक कर्नल टाड ने गुजरात पर आक्रमण करने का एक दूसरा ही कारण बताया है। बहादुरशाह ने चित्तौड़ पर आक्रमण कर दिया था और राजघराने की जितनी भी स्त्रियाँ थीं वे जौहर की तैयारियाँ कर रही थीं। आग में कूदने से पहले रानी कर्णावती ने हुमायूँ के पास कंगन भेजा और अपने शिशु-पुत्र की रक्षा की माँग की। राजपूत रानी के कंगन को हुमायूँ ने स्वीकार कर लिया और गुजरात के विरुद्ध

माण्डू में बहादुरशाह को पराजित होकर भागना पड़ा। मुगल सैनिकों ने उसका पीछा किया और गुजरात से खदेड़ कर उसे कम्बाद तक पहुँचा दिया। उसके चम्पातीर के महान दुर्ग पर आँधी की तरह आक्रमण कर हुमायूँ ने अधिकार कर लिया। दुर्ग की ढालुवां दीवार को लांघने वाले प्रथम चालीस व्यक्तियों में स्वयं हुमायूँ भी था।

मालवा और गुजरात यद्यपि दब गए थे, किन्तु हुमायूँ उन पर अधिक दिनों तक अधिकार नहीं रख सका। अफीम का उसे व्यसन था। विजय के बाद निष्क्रियता का वह शिकार हो गया। उसने सुना कि अफगान सरदार शेरशाह बिहार का मालिक बन बैठा है और अब बंगाल को जीतने की तैयारी कर रहा है। कन्नौज में महमूद लोदी के विद्रोह का समाचार भी उसे प्राप्त हुआ। उसके भाई अस्करी ने, जिसे इनके विरुद्ध कार्यवाही करने का भार सौंपा गया था, असन्तोष प्रकट करना आरम्भ कर दिया। हुमायूँ दिल्ली छोड़ कर आगरा चला गया (१५३६)। बहादुरशाह ने इस परिस्थिति से लाभ उठाने में जरा भी देर नहीं की। बड़ी सेना के साथ उसने धावा कर दिया। मुगल सैनिकों को गुजरात और मालवा से बहिष्कृत कर फिर से अपना अधिकार स्थापित कर लिया। लेकिन इसके बाद वह अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सका। डियू में पुर्तगीजों से मिलने गया था। वहीं पर उसकी निर्ममतापूर्वक हत्या कर दी गई।

शेरशाह द्वारा शाही सेनाओं की पराजय

बिहार और बंगाल में घटनाएँ गम्भीर रूप धारण करती जा रही थीं। सूर वंश का शेरशाह, जिसके आत्म-समर्पण का हम पहले उल्लेख कर चुके हैं; अब खुले रूप से विद्रोह पर उतर आया। चुनार के दुर्ग से लेकर डेल्टा तक बिहार और बंगाल के

उसने युद्ध छेड़ दिया। इस प्रकार आत्म-रक्षा तथा रानी की रक्षा करने की वीर-भावना से प्रेरित होकर हुमायूँ ने गुजरात पर आक्रमण किया।

समूचे प्रदेश पर उसने अधिकार कर लिया और बरसात के दिनों में कौशल से हुमायूँ को बङ्गाल की घाटी में फँसा कर आगरा और दिल्ली से उसके सम्पर्क को काट दिया। पूरी शक्ति और तत्परता के साथ हुमायूँ ने चुनार पर दबाव डाला और उस पर अधिकार कर लिया। इसके बाद वह बङ्गाल की राजधानी गौड़ की ओर बढ़ा। तेलयागढ़ी (राजमहल) के पहाड़ी मार्ग में हुमायूँ को रोके रखने की कोशिश की गई और इसी बीच शेरशाह ने राजधानी से अपने परिवार, खज़ाने और तोपखाने को हटाकर रोहतास के दुर्ग में पहुँचा दिया। हुमायूं ने गौड़ पर अधिकार कर लिया और इसके बाद फिर उसकी निष्क्रियता का दौर शुरू हो गया। इसी दौर में शेरशाह ने सक्रियता दिखाई और चुनार से जौनपुर तक के समूचे प्रदेश पर अधिकार कर अपने को सम्राट घोषित कर दिया। अवसर हाथ से निकल चुका था, सेना भी इस योग्य नहीं रही कि आक्रमण कर सके, बंगाल के बरसाती मौसम के घातक प्रभाव ने भी उसे बहुत कुछ क्षीण कर दिया था। हुमायूं ने आगरा की ओर पीछे हटना शुरू कर दिया। इसी बीच हिन्दाल के विद्रोह के कारण उसकी शक्ति और भी क्षीण हो गई। शेरशाह ने शाही पदवी धारण कर ली और मुगल सेनाओं को दो बार युद्ध में निर्णयात्मक रूप से पराजित किया,—एक बार गंगा के तट पर चौसा में (जून, १५३५), दूसरी बार कन्नौज के युद्ध में (मई, १५४०)। कन्नौज के युद्ध की विजय ने शेरशाह का दिल्ली और आगरा पर भी अधिकार करना सम्भव बना दिया। हुमायूं के तीनों भाई, जो अब पदच्युत हो चुके थे, समान शत्रु का विरोध करने लिए भी अपनी शक्तियों का संगठित नहीं कर सके। हुमायूं के हाथ से हिन्दुस्तान निकल गया और शेरशाह ने अफगान राज्य की नींव डाली जो, अल्पकालिक होने पर भी उज्वल सिद्ध हुआ। इससे पहले कि इस राज्य के आकस्मिक उत्थान के इतिहास का वर्णन करें, हुमायूं के जीवन-वर्णन के शेष-भाग का भी उल्लेख कर दें। हुमायूं सर्वाधिक अभागे सम्राटों में से था जिसका जीवन दुःख और जलावतनी में बीता!

हुमायूँ का सिंध की ओर प्रस्थान और अकबर का जन्म

अपने भाइयों की ओर से निराश होने तथा उपयुक्त सेना न जुटा सकने के कारण हुमायूँ ने भाग कर एक अमीर के यहाँ शरण पाने की उम्मीद में सिंध की ओर प्रस्थान किया। सिंध के विस्तृत और पथ-विहीन रेगिस्तान में घूमते-भरमते उसकी बुरी हालत हो गई। खाने को पास में कुछ न था और रेगिस्तान में पानी के दूर-दूर तक दर्शन नहीं होते थे। शत्रु पीछा कर रहे थे। इन्हीं भगोड़े दिनों में, २३ नवम्बर १५४२ को, अमरकोट में अकबर का जन्म हुआ। हुमायूँ के एक विश्वासपात्र परिचारक जौहर ने अपने संस्करणों में लिखा है कि सिंध के रेगिस्तान में हुमायूँ ने किस प्रकार पुत्र का जन्मोत्सव मनाया। कस्तूरी का एक गुम्फा हुमायूँ के पास था। उसी को तोड़ कर प्रमुख व्यक्तियों को कस्तूरी का उपहार देते हुए हुमायूँ ने कहा—"यही एक निधि मेरे पास है जिसे, पुत्र की जन्म के खुशी में, उपहार के रूप में मैं दे सकता हूँ। मेरा विश्वास है कि कस्तूरी की सुगंध की तरह मेरे पुत्र की ख्याति भी एक दिन सारी दुनिया में व्याप्त होगी।"*

फारस से सहायता की याचना

सिंध में हुमायूँ को कोई सहायता नहीं मिली। भारी निराशा के साथ उसने कंधार की ओर मुँह फेरा जहाँ उसका भाई अस्करी राज करता था। लेकिन बजाय इसके कि यह मदद करे, घोड़ सवारों के साथ वह हुमायूँ को गिरफ़्तार करने के लिए आ पहुँचा। हुमायूँ को अपने भाई की नीयत पर शक हुआ और बलूचिस्तान की सीमा को पार कर, हेलमन्द होता हुआ, वह फारस पहुँचा। इस भाग दौड़ में हुमायूँ अकबर को अपने साथ नहीं ले जा सका, वह पीछे छूट गया। अस्करी में अभी इतनी मानवता बाकी थी कि शिशु की हत्या न

---

* देखिए जौहर द्वारा लिखित और सी स्टीवर्ट द्वारा अनुवादित "तज्करा अल वाकआत या प्राइवेट मेमायर्स आफ एम्परर हुमायूँ", १६०५ का संस्करण, पृष्ठ ६६।

करके उसे कंधार ले गया और उसका पालन-पोषण करने लगा।

फारस के शाह ने हिन्दुस्तान के भागे हुए सम्राट का समुचित आदर किया और उसे अपने साम्राज्य पर अधिकार करने के लिए सैनिक सहायता देने का भी वचन दिया। फारस के शाह ने एक ही शर्त रखी कि वह शिया मजहब को स्वीकार कर ले। शाह ने कंधार देने का भी वचन दिया। शाह की शर्त को स्वीकार करने के सिवा हुमायूं के सामने और कोई चारा नहीं था।

फारस के शाह की सैनिक मदद से हुमायूँ ने शीघ्र ही अपने भाई अस्करी को पराजित कर दिया। किन्तु कंधार को शाह को देने के बजाय हुमायूँ ने उस पर अधिकार कर लिया। इसके बाद अपने भाई कामरान को बहिष्कृत कर काबुल पर भी अधिकार कर लिया। इस प्रकार अपनी सैनिक शक्ति पर अधिकार करने के बाद जुलाई, १५५५ में हुमायूँ ने हिन्दुस्तान पर आक्रमण किया और शेरशाह के भतीजे सिकन्दर सूर को पराजित कर दिल्ली और आसाम दोनों पर कब्जा कर लिया। सिरहिन्द के युद्ध में हुमायूँ ने सिकन्दर सूर को पराजित किया। अपनी शक्ति को दृढ़ करने में उसे और भी संघर्ष करने की आवश्यकता थी। किन्तु इसी बीच हुमायूँ की मृत्यु हो गई। वह अपने महल की छत से नीचे उतर रहा था कि उसी समय मोअज्जन की आवाज उसे सुनाई पड़ी। मोअज्जन की आवाज के समाप्त होने से पहले ही नमाज के लिए बैठने की कोशिश में उसका पाँव फिसल गया और वह सिर के बल नीचे फर्श पर आ गिरा। जनवरी, १५५६ में उसकी मृत्यु हो गई। अपने पीछे वह कुछ ऐसे शत्रु जिनको दमन करना बाकी था, नाबालिग पुत्र और वेतन भोगी सेना छोड़ गया। उसके नाबालिग पुत्र के सौभाग्य और उसके शत्रुओं के दुर्भाग्य से वह अपने पीछे बैराम खाँ के रूप में एक मजबूत व्यक्ति भी छोड़ गया जो इस योग्य था कि बाहर और भीतर के शत्रुओं और मतभेदों से निबट सके।*

---

* पी कैनेडी, हिस्ट्री आफ ग्रेट मुगल्स पृष्ठ १२४।

हुमायूँ का चरित्र

छब्बीस वर्ष की आयु में हुमायूँ सिंहासन पर बैठा था! छब्बीस वर्ष तक तो वह नाम मात्र का शाह बना रहा, वास्तविक सत्ता का उपयोग उसने केवल दस वर्ष किया। उसके बारे में प्रसिद्ध है कि कल की बात सोचना उसकी सामर्थ्य से बाहर था। दूर दर्शिता का अभाव उसके लिए घातक सिद्ध हुआ। आराम और ऐशपसंदी ने उसे अफ़ीम का शिकार बना दिया। सेना-नायक के रूप में वह बेकार था, यद्यपि कभी-कभी व्यक्तिगत बहादुरी का परिचय देने से भी वह नहीं चूकता था। चम्पानी दुर्ग की दीवार पर चढ़ना ऐसा ही साहस का काम था। वहमी स्वभाव होने के कारण अमीर-उमरा उसे आसानी से धोखा दे देते थे। शान-शौकत और दरबार-गीरी का प्रेमी था। तरह-तरह के उत्सव करने में वह किसी एशियाई शाह से पीछे नहीं था। लेकिन उसमें इन शाहों से एक अन्तर था,—वह रहमदिल था। यह एक ऐसा गुण था जिसने उसे अपने सम-सामयिकों के बीच प्रिय बना दिया था।

[३]

सूर वंश

अफ़गानों के अल्पकालिक सूर-वंश के इतिहास की झांकी देने का अब हम प्रयत्न करेंगे। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, इस वंश का संस्थापक शेरशाह था। शेरशाह का असली नाम फरीद था। उसके पिता के अधिकार में गंगा के दक्षिण में बिहार के दो परगना थे। शेरशाह का प्रारम्भिक जीवन काफ़ी कठिनाइयों में बीता। पिता की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार में वह दो परगनों का स्वामी बन गया। उन दिनों की प्रथा के अनुसार जागीर के साथ-साथ व्यवस्था सँभालने की ज़िम्मेदारी भी मिलती थी। इस प्रकार शेरशाह दो परगनों का शासक था। अपने परगनों में उसने माल-गुज़ारी सम्बन्धी उल्लेखनीय सुधार लागू किए। आगे चल कर अकबर ने भी इन्हीं सुधारों की नकल की। व्यक्तिगत सेवाओं के लिए जागीर प्रदान करने की प्रथा का उसने अन्त कर दिया और

इस प्रकार जो जागीरें पहले प्रदान की गई थीं, उन्हें अपने अधिकार में ले लिया। किसानों के प्रति वह बहुत दयालु था और उन्हें छूट दे रखी थी कि चाहे पैदावार के रूप में चाहे धन के रूप में वे लगान दे सकते हैं। बीच के महाजनों को उसने खत्म कर दिया था क्योंकि उनका अस्तित्व इस लाभ के विरुद्ध था। खेतों की नपाई और करों की उगाही का उसने शुल्क नियत कर दिया था और किसानों को चूसने वाले लोगों के साथ बहुत सख्ती से पेश आता था। लगान के दर में वह कमी का सिद्धान्त बरतता था और इस प्रकार लगान की जो दर तय हो जाती थी उसे सख्ती के साथ वसूल करता था। उसकी माल-व्यवस्था की यही प्रमुख विशेषता थी।

शेरशाह का बिहार और बंगाल पर प्रभुत्व

इस तरह साधारण बातों से शुरू करके शेरशाह शीघ्रता के साथ उच्चतम सत्ता के पद तक पहुँच गया। उसने बाबर के राज्य में नौकरी कर ली। बाबर ने उसे बक्सर के निकट परगनों का भार सौंप दिया (१५२८)। उसने मुगलों की सैनिक और नागरिक शासन-व्यवस्था के गुण-दोषों को पहचान लिया था। बाबर के शासन काल के समाप्त होने तक शेरशाह ने, बंगाल और बिहार के सतत झगड़ों से लाभ उठाकर, समूचे बिहार पर अधिकार कर लिया। अपने रण-कौशल से उसने अलाहाबाद से मुंगेर की तीन सौ मील की दूरी में स्थित एक मात्र-मजबूत और सुरक्षित चुनार के किले पर अधिकार कर लिया। इस किले पर अधिकार करने के बाद आस-पास के इलाकों पर कब्जा करना और भी सहज हो गया। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, हुमायूँ ने चुनार को घेर लिया और शेरशाह समय देखकर अभी नीचे झुक जाना उपयुक्त समझा। बाद में शेरशाह ने एक चाल चलकर रोहतास के किले पर अधिकार कर लिया। अफगान की इस चाल ने ही हुमायूँ को गुजरात से हटने के लिए प्रेरित किया था। लेकिन शेरशाह जानता था कि मुगल सम्राट स्वभावतः आलसी और निष्क्रिय है। उसने अपनी स्थिति को मजबूत कर बंगाल की कुञ्जी—राजमहल के दर्रे—

पर अधिकार कर लिया मुगल आए और उन्होंने गौड़ तक पर कब्जा कर लिया, किन्तु बरसात शुरू हो गई थी और हुमायूँ के लिए सैनिक कार्यवाही करना असम्भव हो गया। इसके प्रतिकूल शेरशाह अपनी शक्तियों को संघटित करने में लगा हुआ था। चौसा में उसने मुगल सेनाओं को पराजित कर दिया। इस विजय के बाद बंगाल और जौनपुर पर अपने अधिकार को उसने और मजबूत बना लिया और अपने को मुकुटधारी शाह घोषित कर दिया।*

हुमायूँ ने कई मास दुविधा में ही बिता दिये और कोई निश्चय नहीं कर सका। इधर शेरशाह ऊपरी गंगा के इलाके में युद्ध की तैयारी कर रहा था। कन्नौज का युद्ध हुआ और उसमें शेरशाह ने हुमायूँ को पराजित कर दिया। इस विजय के बाद शेरशाह का, द्रुतगति से, आगरा, दिल्ली और लाहौर पर भी अधिकार हो गया—और उसने नये शाही वंश—सूर अफगान वंश—की स्थापना की घोषणा कर दी।

शेरशाह की अन्य सफलताएँ

शेरशाह को अभी बहुत कुछ करना बाकी था। झेलम और इन्दस के उपर के भाग में बसने वाले गक्कर जाति के लोगों को अपने अंकुश में किया और उन मुगलों को बहिष्कृत करने का प्रयत्न किया जिन्होंने काश्मीर में अपना आधिपत्य जमा लिया था। ग्वालियर के किले को उसने अपने वश में किया और इसके बाद मालवा पर चढ़ाई कर उसे भी अपने आगे झुका लिया। लेकिन अभी राजपूतों ने, सरहद्दी प्रदेश को छोड़ कर, उसके प्रभुत्व को स्वीकार नहीं किया था। पूरनमल पर चढ़ाई करके उसने रायसिन के किले को अपने कब्जे में कर लिया और १५४४ में मारवाड़ के विरुद्ध—जहाँ आज की जोधपुर रियासत स्थित है—चढ़ाई कर दी। यहाँ के राठौड़ राजा मालदेव का समर्पण और अजमेर तथा आबू पहाड़ पर कब्जा करने के बाद उसने चित्तौड़ पर—जो अब राजपूताना का गौरव नहीं रहा था—चढ़ाई कर दी। चित्तौड़

* देखिए के० आर० कानूनगो लिखित शेरशाह (१९२१) पृष्ठ २०४।

से वह कालंजर के सुदृढ़ किले की ओर बढ़ा। इस किले पर चढ़ाई करते समय संयोग वश एक गोले के फट जाने से उसकी मृत्यु हो गई (मई, १५४५)।

शेरशाह की शासन प्रणाली

शेरशाह ने हुकूमत तो की, लेकिन केवल पाँच वर्ष तक (१५४०-१५४५)। इस छोटे से अर्से में उसने कितने ही कार्य सम्पन्न किए। परगनों को इकाई मान कर उसने शासन-प्रणाली का एक ऐसा ढांचा तैयार किया जिसकी नींव मजबूत थी। प्रत्येक परगने का शासन एक शिकदार (मजिस्ट्रेट), एक अमीन, एक खजान्ची और दो कारकुनों पर निर्भर करता था। कई परगनों से मिल कर एक सरकार या जिला बनता था जिस पर दो हाकिम रखे जाते थे—एक सैनिक जो प्रमुख शिकदार कहलाता था और दूसरा दीवानी जो प्रमुख मुन्सिफ कहलाता था। परगना और सरकार के सभी पदाधिकारियों की हर दूसरे या तीसरे वर्ष बदली होती थी।

शेरशाह ने बड़े सूबे और उतने ही बड़े सूबेदारों की प्रथा को—केवल पंजाब और दक्षिणी मालवा जैसे सरहदी सूबों को छोड़ कर—कायम नहीं रखा। उसकी शासन-प्रणाली का प्रमुख केन्द्र शाह की सर्वोच्च सत्ता थी। वजीरों की स्थिति कारकुनों में सेक्रेटरियों के समान थी जिनका कार्य शाह के फरमानों पर अमल करना होता था। शाह खुद सब काम देखता था, खुद सभी फरमान जारी करता था, साथ ही खजाने के हिसाब किताब पर भी बराबर नजर रखता था। कहा जाता है कि वह हर पदाधिकारी और वजीर के कामों की रिपोर्ट सुनता था और उन पर अपने आदेशों के साथ हस्ताक्षर करता था। शेरशाह ने इस प्रकार शासन की मशीनरी को ठीक कर चालू कर दिया। यह मशीनरी, नौकर शाही यंत्रवत सफाई के साथ अपना काम करने लगी। शेरशाह की इस मशीनरी से बाद में आने वाले मुगलों ने काफी लाभ उठाया।

सैनिक व्यवस्था में सुधार

सैनिकक्षेत्र में शेरशाह ने सामन्तों की शक्ति और प्रभाव को

कम करने का सिद्धान्त अपनाया। इन सामन्तों का अपने असामियों और आश्रितों पर जितना अधिक प्रभाव होता था, उतना ही अधिक उनके विद्रोह करने की सम्भावना रहती थी। शेरशाह ने इसकी भी कोशिश की कि सैनिकों में अपने कप्तानों के प्रति जिनके नीचे वे काम करते हैं, व्यक्तिगत भक्ति का भाव न पैदा हो। उसने सैनिकों की वर्णनात्मक हाजिरी की प्रथा को जारी कर दिया. सेना के घोड़ों को दागने का आदेश दे दिया जैसा कि अलाउद्दीन खिलजी ने किया था और सभी रंगरूटों का स्वयं निरीक्षण करने लगा। साम्राज्य के विभिन्न सैनिक महत्व के स्थानों में उसने सेना के कुछ भागों को नियुक्त कर दिया। प्रत्येक सैनिक विभाजन 'फौज' कहलाता था और उसका नेतृत्व एक विशुद्ध सैनिक पदाधिकारी के जिम्मे होता था जो फौजदार कहलाता था। घोड़सवार सेना का महत्वपूर्ण अंग थे. किन्तु पैदल सैनिक कमान और मस्केट (बन्दूक) से सुसज्जित होते थे। बारूद और तोपखाना पर विशेष ध्यान दिया जाता था। हिन्दू महत्वपूर्ण सैनिक पदों पर नियुक्त किए जाते थे। इस प्रकार की नियुक्तियाँ शेरशाह की राष्ट्र-निर्माण-योजना का अंग थीं।

शेरशाह के भूमि सम्बंधी सुधार

शेरशाह के भूमि सम्बंधी सुधारों को सभी ने महत्वपूर्ण माना है। उसके भूमि-सुधारों का प्रारम्भिक रूप हम उन सुधारों में देख सकते हैं जो उसने बिहार में अपनी पैतृक जागीर में लागू किए थे। माप के एक मान को स्वीकार कर उसने समूची धरती की नाप कराई। इसके साथ-साथ हर रैयत की धरती को अलग से माप की गई और उसे चिन्हित कर दिया गया। कुल पैदावार का चौथा भाग सरकार को देना उसने नियत कर दिया। यह किसान पर निर्भर करता था कि वह अपनी सुविधा के अनुसार लगान नकद या पैदावार चाहे जिस रूप में दे सकता था। वैसे शेरशाह नकद ही पसन्द करता था। लगान सम्बंधी सारी जिम्मेदारी परगना के अमीन पर होती थी। वह हर रैयत के नाम 'पट्टा' लिखकर देता था जिस पर उसकी मिल्कियत और सरकार को उसके देय का

विवरण लिखा रहता था। रैयत को अपनी ओर से, पट्टा के जवाब में, "कबूलियत" लिख कर देनी होती थी कि उसे पट्टा की शर्तें स्वीकार हैं। काश्तकारों को उसके लिए प्रोत्साहित किया जाता था कि वे अपने सभी कर परगना के हाकिमों को ही दे दें। कितने ही छोटे-मोटे दस्तूरी कर रद्द कर दिए गए। शेरशाह ने अपने हाकिमों को हुक्म दिया था—"लगान नियत करते समय नर्मी बरतो, उगाहते समय सख्ती से पेश आओ।"

लगान की मात्रा हर वर्ष तय की जाती थी और उसकी अदायगी बाकी नहीं छोड़ी जाती थी। सलतनत के सभी भागों में, जहाँ भी सम्भव हो सका, यही तरीका काम में लाया गया। इस तरीके की प्रमुख बातों को राजा टोडरमल ने भी अपनाया जो कि अकबर का वजीर था और शाही खिदमत में शेरशाह के शासन-काल में ही दाखिल हो गया था। कुछ अंशों में शेरशाह के भूमि-संबंधी व्यवस्था की प्रणाली अंग्रेजों के शासन-काल में भी बनी रही। अगर सभी जगह इस प्रणाली को पूरी तरह लागू किया गया होता तो सरकार और काश्तकारों के बीच जमींदारों तथा दूसरे बिचौलिया लोगों का अस्तित्व खत्म हो गया होता।

शेरशाह के अन्य सुधार-कार्य

शेरशाह ने प्रचलित मुद्राओं में बहुत कुछ सुधार किया और खोटे तथा मिश्रित सिक्कों का चलन रोक दिया। उसका चाँदी का रुपया लगभग उतने ही मूल्य का था जितने मूल्य का आज का रुपया है। अरबी के सिवा नागरी लिपि में भी रुपये पर उसका नाम अंकित रहता था। उसकी चलाई हुई मुद्रा-प्रणाली समूचे मुगल-काल में भी चलती रही और अंग्रेजों ने भी उसी को अपना आधार बनाया। शेरशाह ने व्यापार का भी नियमन किया, भीतरी चुंगी-प्रथा का अन्त कर दिया। चुंगी अब केवल सरहदी स्थानों और बिक्री के स्थलों पर लगती थी। बिना किसी कर के बंगाल में बाहर से माल आने दिया जाता था, कर केवल उत्तर और पूर्व के दर्रों पर वसूल किया जाता था। बंगाल से उत्तर-पश्चिमी सरहद तक उसने एक बड़ी ट्रंक रोड का निर्माण किया

था। बुरहानपुर से आगरा और लाहौर से मुलतान तक जाने वाली अन्य सड़कें भी बनवाई थीं। सड़कों के दोनों ओर पेड़ लगवाए थे, यात्रियों की सुविधा के लिए बीच-बीच सराय बनवा दी थी। फारस की डाक की प्रणाली का उसने यहाँ भी प्रवेश कराया। इस प्रणाली के अनुसार डाक घाड़सवार ले जाते थे। हिंस्र अपराधों का वह सख्ती से दमन करता था और उसका न्याय सब के लिए एक सा, भेद-भाव-रहित, होता था। एक उत्साही अफगान इतिवृत्त-लेखक अब्बास खाँ ने शेरशाह के शासन-काल में देश की स्थिति का इस प्रकार वर्णन किया है—"शेरशाह के शासन-काल में एक मरियल बुढ़िया भी सोने के गहनों की टोकरी में रख कर यात्रा कर सकती थी। शेरशाह के दंड के डर से कोई चोर या डाकू उसके पास तक फटकने का साहस नहीं कर सकता था। शेरशाह का कुछ ऐसा प्रभाव छाया था कि एक पंगु व्यक्ति भी बिना किसी भय के 'रुस्तम' आदमी का सामना कर सकता था। उसके शासन-काल में सभी प्रकार के झगड़े, विवाद, मार-काट और उत्पात जो अफगानों के स्वभाव का अंग बन गए थे, शान्त हो गए थे,—या उन्हें राह और हिन्दुस्तान के समूचे प्रदेश में शान्त कर दिया गया था।"*

शेरशाह की महानता

गाँव और परगना के अधिकारियों को शेरशाह ने शान्ति रखने और चोर-डाकुओं का अन्त करने के लिए जिम्मेदार बना दिया था। हर जिले में उसने गढ़ों का निर्माण किया था जहाँ लोग संकट-काल में शरण ले सकते थे। एक महान शासक के रूप में उसकी तुलना रूस के पीटर महान या प्रशिया के फ्रैडरिक महान, बल्कि जुलियस सीजर और नेपोलियन तक से की जाती है। अनावश्यक रक्तपात के वह विरुद्ध था। उसने अपने युद्धों में इन

---

* देखिए इलियट, खण्ड ४, पृष्ठ ४३२-३३, कानूनगो लिखित 'शेरशाह' (१९२१) परिच्छेद १२ भी देखिए। अब्बास खाँ का वर्णन काफी पक्षपात पूर्ण मालूम होता है। शेरशाह की उसने बहुत प्रशंसा और हिमायत की है।

दोनों पर यथा सम्भव कड़ा अंकुश रखा था। उसका शासन इसलाम के उदार रूप का नमूना था। यह उदार रूप प्रतिक्रियावादी और निरंकुश औरंगजेब के आगमन तक चलता रहा। धर्म के कारण वह हिन्दुओं का दमन नहीं करता था। जजिया कर को यद्यपि उसने रद्द नहीं किया था, फिर भी हिन्दू धर्म और हिन्दुओं के प्रति उसका व्यवहार उदार था। उसका उद्देश्य सिक्युलर राज्य की रचना करना था अपने राज्य के निर्माण के लिए उसने सभी का सहयोग पाने की कोशिश की। जातीय भेद-भाव को उसने अपने से दूर रखा और राज्य की खिद्मत के लिए पहले की शासक जातियों—खिलजी और तुर्क आदि—लोगों को भी भर्ती किया। अपने साथी अफगानों में उदार-भाव भरने की वह कोशिश करता था। कहा जाता है कि उसने अपने महान उत्तराधिकारी अकबर के मार्ग का निर्देश कर दिया था। कहा जाता है कि अकबर से पहले के शाहों में वैधानिकता की और अपनी प्रजा की रक्षा की भावना की दृष्टि से वह सब से आगे था।*

शेरशाह के उत्तराधिकारी

शेरशाह के प्रायः सभी उत्तराधिकारी कमजोर और उसकी थाती को संभालने में सर्वथा अयोग्य सिद्ध हुए। उसके बाद उसका दूसरा पुत्र सिंहासन पर बैठा। उसने इसलाम शाह की पदवी धारण

* देखिए एल्फिंस्टन, पृष्ठ ४५७-८; अरस्कीन लिखित हिस्ट्री आफ इण्डिया अंडर बाबर एण्ड हुमायूं, खण्ड २ (१८५४), पृष्ठ ४४१-४; कानूनगो को भी देखिए, पृष्ठ ४०६। कानूनगो ने लिखा है—"सम्यक रूप से देखने और यथार्थ उपलब्धियों की तुलना करने पर इतिहास में अकबर का स्थान शेरशाह से बड़ा है। लेकिन रचनात्मक नीतिज्ञता, काम को करने और कराने की क्षमता, शासन-व्यवस्था के सभी बारीकियों की जानकारी, अथवा अध्यवसाय और जिस काम को हाथ में लेना उसे अच्छी तरह करने का धैर्य, न्याय प्रियता, चरित्र की स्वच्छता, अनुशासन और रणनीति की दृष्टि से देखा जाए तो शेरशाह अकबर से बड़ा मालूम होता है।

की। उसमें अपने पिता के समान शक्ति और उत्साह तो था, मगर योग्यता नहीं थी। अपने पिता की हिन्दुओं के प्रति उदार नीति को तो उसने जारी रखा, पर उसके शासन-काल में इसलाम की विशुद्धता के आन्दोलन ने प्रश्रय प्राप्त किया। इसलाम को भ्रष्टाचार तथा राज्य की गुलामी के प्रभाव से पवित्र करने का वह दावा करता था। सैनिक संघटन में भी उसने सुधार किए और उन्नत नीति का पालन किया। वह पक्का मुसलमान था और विद्वानों का आदर करता था तथा उनके साथ उदारता से पेश आता था। *

सूर-वंश का अन्त

इसलाम शाह के बाद, १५५३ में, अराजकवादी तत्वों ने सिर उभारा और आदिल शाह ने, जो कि इसलाम शाह का बहनोई था, सिंहासन पर अपना अधिकार जमा लिया। हुमायूं जब फारस से वापिस लौटा तो उसकी सिरहिन्द में काफी जोरदार सेना से मुठ भेड़ हुई। इस सेना का नायकत्व शेरशाह का एक भतीजा सिकन्दर सूर कर रहा था। वह अपने को दिल्ली के सिंहासन का दावेदार भी कहता था (नवम्बर, १५५४)। सूर वंश के अन्तिम दिनों में राजनीतिक सत्ता हेमू नामक एक हिन्दू के हाथ में चली गई थी। हेमू के बारे में विस्तार के साथ आगे चल कर प्रकाश डालेंगे।

—:o:—

* उसके शासन-काल और अन्तिम दिनों के विवरण के लिए नीरोद-भूषण राय लिखित "दि सक्सेसर्स आफ शेरशाह, १९३४ परिच्छेद ६-१० देखिए। सूर वंश के अन्तिम दिनों में हेमू और उसके दूसरे हिन्दू सहायकों का उत्थान हुआ जो कि आने वाले काल में राजा मानसिंह और टोडरमल के अभ्युदय की पूर्व-सूचना थी।

दूसरा परिच्छेद

अकबर का शासन-काल

(अ) साम्राज्य का संघटन

हुमायूं की मृत्यु के समय उसका ज्येष्ठ पुत्र अकबर अपने संरक्षक और स्वर्गस्थ सम्राट के विश्वास पात्र अनुचर बैरमखां के साथ छावनी में था। बैरम खां ने कलानौर के पास एक उद्यान में, १४ फरवरी सन् १५५६ को अकबर का राज्याभिषेक कर दिया जिससे सबको पता चल जाए कि हिन्दुस्तान का सही सम्राट अकबर है। किन्तु यथार्थ रूप में सम्राट बनने के लिए अभी बहुत कुछ करना बाकी था। सूरवंश के अभी दो-तीन सदस्य ऐसे शेष थे जो अपने को दिल्ली के सिंहासन का दावेदार घोषित करते थे। हेमू नामक एक हिन्दू भी आगे बढ़ आया था और अपने को सम्राट घोषित करता था। उसने दिल्ली और आगरा पर भी आधिपत्य कर रखा था। राजस्थान के राजपूतों ने भी कुछ अंशों में अपनी पहले वाली शक्ति को फिर से प्राप्त कर लिया था। मालवा और गुजरात स्वतंत्र हो गए थे। गोन्दवाना,—मध्यप्रान्त का एक भाग उन दिनों गोन्दवाना कहलाता था—किसी के प्रभुत्व को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था; इसी प्रकार उड़ीसा भी अपना स्वामी आप बना हुआ था। दकन की सलतनतें अपने युद्धों और राजनीतिक षड्यंत्रों में इतनी फँसी थी कि दिल्ली के बादशाह के बारे में कुछ सोचने का उनके पास अवकाश नहीं था। सुदूर दक्षिण में विजयनगर का साम्राज्य था,—दिल्ली से दूर होने के कारण जो अब सुरक्षित था और हिन्दुस्तान की राजनीतिक उथल-पुथल से जरा भी चिन्तित नहीं था। पुर्तगीजों ने अपनी नाविक सत्ता का प्रभुत्व जमा लिया था, पश्चिमी तट का व्यापार उनके हाथ में था और

उनकी राजनीतिक स्थिति मजबूत हो गई थी। तेरह वर्ष की आयु में जब अकबर सिंहासन पर बैठा तब हिन्दुस्तान की यही स्थिति थी।

हेमू का व्यक्तित्व

अकबर का, बल्कि कहना चाहिए कि बैरम खाँ का, पहला काम हेमू नामक एक तेज बुद्धि और साहस से सम्पन्न हिन्दू के विरुद्ध कार्यवाही करना था। हेमू मेवात में स्थित रिवाड़ी का रहने वाला था। बनिये के कुल में उसने जन्म लिया था। अहमद-शाह आदिल या अदाली जैसा कि संक्षेप में उसे कहा जाता था—के यहाँ वह नौकर था। अहमद शाह आदिल इसलाम शाह का उत्तराधिकारी था। बनिया होने पर भी हेमू उसके लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ। अपने स्वामी के लिए उसने अनेक मोर्चे सर किए। सिंध के रेगिस्तान में भटकने के बाद जब हुमायूं हिन्दुस्तान लौटा तो आदिल शाह ने हेमू को उसका सामना करने के लिए भेजा, यद्यपि बाबर के पुत्र हुमायूं का वह कुछ बिगाड़ न सका, इसके बाद आदिल शाह ने हेमू को अकबर को सिंहासन पर न बैठने देने के काम में नियुक्त किया। एक बहुत बड़ी सेना के साथ ग्वालियर और आगरा होता हुआ हेमू आगे बढ़ा और दिल्ली के निकट मुगल सेनाओं को, जिनका नायक शक्तिशाली तुर्कमान तर्दी बेग कर रहा था, पराजित कर दिया। इस प्रकार दिल्ली और आगरा हेमू के हाथ में आ गए और अदाली, उसका स्वामी, बहुत दूर था। कहा जाता है कि हेमू ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण कर ली थी और अपना नाम मुद्राओं पर भी अंकित करा दिया था। लेकिन सम्भवतः हेमू ने ऐसा नहीं किया। वह अफगानों को अपना मित्र बनाए रखने में सतर्क था क्योंकि वे ही उसका मुख्य आधार थे। अकबर के इतिहास लेखक अबुल फजल ने हेमू के अनेक गुणों की प्रशंसा करते हुए लिखा है—"यह उसकी दूरदर्शिता थी जो उसने प्रतीक रूप में आदिल के स्वामित्व को बनाए रख कर अपने विरोधियों से साहस पूर्ण लड़ाइयाँ लड़ीं।"

दूसरा परिच्छेद

पानीपत का युद्ध

बैरम खाँ ने स्थिति की गम्भीरता को समझ लिया। सैनिक अधिकारियों के इस परामर्श का कि इन्दस के पश्चिम की ओर पीछे हट जाए, उसने कड़ाई के साथ विरोध किया। सबसे पहले उसका गुस्सा सेनापति तर्दी बेग के विरुद्ध उभड़ा जो मोर्चे को छोड़ कर भाग आया था। शाही स्वीकृति की प्रतीक्षा किए बिना ही बैरम खाँ ने उसे मौत के घाट उतरवा दिया। इसके बाद, बिना किसी विलम्ब के, जो भी सेना जमा हो सकी उसे साथ लेकर पहले थानेश्वर और फिर वहाँ से पानीपत की ओर आगे बढ़ा। संख्या की दृष्टि से हेमू की फौज बड़ी थी। पानीपत के, निकट जो युद्ध हुआ उसमें एक तीर हेमू की आँख में आकर लगा और वह बेहोश हो गया। जैसा कि पानीपत के पहले युद्ध में हुआ था, इस बार भी मुगल सेना की जीत हुई। इस जीत का कारण उनकी गतिशील घोड़सवार सेना, लपेट कर मारने वाली रण-नीति और सही निशाना मारने वाले उनके तीरन्दाज थे। हेमू ने पुरानी हिन्दू युद्ध-प्रणाली का अनुसरण किया था। उसे हाथियों पर भरोसा था और घोड़सवारों का उसकी सेना में गौण स्थान था।*

हेमू को बंदी बनाकर अकबर के सम्मुख पेश किया गया। अकबर के फरमाबरदार रक्षक बैरम खाँ ने अनुरोध किया कि स्वयं शाह अपने हाथ से उसका सिर काट कर गाजी की उपाधि धारण करें। अकबर ने, असंदिग्ध रूप से, ऐसा ही किया।† हेमू का सिर काट कर प्रदर्शन के लिए काबुल भेज दिया गया और उसका धड़ दिल्ली के एक प्रवेश द्वार पर लटका दिया गया। इस प्रकार मुगल साम्राज्य हिन्दुस्तान में फिर से प्रतिष्ठित हो गया और

* इस युद्ध के विवरण और हेमू के व्यक्तित्व के लिए देखिए एन० बी० राय लिखित "सक्सेसर्स आफ शेरशाह" १९३४ संस्करण, नवाँ परिच्छेद।

† देखिए विन्सेण्ट स्मिथ लिखित "अकबर, दि ग्रेट मुगल", पृष्ठ ३६। स्मिथ का आधार अहमद यादगार और एक डच लेखक वान डन ब्रो के लिखे हुए तत्कालीन विवरण हैं।

इसका श्रेय, बहुत कुछ, बैरम खाँ की तत्परता के साथ तुरंत कार्य करने की शक्ति और क्षमता को था (नवम्बर, १५५६)।

अकबर की अन्य सफलताएँ

पानीपत के युद्ध के बाद अकबर ने दिल्ली और आगरा पर अधिकार कर लिया। इसके बाद वह लाहौर की ओर आगे बढ़ा और सिकन्दर सूर का पीछा किया। सिकन्दर सूर ने मान कोट में (जो आज काश्मीर राज्य के अन्तर्गत जम्मू के इलाके में स्थित है) आत्म समर्पण कर दिया। १५५८-१५६० के बीच अकबर ने पश्चिमी हिन्दुस्तान का काफी बड़ा भाग जिसमें ग्वालियर, अजमेर और जौनपुर का सूबा शामिल था, जीत लिया।

बैरम खाँ पदच्युत

१५६० में अकबर अठारह वर्ष का हुआ। बालिग होते ही उसने सबसे पहला काम अपने फरमाबरदार रक्षक बैरम खाँ को बरखास्त करने का किया। बैरम खाँ ने सामान्य रूप से साम्राज्य की और विशेष रूप से अकबर की अनेक सेवाएँ की थीं। वह अकबर का प्रमुख वजीर और संरक्षक था। रणनीति में उसी ने अकबर को दीक्षित किया था। सम्भवतः बैरम खाँ का कट्टरपन और हिन्दुओं पर कुरान के अनुसार सख्ती के साथ शासन करने की भावना अकबर को पसन्द नहीं थी। अपने शासन के प्रारम्भ में ही अकबर ने धार्मिक उदारता की नीति के महत्व और आवश्यकता को समझ लिया था। उसके संरक्षक के मनमाने और निरंकुश कृत्यों ने कितने ही लोगों को उसका विरोधी बना दिया था जिनमें अकबर की प्रभाव पूर्ण उपमाता माहम अनागाह भी थी। यह निश्चित है कि बैरम खाँ को निकालने में हरम का हाथ था। नौकरी से अलग करने के साथ बैरम खाँ को आदेश दिया गया कि वह मक्का चला जाए। उसने इसे मान लिया, किन्तु एक अधिकारी के उद्धतपन से क्रुद्ध होकर उसने अपने कदम वापिस फेर लिए और पंजाब में आकर विद्रोह कर दिया। इस में उसे पराजित होकर शिवालिक पहाड़ियों में शरण के लिए भाग

जाना पड़ा। लेकिन अकबर ने उसे क्षमा प्रदान कर दिया। इसके बाद गुजरात के रास्ते वह मक्का के लिए रवाना हुआ, किन्तु मार्ग में ही व्यक्तिगत शत्रुता के कारण किसी ने उसकी हत्या कर दी।

उजबेगों के विद्रोह का दमन

१५६० से १५६७ तक अकबर अपने ही अनुयायियों के विद्रोही कृत्यों के दमन में लगा रहा। इन विद्रोहियों के नेता अधिकांशतः मुगल अमीर थे। उनका उद्देश्य अकबर को नाम मात्र का सम्राट बना कर यथार्थ सत्ता अपने हाथ में रखना था। वे चाहते थे कि अपनी जागीरों में पूरी सामन्ती सत्ता का उपयोग करें और उनके हाथ रोकने वाला कोई न हो। केन्द्रीकरण का पक्षपाती अकबर इस तरह की भावनाओं का सख्त विरोधी था। इन सभी विद्रोही तत्वों का विस्तार के साथ वर्णन करना कठिन होगा। इनमें प्रमुख उजबेग अली और कुली खाँ था जो खान जमन के नाम से प्रसिद्ध है। कुली खाँ को जौनपुर पर आक्रमण करने वाले अफगानों के विरुद्ध भेजा गया था। उसने उन्हें तो रोक दिया, लेकिन साथ ही खुद मालिक बनने की कोशिश करने लगा। अन्त में कुली खाँ या खान जमन को दण्ड का भागी होना पड़ा—हाथी के पाँव तले रौंद कर उसे मार डाला गया।

इसी प्रकार मालवा के भूतपूर्व अफगान शासक के पुत्र ने विद्रोह कर दिया था। उसका दमन करने के लिए अकबर ने अपनी उप-माता के पुत्र आदम खाँ को भेजा। उसने भी खान जमन की तरह विश्वास घात किया। अकबर ने तेजी के साथ उसके भी होश ठीक कर दिए। अकबर इसके सख्त खिलाफ था और नहीं चाहता था कि उसके अमीर अपना पलड़ा भारी रखें। एक बार उसे अपने छोटे भाई मिर्जा मुहम्मद हाकिम के मूर्खता पूर्ण प्रयत्न का भी दमन करना पड़ा। विद्रोही अमीरों के बहकाने में आकर वह खुद अपने को हिन्दुस्तान के तख्त का दावेदार घोषित करने लगा था और काबुल से लाहौर तक बढ़ आया था। लेकिन बाद में कुछ समझ आ गई और वह अफगानिस्तान लौट गया।

(१५६६)। मध्य प्रान्त के उत्तरी भाग गोन्दवाना के विरुद्ध भी अकबर को सैनिक कार्यवाही करनी पड़ी। रानी दुर्गावती, अपने पुत्र के रीजेण्ट के रूप में, उन दिनों गोन्दवाना का शासन कर रही थी। उसने साहस और बहादुरी के साथ मुगल सेना का सामना किया और अपनी सेना के सबसे आगे रह कर लड़ते हुए अपनी जान दी। राजधानी को मुगल सैनिकों ने लूट लिया और युवक राजा ने भी लड़ते हुए अपनी जान दे दी। राज घराने की स्त्रियों ने जौहर की प्रथा की शरण लेकर मृत्यु को गले लगाया।

१५६७ से साम्राज्य का विस्तार

अकबर को सिंहासन पर बैठे हुए अब बारह वर्ष हो गए थे। इन वर्षों का प्रथमार्द्ध तो बैरम खाँ के संरक्षण में बीता और उत्तरार्द्ध पर हरम का आपसी झगड़ों और भीतरी विद्रोहों का प्रभुत्व रहा। इन सबसे निबट कर १५६७ से अकबर ने साम्राज्य के विस्तार की ओर ध्यान दिया। साम्राज्य विस्तार के लिए उसने अनेक बार हथियार उठाए, किन्तु इसके पीछे उसने अपनी शासन-व्यवस्था की उपेक्षा नहीं होने दी। दो युद्धों के बीच जो अवकाश अकबर को मिलता था, उसमें महत्वपूर्ण सुधारों की वह योजनाएँ बनाता था, इन योजनाओं को कार्य रूप में परिणत करता था। इन सुधारों के बारे में विस्तार के साथ हम आगे चल कर बताएँगे।

अकबर और राजपूत

अकबर का सब से बड़ा और पहला सैनिक कार्य मेवाड़ के राणा के विरुद्ध चढ़ाई करना था। इस युद्ध का कारण राणा की स्वतंत्रता की भावना थी। राणा को इस बात का गर्व था कि उसने अपने घराने की चिड़िया तक मुगल हरम में नहीं प्रवेश करने दिया। इसके सिवा उत्तरी भारत के दो मजबूत गढ़ चित्तौड़ और रणथम्भौर का मान मर्दन किए बिना अकबर की स्थिति सुरक्षित नहीं हो सकती थी। टाड के अनुसार चित्तौड़ को सर करने का अकबर पहले भी एक बार असफल प्रयत्न कर चुका था।

चित्तौड़ का पतन अक्टूबर १५६७ फरवरी १५६८

अकबर के काल में चित्तौड़ अत्यधिक मजबूत किला था। समतल भूमि के बीच एक पहाड़ी पर यह स्थित था। इसके आधार का वृत्त पन्द्रह मील था। पूर्वी और उत्तरी दिशा में इसकी सुरक्षा का सावधानी के साथ पूरा प्रबंध किया गया था। अन्य दिशाओं में भी यह इतना मजबूत था कि गोलाबारी आदि का इस पर कोई असर नहीं हो सकता था। इसके ऊपरी भाग में, कई-कई मंजिल के, घर बने हुए थे। सुरक्षा का भरपूर प्रबंध था और किले में गोला-बारूद भारी मात्रा में रखा रहता था। * अकबर जानता था कि किले को सर करने के लिए दीर्घ कालीन घेरे की आवश्यकता पड़ेगी। काम करने वालों की एक सेना के साथ अकबर ने खाइयाँ खोदवाई, 'सबत' खड़े किए जिनके सहारे वह शत्रु के रक्षात्मक प्रयत्नों का निरीक्षण करने के साथ-साथ आक्रमणात्मक कार्यवाही भी कर सकता था। किले की रक्षा का भार जयमल को सौंप कर कायर राणा पहले ही किले को छोड़ कर दूसरी जगह चला गया था। लगभग चार महीने तक अकबर ने घेरा डाले रखा। अन्त में अपनी भारी गोलाबारी से अकबर अनेक स्थलों में दरार डालने में सफल हुआ और किले का बहादुर रक्षक जयमल मारा गया। उसकी मृत्यु के बाद रक्षा की उम्मीद छूट गई और सदा की तरह, स्त्रियों ने जौहर की शरण ली और जितने मर्द थे वे सब, तलवार हाथ में लिए, मौत से गले मिलने के लिए, शत्रु पर टूट पड़े और एक-एक करके मारे गए। युद्ध के बाद हाथी पर सवार होकर अकबर ने नगर में भ्रमण किया और वहाँ के निवासियों की आम हत्या का हुकम दे दिया। इस घटना से पता चलता है कि अपने मुगल पूर्वजों की तरह अकबर भी खूनी भावना से अछूत नहीं था।

---

* किले के वर्णन तथा उस पर कैसे विजय प्राप्त की गई इसके विवरण के लिए लेन पुल लिखित "मेडिवल इण्डिया फ्राम कन्टेम्परेरी सोर्सेज", पृष्ठ ६१-६४ देखिए; इलियट और डासन, खण्ड ५, पृष्ठ ३२८-३२६ और वी० ए० स्मिथ, अकबर दि ग्रेट मुगल, पृष्ठ ८६-६० भी देखिए।

राजपूताना का दमन

चित्तौड़ के पतन के बाद राजपूताना का अधिकांश अकबर के प्रभुत्व में आ गया। राजपूत राजाओं में से कितनों ने या तो ऊँचे पद स्वीकार कर लिए या अकबर अथवा उसके परिवार के दूसरे लोगों के साथ अपनी कन्याओं का विवाह कर अपने विद्रोही रूप को तिलांजलि दे दी। चित्तौड़ को अपने भाग्य पर छोड़ कर भाग जाने वाले कायर राणा उदयसिंह की, चार साल तक अरावली की पहाड़ियों में भगोड़े की जिन्दगी बिताने के बाद, मृत्यु हो गई। उसका पुत्र राणा प्रतापसिंह बहादुर था। उसने अकबर से लम्बा युद्ध किया और अपने पैतृक राज्य के अधिकांश पर उसने फिर से अधिकार कर लिया। किन्तु चित्तौड़ का वह पहले वाला गौरव फिर नहीं लौटा। चित्तौड़ के बहादुर रक्षक जयमल और पट्टा की स्मृति में अकबर ने दो प्रस्तर-मूर्तियाँ बनवाई थीं जिन्हें उसने आगरा के शाही महल में रखवाया।

अजमेर के किले को अकबर ने और अधिक मजबूत तथा सुरक्षित बनवा दिया। अजमेर राजपूताना में मुगलों का प्रधान केन्द्र बन गया। यहाँ के किले में शेख मुइन उद्दीन चिश्ती का मज़ार था जिसकी जियारत के लिए अकबर प्रति वर्ष जाता था। १५६९ में अकबर की प्रथम राजपूत पत्नी ने, जो अम्बर के राजा बीहड़ मल की कन्या थी, एक पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम सलीम रखा गया। यह नाम फतेहपुर सीकरी के एक सन्त शेख सलीम चिश्ती की प्रतिष्ठा में रखा गया था। अकबर का विश्वास था कि सन्त की दुआओं के फलस्वरूप ही उसे यह पुत्र-रत्न खुदा ने दिया है। १५७० में अकबर के दूसरे पुत्र मुराद का जन्म हुआ और १५७२ में तीसरे पुत्र का। सलीम के जन्म के समय से अकबर ने फतेहपुर सीकरी को ही अपना शाही निवास स्थान बना लिया। उसने वहाँ एक बहुत बड़ी झील बनवाई जिससे नगर को पर्याप्त पानी मिल जाता था। फतेहपुर सीकरी के महल और अन्य इमारतें आये दिन तक मौजूद हैं। १५८५ में खुद अकबर ने यहाँ रहना छोड़ दिया था और उसके बाद फिर किसी सम्राट ने इसे अपना

निवास-स्थान नहीं बनाया। १५६९ में रणथम्भौर पर अकबर का अधिकार हो गया और कालंजर ने अपने द्वार उसके लिए खोल दिए। अकबर अब चाहता था कि दोनों दिशाओं में समुद्र-पर्यंत उसके साम्राज्य का विस्तार हो जाए।

गुजरात के विरुद्ध युद्ध (१५७२-७३)

अकबर ने दूसरी चढ़ाई गुजरात के विरुद्ध की। हुमायूँ गुजरात का केवल आधा दमन कर सका था। बादशाह अकबर के काल में गुजरात दिल्ली के विरुद्ध विद्रोह का केन्द्र बन गया। अकबर से असन्तुष्ट और उसके द्वारा दण्डित तथा लांछित मिर्जा गुजरात पहुँच कर उत्पात मचाने लगे। एतमाद खाँ नामक एक अमीर के निमंत्रण पर अकबर गुजरात पहुँचा और कुछ महीनों के संघर्ष के बाद उसे अपने राज्य में निश्चित रूप से मिला लिया। मुजफ्फर शाह नामक एक विश्वसनीय अमीर को अकबर ने गुजरात का भार सौंप दिया। गुजरात पर आधिपत्य होने से अकबर की आय में भारी वृद्धि हो गई। सूरत, कम्बाद आदि समुद्री बन्दरगाहें और उनका व्यापार अब उसके नियंत्रण में था। पुर्तगीजों से भी उसका सम्पर्क हुआ जिसका भारत के इतिहास पर भारी असर पड़ा और नये दबावों ने अकबर के मस्तिष्क पर काम करना शुरू कर दिया। सूबे के अवशेष विद्रोही तत्वों का दमन करने के लिए अकबर को एक बार फिर सैनिक कार्यवाही की शरण लेनी पड़ी। भूतपूर्व शाही घराने का एक सदस्य सिंहासन का दावेदार बन कर वहाँ उठ खड़ा हुआ था जिसका दमन करने के लिए अकबर ने उपर्युक्त सैनिक कार्यवाही की।

बंगाल के अफगान (१५७४-७६)

इसी बीच बंगाल की स्थिति काफी बिगड़ती जा रही थी। अकबर को उसकी ओर भी ध्यान देना पड़ा। हिन्दुस्तान के अफगान अमीर बंगाल में जाकर जमा हो गए थे। उन्होंने सूबे के अन्तिम किरानी शासक दाऊद खाँ की स्थिति इतनी संकटमय बना दी थी कि उसे अकबर से सहायता के लिए प्रार्थना करनी पड़ी। अकबर ने विद्रोहियों का दमन कर सूबे में शान्ति स्थापित

कर दी। किन्तु दाऊद खाँ इतना मूर्ख था कि उसने समझा, बिना अकबर की सहायता के वह सूबे पर शासन करने की क्षमता और शक्ति रखता है। इस भ्रम में आकर उसने अकबर के विरुद्ध असमान्यता और स्वच्छन्दता के भाव दिखाने शुरू कर दिए। नतीजा यह हुआ कि मुगल सेनाओं ने, जाड़े की ऋतु होने पर भी जब-कि सभी सैनिक कार्रवाइयाँ बन्द कर दी जाती हैं, बंगाल पर चढ़ाई कर दी। दाऊद खाँ को दो बार पराजित होना पड़ा,—एक बार १५७५ में तुकारोई में, दूसरी बार जुलाई १५७६ में राजमहल में। दूसरी लड़ाई में दाऊद खाँ मारा गया और बंगाल साम्राज्य का एक नियमित सूबा बन गया।

राणा प्रतापसिंह

उस समय जब कि बंगाल का युद्ध चल रहा था, अकबर को राजपूताना पर एक बार फिर आक्रमण करने के लिए बाध्य होना पड़ा। इस आक्रमण का प्रमुख कारण राणा प्रतापसिंह का विद्रोही रवैया था जो किसी भी हालत में अकबर के प्रभुत्व को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं था। प्रतापसिंह कायर उदयसिंह का बहादुर पुत्र था। राजपूतों और मुगल शाही घराने के बीच विवाह करने की प्रणाली को वह घृणा की दृष्टि से देखता था। युद्ध का तुरत कारण प्रतापसिंह का अम्बर के राजा मानसिंह से मिलने से इन्कार करना था। मानसिंह अकबर के परखे हुए मित्रों में था। अकबर ने उसे अपना सेनापति बना दिया था। लेखकों का कहना है कि प्रतिशोध की भावना से प्रेरित इस युद्ध में अकबर ने राणा प्रताप के विरुद्ध उसके "समान धर्मियों और रक्त-सम्बंधियों" का प्रयोग किया,—जैसे मारवाड़, अम्बर, बीकानेर के राजाओं और उसके अपने भाई सागर जी को। *

राणा का अद्भुत साहस

राजा मानसिंह के नेतृत्व में शाही फौजों का उद्देश्य अरावली के दक्षिण में स्थित गोगुन्दा के किले पर अधिकार करना था।

* वी० ए० स्मिथ, अकबर दि ग्रेट मुगल, पृष्ठ १५१।

राणा ने तीन हजार घोड़सवारों के साथ हल्दी घाटी में शाही फौजों का मार्ग अवरुद्ध कर दिया। फलस्वरूप जून १५७६ में खमनौर नामक गाँव के निकट युद्ध हुआ। युद्ध के दौरान में राणा को घायल होकर, राजघराने की महिलाओं के, पहाड़ी कन्दराओं की शरण लेनी पड़ी। मुगल सैनिकों ने अब समूचे प्रदेश को रौंद डाला और सभी किलों पर अधिकार कर लिया। बाद में राणा प्रतापसिंह ने फिर सिर उठाया और समूचे मेवाड़ पर, चित्तौड़, अजमेर और मंडलगढ़ को छोड़ कर, फिर से अधिकार कर लिया। १५९७ में राणा की मृत्यु हो गई।

काबुल पर आक्रमण

१५८० के पहले तक उत्तरी भारत के सभी बड़े किलों पर अकबर का अधिकार हो गया था और साम्राज्य, दोनों दिशाओं में, समुद्र-पर्यन्त फैल गया था। दक्षिण में अकबर के साम्राज्य की सीमाएँ ताप्ती को छूती थीं। अगला वर्ष, १५८१, अकबर के जीवन-काल में संकट पूर्ण सिद्ध हुआ। अकबर की धार्मिक नीति ने, जिसका हम आगे चल कर वर्णन करेंगे कट्टर पंथी मुसलमानों को असन्तुष्ट कर दिया था और वे बंगाल तथा बिहार में अकबर के सौतेले भाई मुहम्मद हाकिम को—जो अकबर की ओर से काबुल का वाइसराय नियुक्त था—सिंहासन पर बैठाने के लिए विस्तृत षड्यंत्रों की रचना करने में लगे थे। इन मुल्लाओं के विद्रोह और षड्यंत्रों का दमन करने के लिए सम्राट को अपनी समूची प्रतिभा, चालाकी और योग्यता को लगा देना पड़ा। अकबर का खजाञ्ची शाह मन्सूर इन षड्यंत्रकारियों का नेतृत्व कर रहा था। षड्यंत्र सफल हो जाता, लेकिन अकबर का सौतेला भाई मुहम्मद हाकिम इतना निकम्मा और शराबी था कि कुछ बन न सका। मुहम्मद हाकिम को दण्डित करने के लिए अकबर ने काबुल पर चढ़ाई की। हाकिम भाग कर पहाड़ियों में छिप गया। अकबर ने अपनी बहन को सूबे का भार सौंप दिया और बहन ने, आगे चल कर, हाकिम को फिर काबुल में प्रवेश करने की अनुमति दे दी।

काश्मीर, सिंध, उड़ीसा और बलूचिस्तान पर आधिपत्य

अकबर के अन्य सैनिक आक्रमणों का संक्षेप में उल्लेख किया जा सकता है। १५८३ में उसने इलाहाबाद में, गंगा और यमना के संगम पर, एक किला बनवाया। यह किला अकबर की दूरदर्शिता का नमूना था। इस किले के रूप में अकबर के हाथ में एक बहुत ही सैनिक महत्व का स्थल आ गया। १५८६ में अकबर ने काश्मीर पर, यूसुफ शाह उन दिनों वहाँ का शासक था, आक्रमण कर उसे अपने साम्राज्य में मिला लिया। १५९१ में दक्षिणी सिंध अकबर के साम्राज्य का अंग बन गया। उड़ीसा पर अकबर ने १५९२ में विजय प्राप्त की। १५९४ में बलूचिस्तान की विजय ने कंधार पर फिर से अधिकार करने की जमीन तैयार कर दी।

अकबर और दक्षिण की स्थिति

उत्तरी भारत में अपनी स्थिति को मजबूत बनाने के बाद अकबर को अब दक्षिण की ओर दृष्टि डालने का अवकाश प्राप्त हुआ। दक्षिण में इस समय चार प्रमुख मुसलमानी सल्तनतें कायम थीं;—खानदेश, अहमद नगर, बीजापुर और गोलकुण्डा। इन में पहली, खानदेश की सल्तनत, सम्राट के साथ रस्साकशी का खेल खेलने में व्यस्त थी। सम्राट ने जब अपने राजदूत भेजे तो खानदेश ने अपनी भक्ति का प्रदर्शन किया। अन्य राज्यों ने, आपसी और भीतरी संघर्षों ने यद्यपि उन्हें बेदम बना दिया था, अकबर के प्रभुत्व को मानने से इन्कार कर दिया। उन्होंने सोचा कि दिल्ली इतनी दूर है कि अकबर उनका कुछ बिगाड़ नहीं सकेगा। लेकिन अकबर युद्ध के लिए तैयार था। सब से पहले उसने अहमद नगर का जो दिल्ली के साम्राज्य की सरहद से मिला हुआ था, फिर बीजापुर या गोलकुण्डा का दमन करने का निश्चय किया। शाहजादा मुराद जो उन दिनों गुजरात का सूबेदार था और खान खाना अब्दुल रहीम जो कि बैरम खाँ का पुत्र था, गुजरात पर अधिकार करने के लिए आगे बढ़े (१५९५)। किन्तु चान्दबीबी ने बड़ी बहादुरी के साथ अहमद नगर की रक्षा की। फरिश्ता

के शब्दों में—"चाँदबीबी सिर पर नकाब डाले रहती थी। उसने तोपों का मुँह शत्रु के विरुद्ध मोड़ दिया, और कुछ नहीं तो पत्थरों की मार से ही वह अपने शत्रु का सामना करती थी। इस प्रकार शत्रु के निरन्तर और बार-बार होने वाले आक्रमणों को उसने पीछे धकेलने में सफलता प्राप्त की। रात को अपने आदमियों के साथ वह डटी रही और नौ फुट की खाई को लकड़ी, पत्थर, मिट्टी और कंकणों से रात-रात में उसने पटवा दिया।" चाँदबीबी की इस बहादुरी से मुगल इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने सुलह का पैगाम भेजा। चाँदबीबी ने भी अकबर को कर देना स्वीकार कर लिया। लेकिन इसके बाद भी अहमदनगर शान्ति का उपभोग नहीं कर सका। चाँदबीबी की सत्ता और उसके अधिकार पर आपत्ति की जाने लगी। विद्रोहियों ने उसे सत्ताच्युत कर बरार पर फिर से अपना अधिकार करना चाहा। इस प्रकार फिर युद्ध उठ खड़ा। १५९७ में अकबर ने खानखाना अब्दुल रहीम को मोर्चा लेने के लिए भेजा। गोदावरी के तट पर स्थित सूपा में अहमदनगर की फौज हार गई और राजधानी पर मुगलों का कब्जा हो गया; लेकिन निजाम शाही, इसके बाद भी, कुछ काल तक किसी प्रकार और साँस लेती रही।

असीरगढ़ का घेरा

अकबर का अन्तिम आक्रमण खानदेश के प्रदेश पर हुआ। यहाँ के शासक राजा अली खाँ की उस समय मृत्यु हो गई जब कि अहमदनगर का युद्ध चल रहा था। अली खाँ की मृत्यु सम्राट की ओर से बहादुरी के साथ लड़ते हुए हुई थी। उसके बाद उसका पुत्र मीरन बहादुर शाह गद्दी पर बैठा। लेकिन दिल्ली के प्रभुत्व में बने रहना उसे रुचिकर नहीं था। परिणामतः अकबर ने नर्मदा को पार कर बुरहानपुर पर, जो खानदेश की राजधानी था* अधिकार कर लिया और असीरगढ़ पर, जो हिन्दुस्तान का सब से अधिक दुर्भेद्य दुर्ग माना जाता था, घेरा डाल दिया। ६ मास तक अकबर की सेनाएँ इस दुर्ग को घेरे पड़ी रहीं। किले के भीतर

* वी० ए० स्मिथ आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृष्ठ ३६३।

बहादुर रक्षकों की सहायता कुछ पुर्तगीज कर रहे थे। अन्त में घेरे से तंग आकर अकबर ने मीरन बहादुर को मिलने के लिए बुलाया। अकबर ने मीरन को सुरक्षा का आश्वासन तथा वचन दिया था। लेकिन जब मीरन पहुँचा तो अकबर ने उसे गिरफ्तार करा लिया। लेकिन तब भी किले के बहादुर रक्षकों ने हिम्मत नहीं छोड़ी। घूस और धोखाधड़ी के सहारे ही अकबर किले के द्वार खुलवा सका, युद्ध के द्वारा नहीं। खानदेश को अब साम्राज्य में मिला लिया गया। खानदेश, बरार और अहमदनगर के कुछ भाग को मिला कर एक अलग सूबा बना दिया गया और शाहजादा दानियाल को वहाँ का शासक नियुक्त कर दिया गया।

अकबर की विजयों की संक्षिप्त सूची

अकबर के शासन-काल की सैनिक उपलब्धियों और उनके प्रभाव का संक्षेप में हम उल्लेख करेंगे। १५५६ में जब वह सिंहासन पर बैठा था तब वह मध्य और दक्षिणी अफगानिस्तान का शासक था। अपर पंजाब, दिल्ली और आगरा के आस-पास के प्रदेशों पर भी उसका सैनिक आधिपत्य था। मृत्यु के समय वह निर्विवाद रूप में विंध्य के उत्तर में समूचे हिन्दुस्तान का, जिसमें काश्मीर भी सम्मिलित था, शासक था। बंगाल और बिहार में अफगानों की सत्ता खंडित हो चुकी थी। विंध्य के दक्षिणी उतार पर वह ऐसी स्थिति में था कि दक्षिणी भारत पर विजय प्राप्त कर सके। अपने विजित प्रदेशों को उसने अठारह सूबों में संघटित किया था—(१) काबुल, (२) लाहौर, (३) मुलतान, (४) दिल्ली, (५) आगरा, (६) अवध, (७) इलाहाबाद, (८) अजमेर, (९) गुजरात, (१०) मालवा, (११) बिहार, (१२) बंगाल, (१३) खानदेश, (१४) बरार, (१५) अहमदनगर, (१६) उड़ीसा, (१७) काश्मीर और (१८) सिंध। इनमें कुछ इतने छोटे थे कि उन्हें नाम का ही सूबा कहा जा सकता है।

(ब) अकबर के धार्मिक प्रयोग

युद्ध से प्रदेश तो जीते जा सकते हैं, लेकिन बिना अच्छी और सुचारु शासन-व्यवस्था के उन प्रदेशों पर अपना अधिकार कायम

नहीं रखा जा सकता। अकबर इस सत्य को भलीभाँति जानता और अनुभव करता था। अपने शासन-काल के प्रारम्भ में ही उसने यह देख लिया था कि उसे मुगल अभिजात वर्ग का सामन्त प्रभु बन कर ही नहीं रह जाना है, वरन् उसे सच्चे अर्थ में हिन्दुस्तान का बादशाह बनना है। उसकी हिन्दू प्रजा संख्या में उसके मुसलमान अनुयायियों से कहीं अधिक थी।

राजपूतों के प्रति अकबर की भावना

कोई भी शासन व्यवस्था, अकबर सोचता था, हिन्दुओं की सहानुभूति और राजनीतिक स्वेच्छा के बिना स्थायी नहीं रह सकती। हिन्दुओं में भी उसका ध्यान शौर्य और साहस के प्रतीक राजपूतों की ओर गया। यह बात सही है कि अकबर हिन्दुस्तान का स्वामी कभी नहीं बना रह सकता था अगर वह हिन्दुओं को—हिन्दुओं में भी विशेष रूप से साहसी और लड़ाकू राजपूतों को अपनी ओर करने में सफल न हो जाता। राजपूतों की सहायता और सहानुभूति से ही अकबर हिन्दू और मुसलमान दोनों पर समान रूप से शासन कर सका।* सर्वाधिक साहसी राजपूत वर्गों में से अनेक की कन्याओं से उसने विवाह सम्बंध स्थापित किया। ये विवाह-सम्बंध अकबर की देशी राजनीति की नींव थे। अपने चारों ओर के वातावरण से प्रभावित हो कर अकबर ने हिन्दुओं और सभी गैर-मुसलमानों पर लगे जजिया कर को रद्द कर दिया। हिन्दुओं तथा दूसरे राजपूतों को ऊँचे पदों पर नियुक्त किया। अकबर की इसी नीति का फल था कि राजपूत अभिजात वर्ग के सिरमौर राजा भगवान दास और राजा मानसिंह, राजा टोडरमल खत्री और राजा बीरबल साम्राज्य के उच्चतम और प्रभावपूर्ण पदों को सुशोभित कर सके। अकबर की यह बहुत बड़ी विशेषता थी कि उसने अन्य मुसलमान आक्रमकों से भिन्न जो अधिकतर लूटमार करने में दक्ष होते थे, हिन्दुओं का सहयोग प्राप्त कर समुचित शासन व्यवस्था की स्थापना की।

---

* कैनेडी, हिस्ट्री आफ ग्रेट मुगल्स, खंड १, पृष्ठ २४७।

अकबर के विश्वास और धारणाएँ

अकबर के जीवन की सबसे अधिक रोचक और विचित्र घटनाएँ उसके अपने नये पंथ या धर्म से सम्बंध रखती हैं। राजपूत महिलाओं को अपने हरम में लेना, फिर उन्हें अपने देवताओं की अपनी इच्छा के अनुसार पूजा करने की छूट देना एक ऐसा काम था जिसने किसी हद तक इसलाम में उसके विश्वास को शिथिल करने में योग दिया। जो भी हो, १५७३ तक, प्रत्यक्षतः वह एक अच्छा और पक्का मुसलमान मालूम होता था,—नियमित रूप से कुरान का पाठ करता था, सन्त और फकीरों के मज़ारों के दर्शन करने जाता था। लेकिन इसी वर्ष, अर्थात १५७४ में, उसके दरबार में एक बहुत ही आलिम व्यक्ति ने प्रवेश किया। इस व्यक्ति का नाम अबुल फज़ल था। अकबर और उसमें घनिष्ठ मैत्री और स्नेह का सम्बंध हो गया। अबुल फज़ल नागौर के शेख मुबारक का पुत्र था। शेख मुबारक भी बहुत विद्वान था, किन्तु कट्टर मुसलमान उसे धर्म-द्रोही समझते थे।

शेख मुबारक के सिद्धान्त

उन दिनों 'इमामे महदी' के सिद्धान्त में विश्वास करने वाले कितने ही लोग थे। उनका विश्वास था कि पैगम्बर के एक हजार वर्ष बाद एक नया इमाम—इमामे महदी—प्रकट होगा जो मजहब को उसके मूल पवित्र रूप में फिर से स्थापित करेगा। इन एक हजार वर्षों की अन्तिम शती का अधिकांश अकबर के शासन-काल में पूरा हो रहा था और लोगों ने बड़ी गम्भीरता से सोचना शुरू कर दिया था कि इमाम महदी कहाँ और किस रूप में प्रकट होगा। अपने को महदी कहने वाले कितने ही लोग हिन्दुस्तान में पैदा हो गए थे और अनुयायियों को अपनी ओर खींचने का प्रयत्न कर रहे थे। शेख मुबारक महदवी था,—अर्थात इस सिद्धान्त में विश्वास करता था। उसके चारों ओर कुशाग्र बुद्धि अनुयायियों का एक दल जमा हो गया था। कट्टर उलेमाओं के नेता गैर-मुसलमानों और विरोधी मुसलमानों से सख्त नाराज थे। कट्टर पंथियों का मुखिया मखदूम उलमुल्क था। शाही धर्म-गुरु के

पद पर भी वह नियुक्त था। वह मुबारक को दंड देने के लिए बहुत उत्सुक था। मुबारक ने अकबर के उप-भाई मिर्जा अजीज कोकाह से रक्षा की प्रार्थना की। प्रकृति से वह रहस्यवादी था, कट्टर मुसलमानों की खुदा की जो सज़ा देने और इनाम बाँटने वाली कल्पना थी, उसे ठुकरा कर उसने सूफी मत को ग्रहण कर लिया था। सूफी मत इसलाम के अन्तर्गत रहस्यवादी उपासना का एक रूप था।

अबुल फ़ज़ल का अकबर के दरबार में प्रवेश

शेख मुबारक के दोनों पुत्र फैज़ी (जन्म १५४७) और अबुल फज़ल (जन्म १५५१) उपर्युक्त वातावरण में पले थे। फैज़ी एक श्रेष्ठ कवि था और अकबर ने १५६७ में उसे अपने दरबार में रख लिया था। इसके सात साल बाद अबुल फजल ने अकबर के दरबार में उपस्थित होने की अनुमति माँगी। अबुल फज़ल को अपने जीवन के प्रारंभिक दिनों में गरीबी से गहरा संघर्ष करना पड़ा था और एकान्तवासी का जीवन वह बिताता था। लेकिन अपने पिता की तरह उसका मस्तिष्क सदा उसे उकसाता रहता था। अकबर के दरबार में प्रवेश करने के समय उसकी मन स्थिति और परिस्थितियाँ कैसी थीं, इस सम्बंध में अपने अकबर नामा में उसने लिखा है—'मेरी गरीबी मेरे लिए सौभाग्य सिद्ध हुई। जनशून्य स्थानों में जब मैं सत्य की खोज करने वाले सच्चे साथियों की सोहबत में रात बिताता था और जब मैं देखता था कि मेरे इन साथियों के हाथ भले ही खाली हों मगर दिमाग भरे हुए हैं तो मेरी आँखें खुल जाती थीं और मेरे सामने तथाकथित उलेमाओं की स्वार्थ-परता और लोलुपता मूर्त हो उठती थी.... मेरा मस्तिष्क बेचैन था और मेरा हृदय मंगोलिया के सन्तों और लबनान के फकीरों की ओर खिंचता चला जाता था, मन में इच्छा होती थी कि तिब्बत के लामाओं या पुर्तगाल के पादरियों से जाकर मिलूँ, पारसियों के पुरोहितों और जेन्द अवेस्ता के पंडितों के चरणों में जाकर बैठूँ। अपने देश के उलेमाओं से मैं तंग आ चुका था। मेरे भाई और दूसरे सम्बंधियों ने मुझे परामर्श दिया कि दरबार को

शरण लूँ,—इस विश्वास के साथ कि सम्राट के रूप में मुझे रूहानी पथप्रदर्शक मिल जायगा।" *

अपने हितैषियों के परामर्श पर अबुल फजल ने अमल किया और इससे उसे बहुत लाभ हुआ। अकबर के समसामयिक इस सम्बंध में एक मत है कि इस सूफी के प्रभाव में आकर ही अकबर इसलाम की सच्ची लीक से भटक गया था। अकबर ने आगे चल कर जिस दीने इलाही की स्थापना की वह अबुल फजल के सिद्धान्तों से इतना मिलता-जुलता था कि उसका परिचय देने के लिए अबुल फजल की निम्नपंक्तियों का बिना किसी दुविधा के उद्धृत किया जा सकता है।

"ओ खुदा, हर मन्दिर में मुझे तेरी खोज करने वाले ही दिखाई पड़ते हैं; जितनी भी भाषाएँ मैं सुनता हूँ, सबमें तेरी ही प्रशंसा का स्वर मुझे सुनाई पड़ता है। एक ईश्वर को मानने वाले मुसलमान हों चाहे बहुदेवताओं की उपासना करने वाले सब तेरी ही भावनाओं से ओतप्रोत हैं।

"हर मजहब यही बताता है कि तू एक है, तुझसा दूजा और कोई नहीं है।

"मसजिद में तेरी ही इबादत का स्वर लोगों के मुँह से निकलता है, ईसाइयों के गिरजा में लोग तेरी ही मोहब्बत की घंटी बजाते हैं।

"कभी मैं मसजिद में जाता हूँ, कभी ईसाइयों के गिरजा में। एक उपासना घर के बाद दूसरे उपासना घर में मैं तेरी ही खोज करता हूँ।

"जो तेरे प्यारे हैं, वे न मुनकिरों (धर्म द्रोहियों) से सम्बंध रखते हैं, न कट्टर पंथियों से, क्योंकि वे तेरी जो सच्चाई है उसके पीछे अपने को छिपाकर रखने की कोशिश नहीं करते।

"धर्म द्रोही अपने स्वतंत्र विचारों का दामन पकड़ते हैं और कट्टर पंथी मजहब का। लेकिन गुलाब की पंखुड़ी की रज का मालिक तो वही होता है जो इत्र खींचता है।"

---

* ब्लाकमैन, आईने अकबरी (अनुवाद) खंड, पृष्ठ १२।

दूसरा परिच्छेद

इबादत खाना

अबुल फजल से प्रभावित होकर तथा उस समय की राजनीतिक स्थिति के तकाज़े के अनुसार उदार धर्म-नीति को अपना कर अकबर ने मुसलमान मुल्लाओं और उलेमाओं की उपेक्षा करनी शुरू कर दी,—पहले कुछ अप्रत्यक्ष रूप से, बाद में खुल कर। १५७४ से १५८२ के बीच अपना अवकाश का समय अकबर इबादत खाना में बिताता था, जो कि फतेहपुर सीकरी में स्थित था और जहाँ दुनिया के सभी मजहबों के गुणों का विवेचन किया जाता था। इबादत खाना में सूफियों को, हकीमों को, उपदेशकों और प्रचारकों को, कानूनदानों को, शिया और सुन्नियों को, ब्राह्मण, जैन, बौद्ध और चार्वाकों को, ईसाई; यहूदी, पारसी और हर मजहब तथा सम्प्रदाय के विद्वानों को बुलाया जाता था। सम्राट खुद विवाद में दिलचस्पी और लगन के साथ भाग लेते थे जिसके कारण कट्टर उलेमा उनसे नाराज रहने लगे। इबादत खाना में कट्टर मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करने वाले उलेमाओं के पाँव नहीं जम पाते थे और सब तर्कों का जवाब वे बौखलाहट और हिंस्र उद्गारों से देते थे। कहा जाता है कि इन विवादों में भाग लेने वाले पादरी रुडोल्फ की ओर अकबर का विशेष झुकाव था। * इसके सिवा यह भी सच है कि अकबर गोआ के कैथोलिक उपदेशकों का स्वागत करता था जिनमें तीन प्रमुख पादरी रुडोल्फ अक्वावीवा, अन्तोनियो मान्सरेट और फ्रान्सिस हेनरिक थे।

अकबर के दरबार में फिरंगी पादरी

उस काल के कट्टरपंथी इतिहास लेखक बदायूनी ने लिखा है कि अकबर का १५७५ से ही फिरंगी पादरियों की ओर झुकाव हो गया था। सबसे पहले १५७८ में कैथोलिक पादरी ने अकबर के दरबार में प्रवेश किया। उसके कहने के अनुसार अकबर ने अपना एक दूत गोआ भेजा ताकि पादरियों के एक मण्डल को निमंत्रित

---

* सी० जे० पेन, अकबर एण्ड दि जेसूट्स (ब्राडवे ट्रैवलर्स)। ई० डी० मैकलागन, दि जेसूट्स एण्ड दि ग्रेट मुगल्स (१९३१)।

किया जा सके। फादर अक्वावीवा इस मण्डल का नेता था। १५८० में पादरियों का यह मण्डल अकबर के दरबार में पहुँचा। अकबर की धार्मिक नीति के विकास की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण समय था। पादरियों के उत्साह की कमी नहीं थी और वे सोचते थे कि सम्राट को और उसके राज्य को ईसाई बनाने में उन्हें सफलता मिल जाएगी। लेकिन अकबर के सामने उसका अपना दीने इलाही था और वह सभी धर्मों के तत्त्वों को समझना चाहता था। इस लिए यह समझना कि वह इस मजहब को छोड़ कर उस मजहब की ओर जाना चाहता था, ठीक न होगा। पुर्तगीज पादरियों के समुचित स्वागत का उद्देश्य यह भी था कि अकबर अपने ज्ञान की परिधि बढ़ाने के साथ-साथ उनकी सैनिक मदद से अपने साम्राज्य की परिधि भी बढ़ाना चाहता था। अगले वर्षों में इस प्रकार दो अन्य पादरियों के मण्डल अकबर के दरबार में आए। अकबर को अपने मजहब में दीक्षित करने के उनके प्रयत्न भी उतने ही सफल हुए जितने कि उनसे पहले आने वाले पादरियों के। लेकिन ये पादरी अकबर के शासन-काल की झलक देने वाले महत्त्व पूर्ण वर्णन लिख कर छोड़ गए हैं।

अकबर द्वारा उलेमाओं की उपेक्षा

इबादत खाना के विवादों के फलस्वरूप अकबर का उलेमाओं में कोई विश्वास नहीं रहा और अबुल फजल के पिता के परामर्शानुसार धर्मगुरु का पद भी खुद उसने अपने हाथ में ले लिया। इस प्रकार खुद बादशाह "अपनी प्रजा की रुहानी तथा दुनियावी जिन्दगी का" नेता हो गया। इस सम्बंध में अकबर ने जो फरमान जारी किया उसे विद्वान इतिहास लेखक विन्शेन्ट स्मिथ ने ठीक ही "इन्फेलीबिलिटी डिक्री" कहा है। अबुल फजल और शेख मुबारक ने अकबर को सुझाया कि "खुदा की रहमत से ही वह सम्राट बने हैं, इसलिए उनका सम्राट होना जायज है।" उन्होंने अकबर को इसका विश्वास दिलाया कि वह सच्चे मानों में मुजाहिद हैं और मजहब के सभी मामलों को अधिकार के साथ वह अपने हाथ में ले सकते हैं। उलेमाओं पर भरोसा करने की जरूरत

नहीं। नियमों और नीति को बनाने का अधिकार उनका अपना अधिकार है, उलेमाओं से इस अधिकार को छीन कर अपने हाथ में उन्हें ले लेना चाहिए।"

अब तक मुजाहिद के ओहदे पर उलेमाओं का अधिकार होता था। अकबर ने जब से इसे अपने हाथ में लिया, धार्मिक और सांसारिक मामलों में उसका प्रभुत्व स्थापित हो गया।* यहाँ तक कि १५७९ के प्रारम्भ में उलेमाओं की सभा जमातों के नेताओं के हस्ताक्षरों से एक घोषणा प्रकाशित की गई कि वे धार्मिक सवालों और मतभेदों में सम्राट के निर्णय को अन्तिम मानेंगे। इस घोषणा ने कट्टरपंथी उलेमाओं के प्रभाव को गहरी चोट पहुँचाई और सम्राट तथा उनके बीच न पटने वाली खाई पैदा हो गई। कट्टर-पंथियों का सारा गिरोह छिन्न-भिन्न हो गया, उनके नेताओं को जलावतन कर दिया गया और इसलाम शाही मज़हब के रूप में अपना अस्तित्व नहीं बनाए रह सका। अकबर का यह घोषणा पत्र जो उसकी सत्ता को कट्टरपंथी मुल्लाओं और उलेमाओं के चंगुल से मुक्त करता है, राजनीतिक दृष्टि से बहुत महत्व पूर्ण तथा उल्लेखनीय है।

अकबर की मुसलमान विरोधी प्रशस्तियाँ

एक समकालीन इतिहास लेखक बदायूनी ने, जो कि कट्टरपंथी मुसलमान और तंग-हृदय विद्वान था, पाक मजहब इसलाम में सम्राट के विश्वास के अभाव का रोना रोया है। उसने लिखा है

---

*काउण्ट नोअर, दि एम्परर अकबर, ए० एस० बीवरिज द्वारा अनुवादित; खण्ड १, पृष्ठ ३१७-२१ फतेहपुर सीकरी की जामा मस्जिद के मंच पर चढ़ कर अकबर ने अपना यह खुतबा पढ़ा। इस अवसर के लिए रची गई फैजी की नजम भी उसने पढ़ी। नजम की पंक्तियों में कहा गया था—

"अल्लाह ने मुझे यह सलतनत बख्शी है
साथ ही समझदार दिल और मजबूत बाहें दी हैं—
सत्य और न्याय के मार्ग पर उसने मुझे चलाया है—
और न्याय के सिवा और कोई चीज उसने मेरे दिल में नहीं रहने दी है।

कि "हालत यहाँ तक पहुँच गई है कि अगर कोई मक्का की हिजरत करने की दरख्वास्त देता है तो उसे भारी दण्ड का भागी बनना पड़ता है।" इतना ही नहीं, वह और भी आगे बढ़ गया है और खुतबे के बाद खुतबा जारी करता रहता है। उसका हर खुतबा इसलाम को तौहीन करने वाला होता है। उसे यहाँ तक अच्छा नहीं लगता कि मुसलमान अपने बच्चों के नाम मुहम्मद के नाम पर रखें। देश में नयी मस्जिदों का बनवाना रोक दिया गया है और जो हैं भी उन्हें राज्य के संरक्षण से वंचित कर दिया गया है। अति पर पहुँची हुई इस तरह की भोंडी हरकतों ने उस प्रतिक्रिया की जमीन तैयार कर दी जो औरंगजेब के रूप में प्रकट हुई।

अकबर के दरबार में पारसी जैन

अकबर के अपने निराले दीन का रूप स्थिर करने में जिन धर्म शास्त्रियों ने योग दिया उनमें आदरणीय पारसी दस्तूर महेरजी राणा और विख्यात जैन-गुरु हीरा विजय सूरी भी थे। दस्तूर ने अकबर को अपने धर्म का शब्दावली, विधि-निषेध, रीति-रिवाज और धार्मिक पद्धति तथा कृत्यों से, सूर्य तथा अग्नि की उपासना पर विशेष जोर देते हुए, परिचित कराया। पारसी पद्धति के अनुसार चेतन की हुई पवित्र अग्नि महल में भी रखी जाने लगी और अबुल फजल को इसकी जिम्मेदारी सौंपी गई कि वह उसे कभी न बुझने दे।*

अकबर के शासन-काल के जैनों का ख्याल था कि उन्होंने अकबर को अपने धर्म की ओर झुकाने में सफलता प्राप्त की है। मांस के प्रयोग को रोकने या उस पर प्रतिबंध लगाने के अकबर के अनेक आदेश जैन उपदेशकों के प्रभाव का नतीजा हो सकते हैं।

अकबर का दीने इलाही

अकबर के विचित्र धार्मिक प्रयोगों के फलस्वरूप एक नये पंथ ने जन्म लिया जिसे दीने इलाही कहा जाता है। इस दीने इलाही का सारतत्व यह था कि "खुदा के सिवा कोई खुदा नहीं है और

* वी० ए० स्मिथ लिखित "अकबर दि ग्रेट मुगल", पृष्ठ १६४।

अकबर खुदा का दूत है।" इस दीने इलाही में पैगम्बर मुहम्मद साहब के लिए कोई जगह नहीं थी, खुद सम्राट ने उस जगह पर अधिकार कर लिया था। हिन्दू या मुसलमान दरबारियों में किसी ने भी इसे पसन्द नहीं किया। मानसिंह और भगवानदास ने इस नये दीन को साहस के साथ स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। अबुलफजल जो कि खुशामदियों का सिरताज था, इस दीन का 'यह पुजारी' बन गया। अकबर ने समझदारी के साथ अपने दरबारियों को इसके लिए बाध्य नहीं किया कि वे दीने इलाही को स्वीकार करें।

मुसलमान इतिहास-लेखकों का कहना है कि अकबर ने इसलाम को कभी नहीं छोड़ा। इसलाम का जो बाहरी, दिखावे का, रूप था उसे ही अकबर ने छोड़ा था। धार्मिक रूढ़ियों का वह विरोधी था। फिरंगी पादरियों का कहना है कि वह सच्चा मुसलमान नहीं था। आईने अकबरी में अबुलफजल ने दीने इलाही का अधिकृत विवरण दिया है। उसने अनेक विधि-निषेधों का जिक्र किया है जैसे गोवध पर प्रतिबंध आदि। इन विधि-निषेधों में जैन, हिन्दू और पारसी प्रथाओं का मेल दिखाई देता है। अबुलफजल की मृत्यु के बाद दीने इलाही का संघटन ढीला पड़ गया और अकबर की मृत्यु के बाद उसका पूर्ण रूप से लोप हो गया। दीने इलाही की कल्पना एक शुभ कल्पना थी। उसमें बुरा कुछ नहीं था। एक खुदा की उपासना हो, जितने भी सम्प्रदाय और फिरके हैं सब की उपासना का पात्र एक हो, इस बात पर दीने इलाही जोर देता था। सभी धर्मों के प्रति उदारता का भाव हो, यह दीने इलाही कहता था, यद्यपि वास्तव में भावना इसलाम के विरुद्ध पड़ती थी। दीने इलाही का उद्देश्य सबको एक सूत्र में बाँधना था, लेकिन यथार्थ में वह किसी को भी प्रसन्न नहीं कर सका। अकबर अवसर-वादियों और खुशामदियों की बातों के भुलावे में आ गया, अन्यथा उसमें धर्म-गुरू बनने की प्रतिभा और क्षमता नहीं थी।*

* लारेन्स बिनयौन लिखित अकबर (१९३२) पृष्ठ १३२-४।

दीने इलाही के अनुयायियों की संख्या अधिक नहीं थी। अकबर की मृत्यु के साथ उसका भी अन्त हो गया। वी० ए० स्मिथ ने दीने इलाही को ठीक ही अकबर की बुद्धि का नहीं, मूर्खता का परिचायक कहा है। अनियंत्रित सत्ता और बेढंगी अहम्मन्यता का यह नतीजा था।* लेकिन इससे एक लाभ—चाहे वह कितना ही थोड़ा क्यों न हो—अवश्य हुआ। वह यह कि इसने मुसलमानों में हिन्दू धर्म और उसके विस्तृत साहित्य के प्रति कुछ झुकाव और दिलचस्पी उत्पन्न करने में योग दिया।

(क) अकबर के सुधार कार्य

अकबर की बड़ी सल्तनत, दकन-विजय से पहले तक, पन्द्रह सूबों में विभाजित थी। हर सूबे का एक शासक—सूबेदार या सिपहसालार—होता था। वह सम्राट की ओर से नियुक्त होता था और सूबे की नागरिक तथा सैनिक व्यवस्था के लिए जिम्मेदार होता था। हर सूबा जिलों में विभाजित होता था। जिलों का शासन फौजदारों पर निर्भर होता था जो सूबेदार के डिप्टी होते थे। विद्रोही तत्वों का दमन और करों का उगाहना फौजदारों का कर्त्तव्य होता था। बड़े-बड़े नगरों में शान्ति कायम रखने के लिए विशेष पदाधिकारी—कोतवाल—नियुक्त किए जाते थे। इनके विस्तृत अधिकार होते थे और शाही आदेशों का उल्लंघन करने वालों को ये कड़ी सजा दे सकते थे।

अकबर की राजनीतिक प्रतिभ

अकबर में संघटन की प्रतिभा थी, यद्यपि एक तंत्री-शासन व्यवस्था को ही वह स्वीकार करता था। शासन के क्षेत्र में उसकी मौलिक विशेषता यह थी कि उसके राज्य में ऊँचे से ऊँचे दीवानी या फौजी ओहदों पर हिन्दू और मुसलमान दोनों ही नियुक्त हो सकते थे। अपनी रियाया के हर भाग और सम्प्रदाय की सहानुभूति

---

* दीने इलाही के विवरण के लिए स्मिथ की पुस्तक अकबर दि ग्रेट मुगल का आठवाँ परिच्छेद और ब्लाकमैन द्वारा अनुवादित आईने अकबरी, खण्ड एक, पृष्ठ १६६ देखिए।

प्राप्त करने की उसने बराबर कोशिश की। रियाया की शक्ति को वह अपनी शक्ति समझता था। "विजित विरोधियों और गिरे हुए शत्रुओं, दलित विद्रोहियों और उत्पाती अफसरों के साथ उसका व्यवहार एक इसी नीति और उद्देश्य की ओर संकेत करता है कि वह सभी के साथ शान्ति से रहना चाहता था।" *

शासन सम्बन्धी सिद्धान्त

अकबर ने अपनी स्थिति को दृढ़ बनाने के उद्देश्य से शासन-व्यवस्था को संघटित किया था। उसमें इतनी क्षमता और योग्यता थी कि सलतनत को स्थायित्व प्रदान करने के जो बुनियादी सिद्धान्त हैं उन्हें न केवल समझ सके, वरन् उन्हें कार्यरूप में भी परिणत कर सके। अकबर मेहनती और अध्यवसायी था। शासन-सम्बंधी सभी बातों का वह ध्यान रख सकता था। मुसलमान विधान-शास्त्रियों तथा अन्य इसलामिक राज्यों का उसने अनुसरण नहीं किया। सलतनत का एक सब शक्तिशाली वजीरे आजम होना चाहिए, इस सिद्धान्त को न मानकर उसने चार वजीर नियुक्त किए जो पद और शक्ति में समान थे। वजीरों का चुनाव वह रियाया के सभी फिर्कों में से करता था। वजीरों और ऊँचे अमीरों की परिषद् की वह नियमित बैठकें करता था। ये चार वजीर सलतनत की इमारत के चार बड़े स्तम्भों की तरह थे, जो इमारत को सँभालने से अधिक उसकी शोभा बढ़ाने का काम करते थे। निश्चित नियमों के अनुसार उन्हें काम करना होता था। केवल सम्राट ही एक ऐसा था जो अपनी इच्छा के अनुसार काम कर सकता था और जो किसी नियम का पाबन्द नहीं था। वजीरों की स्थिति, उनके पदवी-काल के लिए, पूर्ण रूप से सुरक्षित थी। सभी पदाधिकारी अपने अपने कर्त्तव्य और कार्यों से परिचित थे। वास्तविक सत्ता सम्राट के हाथों में केन्द्रित थी, प्रधान वजीर तक स्वतंत्र सत्ता का उपयोग नहीं कर सकता था। सत्ता के इस प्रकार

---

* इब्नहसन, दि सेण्ट्रल स्ट्रक्चर आफ दि मुगल एम्पायर (१६३६) पृष्ठ ३४६।

केन्द्रित होने और दूसरे किसी को कार्य करने की छूट न देने का यह नतीजा हुआ कि सम्राट के व्यक्तित्व में शिथिलता आते ही शासन व्यवस्था में भी ढील आने लगी और उसका चलना कठिन होता गया।

वैधानिक दृष्टि से सम्राट निरंकुश सत्ताधारी था और उसकी इच्छा ही कानून थी। मुसलमान बादशाहत की जो परम्परागत पाबंदियाँ थीं, अकबर ने उन्हें ठुकरा दिया था। उसने अपने काम के नियमित घंटे निश्चित कर लिए थे। उसके राजवंश में इस विशेषता ने परम्परा का रूप धारण कर लिया। मुस्लिम और गैर मुस्लिम प्रजा के बीच मर्यादा सम्बन्धी सभी भेद-भावों को उसने मिटा दिया था। विशुद्ध मुस्लिम राज्य की कल्पना को रद्द कर उसने पूर्ण सहनशीलता और उदारता की स्थापना की थी। प्रति दिन दरबार में खुद उपस्थित होकर उसने अपने और रियाया के सभी वर्गों के लोगों के बीच घनिष्ट सम्पर्क स्थापित करने की कोशिश की थी। सलतनत के विभिन्न भागों के विस्तृत दौरे भी वह करता था और प्रजा के रीति-रिवाजों तथा दीवाली दशहरा जैसे उत्सवों में भाग लेता था। विजय के बाद वह सदा समझौते नीति का पालन करता था और विशेष रूप से स्थानिक सरदारों की सहानुभूति प्राप्त करने की कोशिश करता था। देशों को उसने विभिन्न सूबों के रूप में संघटित किया था और प्रत्येक सूबे में समान शासन-व्यवस्था चालू की थी। उसकी शासन-व्यवस्था में अनेक दोष भी थे जिनमें सबसे गम्भीर दोष अति-केन्द्रीकरण तथा शासन का सम्राट पर अत्यधिक निर्भर रहने का था। दूसरा दोष अकबर की राज्य-विस्तार की नीति में निहित था। यह दोष विशेष रूप से दक्खन विजय में प्रकट हुआ जिसे वह खुद पूरा नहीं कर सका। तीसरा दोष देश में किसी भी प्रकार की राष्ट्रीय भावना का अभाव था जिसे उत्पन्न करने में वह सफल नहीं हो सका। अकबर और उसके तुरन्त बाद के उत्तराधिकारियों के व्यक्तित्व और संयोगवश उनके दीर्घ जीवी होने का यह नतीजा था कि वे इस हद तक सफल हो सके, देश को सम्पन्न बना सके और विच्छिन्नता मूलक प्रवृत्तियों के प्रसार को रोक सके।

वजीरों का ओहदा

शासन-कार्य में अनेक पदाधिकारी अकबर को सहायता करते थे। ये निरंकुश सत्ताधारी सम्राट के नौकर मात्र थे। इनका ओहदा उन वजीरों और मंत्रियों के समान नहीं था जो सम्राट को अपनी स्वतंत्र सलाह देने का साहस रखते हैं। अकबर के प्रमुख पदाधिकारियों में (१) वकील या वजीरे आजम होता था, (२) दीवान या अर्थ मंत्री होता था, (३) एक बखशी होता था जिसके जिम्मे सैनिक विभाग तथा रँगरूटों की भर्ती, ऊँचे पदाधिकारियों की खोज, राजमहल के रक्षकों की देख-भाल और वेतन का हिसाब-किताब रखना आदि होता था, (४) सदर होता था जिसका पद १५८२ से पहले तक सबसे ऊँचे न्यायाधीश और दण्ड देने वाले का होता था। शाही कारखाना और भण्डार की देख-भाल करने के लिए भी एक मंत्री होता था।

अकबर के सैनिक सुधार

अकबर की संगठन-प्रतिभा का सबसे अच्छा परिचय उसके सैनिक सुधारों से मिलता है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि मुगल राज्य की कोई नियमित स्थायी सेना नहीं थी। न तो यह सेना राज्य के कोष पर निर्भर करती थी। सेना का भार राज्य के ऊँचे ओहदेदारों पर निर्भर करता था जो मनसबदार कहलाते थे। अकबर ने भी इसी परिपाटी को चालू रखा और मनसबदारों में जो भ्रष्टाचार फैल गया था उसका अन्त कर दिया। इन ओहदेदारों का वेतन और उनकी नौकरी की शर्तों पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया था और सैनिकों की योग्यता और शक्ति को कायम रखने तथा बढ़ाने के लिए हर सम्भव प्रयत्न किया गया था। अकबर ने अपने सैनिक पदाधिकारियों को ३३ श्रेणियों में बाँट रखा था। मनसबदारों में दस से लेकर दस हजार तक की श्रेणी के मनसबदार होते थे। सबसे ऊँची श्रेणी के मनसबदार शाही खान्दान में से ही चुने जाते थे। इन सब के ऊपर खुद सम्राट का प्रभुत्व होता था। सम्राट इस बात का ध्यान रखता था कि प्रत्येक सैनिक, चाहे जिसके द्वारा वह भर्ती हुआ हो, केवल उसी के हुक्म

का तामील करता है। जहाँ तक सम्भव होता था, सैनिक सेवाओं के लिए जागीरें नहीं प्रदान की जाती थीं। इनाम आदि नकद देने की कोशिश की जाती थी। भ्रष्टचार को रोकने के लिए हर घोड़े पर शाही चिन्ह दाग दिया जाता था। मनसबदारों की तरक्की और नियुक्ति सम्राट की इच्छा पर निर्भर करती थी। खान्दानी मनसबदारों की प्रथा को अकबर ने खत्म कर दिया था। चुनाव में खान्दान का, चाहे वह कितना बड़ा हो, योग्यता का ध्यान रखा जाता था। साधारणतया मनसबदार जितने सैनिकों को भर्ती कराते थे, वह उनके ओहदे से बहुत कम होती थी। अधिकांश सैनिक अपने घोड़े अपने साथ लाते थे। आगे चल कर यह ओहदा, जहाँ तक भर्ती का सम्बंध था, अवैतनिक हो गया,—धन से अधिक मान-मर्यादा का वह सूचक हो गया। * लेकिन इन सब सुधारों के होते हुए भी अकबर की सेना कमजोर थी, और डाक्टर स्मिथ के शब्दों में, "तत्कालीन युरोपाय सेना के सम्मुख एक क्षण के लिए भी नहीं टिक सकती थी।"

सैनिक की सहायक टुकड़ियाँ भी रखी जाती थीं। ये टुकड़ियाँ मनसबदारों की देख-भाल में रहती थीं। इनके सिवा शरीफ-सैनिकों का एक संघटन और था। शाही कारखानों में तोपों और 'मैच-लाकों' के निर्माण पर विशेष ध्यान दिया जाता था। पैदल सैनिकों का विशेष महत्व नहीं था। सम्राट अधिकतर अनियमित घोड़सवारों की भारी संख्या पर निर्भर करता था। इनके सिवा मनसबदारों की टुकड़ियों पर भी वह भरोसा रखता था। हाथी भारी संख्या में रखे जाते थे। तीरन्दाज और गोलन्दाज उनकी पीठ पर बैठ कर युद्ध में भाग लेते थे। छावनी या पड़ाव

* ब्लाकमैन्स आईने अकबरी, खण्ड १, पृष्ठ २३६ (आईन ३, मनसबदारों के बारे में); इर्विन लिखित दि आर्मी आफ दि इण्डियन मुगल्स परिच्छेद १; दशरथ शर्मा लिखित निबंध, अकबर्स कैवलरी', जर्नल आफ इण्डियन हिस्ट्री खण्ड ५ में प्रकाशित; इसी जर्नल में, खण्ड १४ और पन्द्रह में प्रकाशित सी० के० राव साहब और डबल्यू० एच० मोरलैण्ड के निबन्ध; अकबर के सैनिक संघटन पर अच्छा प्रकाश डालते हैं।

का आकार-प्रकार और रूपरेखा इतनी बड़ी होती थी कि उससे सेना की गतिशीलता बहुत कुछ कुण्ठित हो जाती थी,—शाही सेना नहीं, मानो समूचा नगर एक जगह से उठ कर दूसरी जगह चलता था।

भूमि-सम्बंधी व्यवस्था

सुप्रसिद्ध अर्थ-मंत्री राजा टोडरमल की वैज्ञानिक भूमि-कर-प्रणाली के कारण अकबर का शासन-काल बहुत महत्व रखता है। टेकनीकल बातों को छोड़कर टोडरमल की कर-प्रणाली के अनुसार समान माप के आधार पर सावधानी के साथ भूमि की माप की गई थी। ३,६०० वर्ग गज़ का एक बीघा होता था। उपजाऊ शक्ति के अनुसार भूमि का वर्गीकरण किया गया था। हर श्रेणी की भूमि का अलग लगान निश्चित कर दिया गया था। अर्थ-मंत्री सख्ती के साथ इस नीति का पालन करता था कि अगर कोई भूमि किसी फसल में बिना खेती के रह गई है तो उसके लिए छूट दी जाए। जो भूमि चार साल से बे-बोई होती थी उस पर पहले वर्ष के लिए आधे की, दूसरे वर्ष के लिए चौथाई की छूट दी जाती थी और तीसरे वर्ष के लिए नियमानुसार लगान देना पड़ता था। दो साल से अनजोती भूमि के लिए पहले साल में एक चौथाई की छूट दी जाती थी। जिस भूमि पर काश्त नहीं हुई, उसके लिए राज्य की ओर से बीज का अलाउन्स दिया जाता था जिससे धरती की पैदावार और कर की आय में वृद्धि हो।

राजा टोडरमल की इस कर-प्रणाली की सभी बातें उसकी अपनी नहीं थीं। इस दिशा में शेरशाह पहले पथ-प्रदर्शन कर चुका था। शेरशाह इस प्रणाली को सल्तनत में व्यापक रूप में चालू कर चुका था। अकबर के शासन के प्रारम्भिक काल में मुजफ्फर खाँ ने भी अनेक सुधार किए थे। १५७१ में उसने और टोडरमल ने मिलकर कानूनगोओं और गाँव के अधिकारियों की मदद से से नया बन्दोबस्त किया। अकबर की भूमि सम्बंधी व्यवस्था आज के रैयतवाड़ी बन्दोबस्त से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी। इसके अनुसार रैयत अपना लगान सीधे सरकार को देती थी।

कर के उगाहने में किसी बिचौलिए की आवश्यकता नहीं होती थी। टोडरमल ने पहले गुजरात में बन्दोबस्त की शुरूआत की और फिर, १५७९ में, उसे उत्तरी भारत तक विस्तारित कर दिया। जैसा कि पहले सोचा गया था, बन्दोबस्त प्रति वर्ष नहीं किया जा सका, बल्कि दस-दस वर्ष के अन्तर के बाद करना तय किया गया। नया बन्दोबस्त पिछले दस वर्षों की पैदावार के आधार पर किया जाता था। पैदावार या नकद किसी भी रूप में भूमि-कर अदा करने की छूट थी। बेकार के १५० करीब अन्य करों को अकबर ने रद्द कर दिया था। मुद्रा-प्रणाली में भी अकबर ने संशोधन किया था। पुराने और घिसे हुए सिक्कों को वापिस लेकर अकबर के नये सिक्के जारी किए थे। आगरा, अहमदाबाद, काबुल और बंगाल की राजधानी में अकबर ने चार टकसालें कायम की थीं। सोने के सिक्के केवल बंगाल की टकसाल में ढाले जाते थे। इसके साथ ही साथ अकबर ने सल्तनत को,—बंगाल, बिहार और गुजरात को छोड़ कर—अनेक अर्थ-क्षेत्रों में विभाजित कर दिया था। प्रत्येक अर्थ-क्षेत्र को एक करोड़ टनका (ढाई लाख रुपये) सल्तनत को देने होते थे। प्रत्येक अर्थ-क्षेत्र का एक अफसर होता था जो लामिम्र या करोड़ी कहलाता था। लेकिन यह विभाजन कुछ सफल सिद्ध नहीं हुआ और उसे शीघ्र ही त्याग दिया गया।

प्रत्येक सूबा या सूबेदारी सरकारों या जिलों में विभाजित होती थी और प्रत्येक सरकार में अनेक परगना या महाल होते थे। यह सुधार १५८० के करीब किया गया जब कि सल्तनत बारह सूबों में विभाजित थी।

अकबर का दरबार

अकबर का दरबार बहुत ही शानदार था। उसके दरबार में उस काल के सर्वाधिक ख्याति-प्राप्त लोगों में से कुछ थे। अबुल फजल का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। वह बहुत सुसंस्कृत पद्य-लेखक था। उसने मुगलों का इतिहास, अकबर नामा लिखा था। बहुमूल्य पुस्तक आईने अकबरी भी उसी की देन है।

सोलहवीं शती के हिन्दुस्तान की सामाजिक और धार्मिक स्थिति के सम्बंध में हम जो कुछ जानते हैं, उसका श्रेय इसी पुस्तक को प्राप्त है। आगरा का सुप्रसिद्ध कवि सूरदास, सुविख्यात संगीतज्ञ तानसेन जिसके सम्बंध में अबुलफजल ने लिखा था कि उसके जैसा गवैया गत हजार वर्ष से हिन्दुस्तान में नहीं हुआ है। अकबर के शासन-काल में हिन्दी कविता का अद्भुत विकास हुआ था। इस विकास का मूर्त रूप अमर तुलसीदास था। यद्यपि उस तक अकबर के दरबार की दृष्टि नहीं पहुँच सकी, लेकिन उसने अपनी रामायण अकबर के शासन-काल में ही लिखी थी। तुलसीदास के सम्बंध में डा० स्मिथ ने लिखा है—"सब कुछ होते हुए भी यह हिन्दू अपने युग का सबसे बड़ा आदमी था (खुद अकबर से भी बड़ा)। उसने लाखों लोगों के हृदय और मस्तिष्क को अपनी प्रतिभा से मोह लिया था। यह एक ऐसी चीज थी जिसके साथ अकबर की युद्ध-द्वारा प्राप्त सभी विजयों की कोई तुलना नहीं की जा सकती।"

इस काल में हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य के असाधारण पुनर्जागरण का श्रेय बहुत कुछ अंशों में अकबर की उदार नीति को था। संस्कृत साहित्य में अकबर की दिलचस्पी उसके राज्य की घोषित नीति के अनुकूल थी। महाभारत, रामायण, अथर्ववेद और हिन्दू गणित के ग्रंथ लीलावती का उसने फारसी में अनुवाद करवाया था। महान मुगल सम्राट के पास, यद्यपि कुछ इतिहास-लेखकों का कहना है कि वह अपढ़ था, अपना एक पुस्तकालय था जिसमें २४,००० चुने हुए ग्रंथ और उत्तम हस्तलिखित पुस्तकें थीं। हाथ की लिखावट को उन दिनों काफी प्रोत्साहन दिया जाता था।

कला का विकास

चित्रकारी में अकबर की दिलचस्पी उसी समय जाग्रत हो गई थी जबकि वह युवक मात्र था। छवि बनवाने के विरुद्ध कुरान के आदेश की उपेक्षा करके उसने अपने लिए फारस के मुसव्वरों से तस्वीरें बनवाईं। चित्रकला के क्षेत्र में इण्डोपर्शियन

स्कूल का वह स्वयं संस्थापक था। फारस की कला के पीछे उसने देशी कला की उपेक्षा नहीं होने दी। दरबार के जिन सोलह कलाकारों का अबुल फजल ने उल्लेख किया है उनमें तेरह हिन्दू थे जो डॉ० स्मिथ के शब्दों में, हिन्दू चित्रकला के उस काल में बराबर फूलते-फलते रहने का प्रमाण है।

इमारतों का निर्माण

अकबर भी, अन्य मुगलों की तरह, असंदिग्ध रूप से बहुत बड़ा निर्माता था। आगरा का शानदार किला उसी का बनवाया हुआ है। फतेहपुर सीकरी का सुप्रसिद्ध महल और दिल्ली के निकट अपने पिता के लिए बनवाया हुआ सुन्दर मकबरा आज दिन मौजूद हैं। अकबर ने नागरिकों के लिए भी अनेक इमारतें बनवाई थीं जिनमें से अनेक, दुर्भाग्यवश, नष्ट हो चुकी हैं। अपनी महत्व पूर्ण पुस्तक "इण्डिया ऐट दि डैथ आफ अकबर" में श्री डबल्यू० एच मोरलैण्ड ने सत्रहवीं शती के प्रारम्भ में भारत की स्थिति का अच्छा चित्र प्रस्तुत किया है। मोरलैण्ड ने अपनी पुस्तक के लिए सामग्री आईने अकबरी के अलावा उस काल के युरोपीय यात्रियों तथा व्यापारियों के विवरणों से प्राप्त की है। उस काल की कृषि तथा व्यापार तथा औद्योगिक संघटनों का उसने सविस्तार वर्णन किया है। उसने लिखा है कि आज के मुकाबले में तब ऊँची श्रेणी के लोग अधिक सम्पन्न थे और अधिक ऐश्वर्यपूर्ण जीवन बिताते थे। मध्य श्रेणी के लोगों की संख्या कम और नगण्य थी। निम्न श्रेणी के लोगों का जीवन आज के मुकाबिले में अधिक गरीबी तथा कठोरता से भरा हुआ था। *

* "उत्पादन सम्बन्धी उद्योगों को दण्डित किया जाता था......उत्पादक शासन-व्यवस्था और उसके पदाधिकारियों की दया पर निर्भर करते थे। ये पदाधिकारी अति पर पहुँची हुई अय्याशी और दिखावे में डूबे हुए थे. ... ऊँची श्रेणी के लोग अय्याशी की सामग्री की माँग करते थे। इस माँग के फलस्वरूप विदेशी व्यापारियों को अधिक प्रोत्साहन तथा बढ़वा प्राप्त हुआ...... और विदेशियों की नीति केवल अपना लाभ देखने की था। इस नीति का उन्होंने जमकर पालन किया।' मोरलैण्ड, पृष्ठ २९९ ३००।

दूसरा परिच्छेद

अकबर के अन्तिम दिन

अकबर के अन्तिम दिन निराशापूर्ण थे। उसकी सन्तानों में दो उसके सामने ही मृत्यु को प्राप्त हो गई थीं। उसका एक मात्र पुत्र जो बचा था:—सलीम—वह कृतघ्न और पिता-विरोधी सिद्ध हुआ। जैसा कि होता है, शाही खान्दान में फूट ने भी सिर उभारना शुरू कर दिया था। सलीम को पिता की ओर झुकाने के लिए एक से अधिक बार प्रयत्न करना पड़ा। अकबर के जितने भी घनिष्ट साथी थे, जो उसके दरबार का जान और शोभा थे, उससे पहले मर चुके थे। १६०५ में खण्डित हृदय सम्राट की भी मृत्यु हो गई। अकबर की महानता के दावा का आधार यह था कि उसने, अन्य सम्राटों से कहीं अधिक, इस बात को समझ लिया था कि सल्तनत की सम्पन्नता रियाया की सम्पन्नता पर निर्भर करती है। उसने हिन्दुस्तान की दो महान जातियों—हिन्दू और मुसलमानों—को एक सूत्र में बाँध कर संयुक्त राष्ट्र का रूप खड़ा करने की कोशिश की थी। उसकी मृत्यु के बाद दोनों ही जातियों में धर्मान्धता के चिन्ह प्रकट होने लगे, लेकिन इतनी मात्रा में नहीं कि जीवन की सरसता को भंग कर सकें। संक्षेप में "अकबर जन्मजात सम्राट था और इतिहास जितने भी सम्राटों को जानता है, उनमें महानतम पद पर बैठने का उसका दावा सर्वथा उचित था। उसका यह दावा उसके प्राकृतिक गुणों पर आधारित तथा उनके द्वारा सुरक्षित था। उसके मौलिक विचार और उसकी उपलब्धियाँ उसकी नींव को मजबूत करती थीं। लेकिन उसके अंध प्रशंसकों ने जिस प्रकार उसकी प्रशंसा की है, वह उसकी स्थिति को मजबूत बनाने के बजाए कमजोर ही बनाती है।*

—:०:—

* वी० ए० स्मिथ अकबर दि ग्रेट मुगल, ३५३।

तीसरा परिच्छेद

सलतनत का अभ्युत्थान-काल जहाँगीर (१६०५—१६२७) और शाहजहाँ (१६२७—१६५८) का शासन

१—जहाँगीर का शासन (१६०५—१६२७)

२४ अक्टूबर, १६०५ को अकबर का सब से बड़ा पुत्र शाहज़ादा सलीम जहाँगीर के नाम से सिंहासन पर बैठा। चरित्र की दृष्टि से वह अपने पिता से, जिसके विरुद्ध उसने विद्रोह किया था, बहुत कुछ भिन्न और विरोधाभास लिए था। स्वभाव में कुछ हिंस्र, प्याले का सदा शौकीन, अफीम के व्यसन में फँसा हुआ,—उसके पास अपने पिता जैसी न तो लौह-शक्ति थी और न अथक परिश्रम करने की शक्ति और क्षमता ही थी। जहाँगीर अनिवार्यतः आराम-पसन्द आदमी था और शासन की देख-रेख का भार उसने अपनी सुप्रसिद्ध मलिका नूरजहाँ पर छोड़ दिया था। लेकिन अपने काल का वह एक बहुत ही सुसंस्कृत आदमी था। वह मदांधता से मुक्त था और संतुलित सहज बुद्धि रखता था।* उसकी बुद्धि में मौलिकता नहीं थी, लेकिन इतनी समझ अवश्य थी कि अपने पिता के बाँधे हुए ढर्रे पर शासन को चला सके। भौतिक विज्ञानों में उसकी दिलचस्पी थी और भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में वह अपना एक स्थान रखता था। फारसी के काव्य में उसकी गति थी, इसलामी साहित्य से वह परिचित था। हिन्दू दर्शन और ईसाई धर्म-ग्रंथों में वह दिलचस्पी रखता था और भौगोलिक तथा ऐतिहासिक ज्ञान का उसके पास अच्छा भण्डार था।† पिता की

---

* कुछ विद्वानों का खयाल है कि उसकी धार्मिक सहनशीलता उसकी धर्म के प्रति उदासीनता की पर्यायवाची थी।

† बेनीप्रसाद लिखित "हिस्ट्री आफ जहाँगीर (१९२२), पृष्ठ १२१।

मृत्यु के बाद जहाँगीर को विरासत में एक ऐसी सलतनत मिली थी जो फारस की पूर्वी सीमा से लेकर आसाम की पश्चिमी सीमा तक और हिमालय से लेकर गोदावरी के अति निकट तक फैली हुई थी।

प्रारम्भिक-शासन काल

जहाँगीर ने अपने शासन का प्रारम्भ अच्छे ढंग से किया। प्रारम्भ में उसने जो कार्य किए, उनसे पता चलता था कि वह एक सतर्क और सजग शासक सिद्ध होगा। जागीरदारों ने अपने इलाकों में निजी लाभ के लिए जो तरह-तरह के नजराने और कर लागू कर रखे थे, उन्हें जहाँगीर ने रद्द कर दिया। ये कर और नजराने देश के भीतरी उद्योग के लिए बाधा बने हुए थे। माल को एक जिले से दूसरे जिले में ले जाने में जिन बेढंगी बाधाओं का सामना करना पड़ता था, उन्हें भी जहाँगीर ने रद्द कर दिया। राज्य की ओर से अनेक विश्राम-घर, मस्जिदें, मदरसे और अस्पताल खोले गए। लावारिस सम्पत्ति को जनहित के कामों में इस्तेमाल किया जाने लगा। स्कूल और सराय, कुएं, और तालावों की रक्षा का खर्च लावारिस सम्पत्ति से पूरा किया जाता था। शराब और तमाखू के प्रयोग पर प्रतिबंध लगा दिया गया। हर मंगलवार को सम्राट खुले दरबार में बैठता था जिसमें गरीब से गरीब रियाया भी हाजिर हो सकती थी। दण्ड-विधान की सख्ती को पहले से कम कर दिया गया।

खुसरो का विद्रोह

सम्राट के सिंहासन पर बैठने के शीघ्र बाद ही उसे एक विद्रोह का दमन करने की आवश्यकता पड़ी जिसका नेतृत्व उसका ज्येष्ठ पुत्र शाहजादा खुसरो कर रहा था। उसका खयाल था कि अकबर और शाहजादा सलीम के तनाव का लाभ उठा कर वह सिंहासन का हकदार हो सकता है। राजा मानसिंह भी अपने भतीजे, शाहजादा खुसरो, के लिए उत्तराधिकार प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील था। लेकिन यह सब होते हुए भी नये सम्राट ने

उसे क्षमा कर दिया और राजा मानसिंह को आश्वासन दिया कि खुसरौ की सुरक्षा पर आँच नहीं आने दी जाएगी। इस प्रकार नये सम्राट ने यद्यपि अपने पुत्र के साथ सुलह तो कर ली, लेकिन फिर भी उसे आगरा के किले में अर्द्ध-बंदी की अवस्था में रखा। १६०६ में खुसरौ किले से भाग निकला और पंजाब पहुँच कर उसने अपने अनुयायियों का एक दल जमा कर लिया। तरन-तारन में वह सिख गुरू अर्जुनसिंह से मिला और उनका आशीर्वाद भी उसे मिल गया। इसके बाद उसने लाहौर पर आक्रमण किया। लाहौर के शाही सूबेदार दिलावर खाँ ने बड़ी बहादुरी के साथ अपनी रक्षा की। इसी बीच शाही सेना भी इतनी निकट आ गई कि सहज ही आक्रमण कर सके। भैरोवल के निकट युद्ध हुआ जिसमें खुसरौ के सोखतड़ और अनुशासन-विहीन सैनिकों की बुरी गति हुई। खुद शाहजादा अपने कुछ मुट्ठी भर अनुयायियों के साथ, उनमें से एक के कहने पर, भाग कर काबुल की ओर चल दिया। लेकिन एक नदी को किश्तियों में बैठ कर पार करते समय विद्रोहियों को शाही गारद के सैनिकों ने पकड़ लिया और बंदी बना कर उन्हें लाहौर में जहाँगीर के सम्मुख पेश किया गया। खुसरौ के अनुयायियों को भीषण सजाएँ दी गईं। उनमें से तीन सौ को टिकटियों पर लटका दिया गया। लाहौर जाने वाली सड़क के दोनों ओर ये टिकटियाँ लगाई गई थीं। इस दुःखद दृश्य को पूर्ण करने के लिए एक हाथी पर चढ़ा कर खुसरौ को इस सड़क पर ले जाया गया ताकि वह स्वयं इस दृश्य को देख सके। जहाँ तक विद्रोही शाहजादे का सम्बंध था, उसे १६१६ तक कैद में रखा गया। इसके बाद वह आसफ खाँ को सौंप दिया गया। आसफ खाँ ने उसे शाहजादा खुर्रम—आगे चल कर सम्राट शाहजहाँ—की हिरासत में दे दिया। शाहजादा खुर्रम ने, कहा जाता है, मार्च १६२२ में एक दिन उसकी जीवन-लीला समाप्त कर दी। इस प्रकार शाहजादे के जीवन का अन्त हो गया जो बहुत ही सर्वप्रिय और सुसंस्कृत, किन्तु उग्र स्वभाव का था। अपनी गलत आकांक्षा के कारण उसका अन्त हुआ। बाद में मुसलमान भारी संख्या में उसके मजार पर जाने लगे। वे उसे शरीफ समझते थे।

सिख गुरू अर्जुन सिंह

खुसरो की मूर्खता के कारण जिन लोगों को दण्डित होना पड़ा उनमें सिखगुरू अर्जुन सिंह भी थे। १५६३ में उनका जन्म हुआ था। वे चौथे सिख गुरु रामदास के सबसे छोटे पुत्र थे। वह बहुत ही पवित्र हृदय थे। इसीलिए उनके पिता ने, ज्येष्ठ पुत्र पिरथी सिंह के मुकाबले में, छोटे पुत्र को अपनी गद्दी का उत्तराधिकारी चुना। धार्मिक गुरु के रूप में अर्जुन सिंह बहुत प्रिय और साहसी थे। अपने पूर्व के धर्म गुरुओं के लेखों और उपदेशों का उन्होंने संग्रह किया। यह समूचा संग्रह जिसमें स्वयं उनकी प्रेरणाप्रसूत रचनाएँ भी सम्मिलित हैं आदि ग्रंथ कहलाता है। उन्होंने एक पवित्र तरन तारन की भी नींव डाली। हर मन्दिर तथा अमृतसर का सुप्रसिद्ध कुण्ड बनवाया। इन्हीं धर्म गुरू पर, उनके अपने ईर्ष्यालु भाई की प्रेरणा से, जहाँगीर ने खुसरो को धन तथा अपनी सहानुभूति से मदद देने के अपराध में राजद्रोह का अभियोग लगाया। अर्जुन सिंह ने साहस के साथ अपनी सफाई दी, किन्तु सम्राट ने उन्हें मृत्यु दण्ड दिया। सिख परम्परा में यह दुखद घटना उन अत्याचारों की एक कड़ी मानी जाती है जो खालसा को मुगलसम्राटों के शासन-काल में सहने पड़े। लेकिन अन्य किसी सिख के पीड़ित तथा अपमानित होने के प्रमाण नहीं मिलते, नहीं उनके धर्म पर कोई प्रतिबन्ध लगाया गया। कुछ अत्याचार केवल इस एक घटना में सीमित होकर रह जाते हैं जिनके पीछे धार्मिक नहीं, राजनीतिक कारण थे।

खुसरो के विद्रोह ने मथुरा तथा अन्य कई जगह उत्पातों को जन्म दे दिया था। इससे प्रोत्साहित होकर फारस के शक्तिशाली शाह ने कंधार के महत्वपूर्ण किले पर अधिकार करने का प्रयत्न किया जिस पर अकबर ने १५९४ में अधिकार कर लिया था। यह किला बहुत दिनों से हिन्दुस्तान के मुगलसम्राटों और फारस के शाहों की लालुप दृष्टि का पात्र बना हुआ था।*

---

* फारस और हिन्दुस्तान, मध्य एशिया और तुर्की से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए कंधार का अन्तर राष्ट्रीय व्यापारिक महत्व था। रण-नीति की दृष्टि

नूरजहाँ

जहाँगीर के शासन-काल की किसी भी घटना ने अपनी ओर इतना अधिक ध्यान नहीं खींचा जितना कि नूरजहाँ के साथ उसके विवाह ने। नूरजहाँ के साथ उसके प्रेम ने पूरे पन्द्रह वर्ष तक न केवल सम्राट को ही वरन् साम्राज्य को भी हलचल में डाले रखा। नूरजहाँ के प्रारम्भिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाली अनेक आकर्षक कथाएँ प्रचलित हैं। लेकिन गम्भीर ऐतिहासिक दृष्टि से उसके जीवन के बारे में निम्न वर्णन उपलब्ध है। नूरजहाँ का दादा फारस के एक सूबे खुरासान के तातार सुलताने बेगलार बेगी का वज़ीर था। १५७७ में उसकी मृत्यु के बाद उसके परिवार का महत्व और प्रतिष्ठा जाती रही। उसका पुत्र गियास बेग, एक कारवाँ के साथ, अपने दो पुत्रों, पत्नी, और लड़की को लेकर हिन्दुस्तान चला आया। रास्ते में डाकुओं ने उसकी समूची सम्पत्ति, उसके दो खच्चरों को छोड़ कर, छीन ली। कंधार में उसकी पत्नी ने नूरजहाँ को (१५७७) में जन्म दिया। नूरजहाँ का जन्म का नाम मेहरुन्निसा था। कारवाँ का नेता मलिक मसऊद नामक एक अमीर सौदागर था। उसे गियास बेग पर दया आ गई। अपने साथ वह उसे आगरा ले गया। यहाँ आकर अकबर से उसका परिचय हुआ। विद्वान और ईमानदार आदमी होने के कारण गियास बेग प्रतिष्ठा के पदों पर उन्नति करता गया। १५९५ तक वह ३०० की मनसबी और काबुल के दीवान का महत्वपूर्ण पद उसे मिल गया। नूरजहाँ अब एक सुन्दर युवती के रूप में परिणत हो गई थी। गियास बेग ने उसे फारस के एक साहसिक व्यक्ति अली कुली को विवाह में दे दिया। अली कुली का सरनाम शेर अफकान* था और वह सलीम के साथ सम्बद्ध था। जहाँगीर जब सिंहासन पर बैठा तो उसने उसे

से भी इसकी स्थिति महत्वपूर्ण थी क्योंकि यहाँ से बोलन दर्रे का नियन्त्रण किया जा सकता था और फारस तथा मध्य एशिया से हिन्दुस्तान पर आक्रमण करने के दो अड्डों में से यह एक था। देखिए सरदार लिखित 'हिस्ट्री आफ औरंगजेब, खंड १ (१९१२), परिच्छेद ७'।

*शब्दार्थ—शेर को पटकने वाला।

बंगाल में एक जागीर दे दी। लेकिन सम्राट को उसकी राजभक्ति में संदेह था, इसलिए उसने बंगाल के सूबेदार कुतुबउद्दीन को आदेश दिया कि शेर अफ़्कन को उसके दरबार में भेज दे। अगर वह इस आदेश का पालन न करे तो उसे समुचित दण्ड दिया जाए। इस आदेश के फलस्वरूप दोनों में जो मुलाकात हुई तो उसमें संघर्ष छिड़ गया जिसमें दोनों ही मारे गए। मेहरुन्निसा, नूरजहाँ का यह नाम था, दरबार में भेज दी गई और वहाँ सम्राट ने उसे सुलतान सलीम बेगम की बाँदी के रूप में रख लिया। मार्च, १६११ में जहाँगीर की नजर संयोग वश बाँदी पर पड़ गई और वह उसके प्रेम में फँस गए। इसके बाद मई के अन्त में, दोनों का विवाह हो गया।

नूरजहाँ का प्रभुत्व

विवाह के समय से लेकर सम्राट की मृत्यु के समय तक नूरजहाँ साम्राज्य के हर अंग का नियंत्रण तथा संचालन करती रही। सम्राट के साथ-साथ फरमानों पर उसके भी हस्ताक्षर होते थे। मुद्राओं तक पर उसका चित्र अंकित होता था। अपने पिता तथा भाई आसफ खाँ को उसने ऊँचे पदों पर पहुँचा दिया। पहले पति से उत्पन्न अपनी कन्या का उसने सम्राट के सब से छोटे पुत्र शहरयार से विवाह कर दिया। अपने निकट सम्बन्धियों की मदद से नूरजहाँ ने दरबार में अपना एक गुट्ट बना लिया और चतुराई के साथ सम्राट तथा साम्राज्य को उसने अपने हाथों में कर लिया।

नूरजहाँ के इस राजनीतिक प्रभुत्व को दो कालों में बाँटा जा सकता है,—पहला १६११ से १६२२ तक का काल जिसमें नूरजहाँ ने शाहजादा ख़ुर्रम बाद में शाहजहाँ से गठबन्धन किया था और दूसरा १६२२ से १६२७ तक का काल जब कि सम्राट पूरी तरह पंगु हो गया था। इस काल में नूरजहाँ और शाहजादा खुर्रम अलग हो गए थे। लेकिन यह सोचना गलत होगा कि सम्राट का प्रभाव बिलकुल शून्य हो गया था। पहली बात तो यह कि देशी और विदेशी नीति के जो सिद्धान्त उसने स्थिर किए थे और शासन संबन्धी जो भी संस्थाएँ काम कर रही थीं, उनमें से एक पर भी आँच नहीं आई। दूसरी बात यह कि जो गुट्ट बना था वह सावधानी के साथ

सम्राट के स्वभाव का अध्ययन करने के बाद काम करता था। सम्राट पर शासन करने के बजाय उसकी सहानुभूति और समर्थन को प्राप्त करके यह गुट्ट काम करता था। तीसरे सम्राट ने सलतनत के मामलों में दिलचस्पी लेना कभी नहीं छोड़ा। वह दिलचस्पी लेता था। और ज़ोरों के साथ, अवसर पड़ने पर गुट्ट के कार्यों में हस्तक्षेप भी करता था।*

नूरजहाँ के प्रभाव और प्रभुत्व की इस वृद्धि से पुराने अमीर-उमरा बहुत जलते थे। इनमें एक मुँहज़ोर महाबत खाँ भी था। वह जहाँगीर की उदासीनता का बड़ा विरोध करता था और इस बात पर ज़ोर देता था कि सम्राट को मलिका के बंधन से अपने को मुक्त करना चाहिए। सम्राट उसके तर्कों से प्रभावित होता था, लेकिन कुछ कर नहीं पाता था। फिर दकन की स्थिति जहाँगीर का ध्यान अपनी ओर खींच रही थी और वह उसी में फँस गया।

यह हम देख ही चुके हैं कि अहमद नगर के राज्य को अपने प्रभुत्व में लाने के लिए अकबर को कितनी साहसपूर्ण कार्यवाही करनी पड़ी थी। अकबर के दकन के युद्धों का कोई निर्णयात्मक परिणाम नहीं निकला। अहमद नगर पर, इसमें सन्देह नहीं, आधिपत्य हो गया; किन्तु उसे साम्राज्य में नहीं मिलाया जा सका। फिर दकन के इस पतन की कमी को पूरा करने तथा उसकी प्रतिष्ठा को फिर से स्थापित करने का बीड़ा एक ऐसे व्यक्ति ने उठा लिया था जो दकन का सब से अधिक योग्य सेनापति था।

दकन का युद्ध और मलिक अम्बर

इस सेनापति का नाम मलिक अम्बर था। वह अबीसीनिया का रहने वाला था और अब दकन में आकर बस गया था। कड़ी मेहनत और अपनी ईमानदारी के बल पर दकन की राजनीति में उसने अपना स्थान बना लिया था और दकन के निज़ामशाही शासकों की परिषद् तक वह पहुँच गया था। अहमद नगर के पतन के बाद उसने राजधानी को खड़की में स्थानान्तरित कर दिया और सिंहासन पर शाही घराने के एक सदस्य को मुर्तज़ा निज़ामशाह

*बेनी प्रसाद, हिस्ट्री आफ जहाँगीर, पृष्ठ १६५.

नाम से सिंहासन पर बैठा दिया। टोडरमल के नमूने पर उसने भी अनेक सुधार अपने राज्य में चालू किए। अहमदनगर की स्वतंत्रता को फिर से प्राप्त करने के लिये वह दृढ़-प्रतिज्ञ था। मराठा घोड़सवारों का मूल्य और महत्व उसने पहचाना और भारी संख्या में उन्हें अपनी सेना में भर्ती कर लिया। जहाँगीर ने फौज पर फौज भेजी मगर अम्बर ने सब को हरा दिया और काफी प्रदेश पर फिर से अधिकार कर लिया। मुगल सेनापतियों की आपसी ईर्ष्या, शाही पदाधिकारियों में कुछ का विश्वासघात और मराठा घोड़सवारों का साहस-पूर्ण आक्रमण मुगलों की विफलता के प्रमुख कारण थे। लेकिन १६१६ में, शाहजहाँ खुर्रम के आक्रमण के सामने, अहमदनगर को फिर समर्पण करना पड़ा। इस विजय के फल स्वरूप उसने शाहजहाँ का लकब धारण किया। बहादुर मलिक अम्बर की १६२६ में मृत्यु हो गई।

मेवाड़ के साथ युद्ध और अमरसिंह का समर्पण

मुगल सैनिकों ने दो अन्य स्थानों में विजय प्राप्त की। राणा प्रताप सिंह के मुगलों से निरन्तर संघर्ष का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। अमरसिंह राणा प्रताप का पुत्र था। मेवाड़ के राणाओं में वह सब से अधिक ऊँचा और शक्ति सम्पन्न था। जहाँगीर ने विरासत में राणा के प्रति घृणा प्राप्त की थी। अपने शासन के पहले वर्ष में ही उसने एक भारी सेना मेवाड़ पर चढ़ाई करने के लिये भेजी। मेवाड़ के राजपूतों जैसी कमी हुई जाति से लोहा लेना आसान नहीं था। आसफ खां, महाबत खां और राजा बसु के नेतृत्व में अनेक बार आक्रमण किए गए मगर कोई विशेष फल न निकला। अन्त में, १६१३ में, शाहजहाँ खुर्रम ने मेवाड़ पर चढ़ाई की। इस आक्रमण का पूरी योग्यता के साथ उसने संचालन किया। सौभाग्य ने भी इस बार उसका साथ नहीं छोड़ा। उसने राजपूतों को पहाड़ों में खदेड़ कर भूखा मारने की योजना बनाई और इसमें वह सफल हुआ। युद्ध से थके राजपूत सरदारों ने अमरसिंह से अनुरोध किया कि संधि कर ली जाए। सख्त अनिच्छा के साथ राणा ने उनकी बात को मान कर मुगल प्रभुत्व के सामने सिर झुकाने का आश्वासन दे

दिया। सम्राट ने जब यह सुना तो उसकी खुशी का पारावार न रहा और हमें सम्राट को इसका श्रेय देना होगा कि उसने अपने पुराने शत्रु का उसकी प्रतिष्ठा के अनुकूल मान तथा आदर किया (१६१४)।

काँगड़ा पर आधिपत्य

इसके बाद जहाँगीर की अगली सैनिक सफलता पंजाब में स्थित काँगड़ा पर उसकी विजय थी (नवम्बर, १६२०)। काँगड़ा का किला अकबर के भी वश में नहीं आ सका था। अपनी इन सफलताओं से उत्साहित जहाँगीर को, दो वर्ष बाद, बेढब आघात लगा जब फारस के शक्ति-सम्पन्न शाह अब्बास ने कंधार पर जबर्दस्ती आधिपत्य कर लिया। जहाँगीर ने इसके लिए भारी आक्रमण की योजना बनाई, किन्तु इसी समय शाहजहाँ के विद्रोह का समाचार भी उसे मिला।

दकन में शाहजहाँ (१६२०-२१)

अहमदनगर की विद्रोही सेनाओं ने मुगल सेना को उत्तर में बुरहानपुर तक खदेड़ दिया था। शाही सेनाओं को पीछे हटने से रोकने तथा उन्हें धीरज बँधाने के लिए सम्राट ने शाहजहाँ को फिर दकन भेजा। वहाँ शाहजहाँ इस शर्त पर गया कि उसके भाई खुसरो को उसे सौंप दिया जाए। शाहजहाँ को डर था कि खुसरो को लेकर नूरजहाँ उसके विरुद्ध कोई चाल न चले। स्थिति इतनी गम्भीर थी कि जहाँगीर ने इस शर्त को मान लिया। कुछ धावों के बाद शाहजहाँ ने शत्रु का समर्पण प्राप्त कर लिया और मलिक अम्बर ने अहमदनगर का घेरा हटा लिया। इस प्रकार शाहजहाँ की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई, किन्तु इसके साथ ही एक गम्भीर संकट भी उत्पन्न हो गया। इस संकट की पृष्ठ भूमि को पहचानने के लिए शाही घराने के षड्यन्त्र और प्रतिद्वन्द्व तथा मुगल इतिहास पर उनके प्रभाव को देखना होगा।

जहाँगीर के पुत्र

जहाँगीर के चार पुत्र थे। सुविख्यात खुसरो इनमें सबसे बड़ा था। उसका जीवन कैदखाने में सड़ते बीता और अन्त में वह मार

डाला गया (१६२२)। कहा जाता है कि उसकी हत्या के पीछे शाहजहाँ का हाथ था। उसकी मृत्यु के साथ सिंहासन का एक प्रमुख दावेदार हट गया। दूसरे पुत्र का नाम परवेज था। वह एक बहादुर योद्धा था, किन्तु शराब की लत उसे पड़ गई थी। तीसरा पुत्र शाहज़ादा खुर्रम, सरनाम शाहजहाँ था जो सबसे अधिक योग्य था। उसने नूरजहाँ की एक भतीजी मुमताज महल से विवाह किया था। मुमताज आसफ खाँ, नूरजहाँ के भाई, की लड़की थी। सम्राट के चौथे और अन्तिम पुत्र का नाम शहरयार था। उसने नूरजहाँ के पहले पति शेर अफकून से उत्पन्न कन्या से विवाह किया था। मलिका ने शाही दरबार की राजनीति को कुछ इस प्रकार अपने हाथ में कर लिया था और इस उद्देश्य को सामने रख कर वह चल रही थी कि सिंहासन का हकदार उसका दामाद शहरयार हो जाए। दूसरी ओर आसफ खाँ यद्यपि प्रत्यक्षतः अपनी बहिन के साथ मालूम होता था, किन्तु गुप्त रूप से वह अपने दामाद शाहजहाँ के लिए प्रयत्न कर रहा था।

शाहजादा खुर्रम और नूरजहाँ की प्रतिद्वन्द्विता

यह हम पहले ही बता चुके हैं कि १६२२ तक नूरजहाँ और शाहजहाँ में मेल बना रहा। इसी वर्ष शहरयार और नूरजहाँ की कन्या के बीच विवाह हो गया। इस विवाह ने स्थिति में बहुत कुछ परिवर्तन कर दिया और शाहजहाँ, इसके बाद से, नूरजहाँ की आँख का काँटा बन गया। खुद शाहजहाँ के हृदय में भी नूरजहाँ के इरादों के प्रति सन्देह उत्पन्न हो गया था। इसीलिए उसने कंधार के विरुद्ध चढ़ाई करने से इन्कार कर दिया। उसे डर था कि जहाँगीर तो बीमार रहता है. उसकी अनुपस्थिति में सिंहासन पर उसका हक कहीं खटाई में न पड़ जाए। न केवल उसने कंधार पर चढ़ाई करने से इन्कार कर दिया, वरन् उसने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह का झंडा भी ऊँचा उठा लिया। नूरजहाँ का गुट्ट फूट का शिकार होना

* खुसरो की मृत्यु-सम्बन्धी विवरण के लिए देखिए बी० पी० सक्सेना लिखित "शाहजहाँ आफ दिल्ली", (१९३२) पृष्ट ३५।

शुरू हो गया था। उसका पिता मर चुका था और उसका भाई, सुयोग्य आसफ़ खाँ, अपने दामाद शाहजहाँ की गुप्त आकांक्षा का समर्थन करता था और शहरयार का विरोधी था। लेकिन वह समय की प्रतीक्षा करता रहा और प्रत्यक्षतः मलिका का समर्थक बना रहा।

शाहजहाँ का विद्रोह (१६२३ १६२५)

शाहजहाँ के कुछ अनुयायी और समर्थक थे। उनकी मदद से उसने दिल्ली पर चढ़ाई कर दी, किन्तु बलोचपुर के निकट—उसके दक्षिण में—उसे पराजित होना पड़ा और मालवा होकर दकन में उसे खदेड़ दिया गया। वहाँ से, तेलंगाना होते हुए, वह बंगाल और बिहार की ओर बढ़ा और रोहतास के मजबूत किले पर उसने आधिपत्य कर लिया। इसके सिवा उसने इलाहाबाद पर भी आक्रमण करने की योजना बनाई थी। बिहार और बंगाल में शाहजहाँ कुछ दिनों तक जमा रहा, किन्तु महाबत खाँ और शाहजादा परवेज़ के नेतृत्व में मुगल सेनाओं ने उसे फिर दकन में खदेड़ दिया। दकन में अपने पूर्व शत्रु मलिक अम्बर से गठबन्धन करके उसने अपनी स्थिति को मजबूत बना लिया। इसी अवसर पर नूरजहाँ ने—कारणों पर हम अभी प्रकाश डालेंगे—शाहजहाँ को क्षमा करते हुए उससे सुलह करने का प्रस्ताव रखा। शर्त यह थी कि वह रोहतास और असीर के गढ़ों को समर्पित करदे और अपने दो पुत्रों, दारा और औरंगजेब—को दरबार को हिरासत में दे दे। शाहजहाँ ने इन शर्तों को मान लिया,—वह स्वयं इसके लिए उत्सुक था,—और खुद दकन में ही बना रहा। "इस प्रकार उस गृह युद्ध का अन्त हो गया जो तीन वर्ष से चल रहा था, जिसमें लाखों का धन स्वाहा हो गया था और जिसने समूचे साम्राज्य को अस्त व्यस्त-सा कर दिया था, अनेक बहादुर इस गृह-युद्ध की भेंट चढ़ गए थे और अफ़गानिस्तान, उत्तर-पश्चिमी सीमा तथा दकन में सल्तनत के हितों को भारी आघात पहुँचा था।"*

---

* बेनी प्रसाद, हिस्ट्री आफ़ जहाँगीर, पृष्ठ ३६५।

तीसरा परिच्छेद

महावत खाँ का षड्यन्त्र

नूरजहाँ के सन्धि के आकस्मिक प्रस्ताव का कारण महावत खाँ था। वह दिन-दिन शक्तिशाली होता जा रहा था और, १६२५ में, शाहज़ादा परवेज़ के साथ उसने गठबन्धन कर लिया था। नूरजहाँ को यह समझने में देर नहीं लगी कि महावत खाँ शहरयार को सिंहासन पर बैठाने की उसकी योजना को धूल में मिला देगा। फलतः उसने महावत खाँ को वापिस दरबार में आने का आदेश दिया। महावत ने इस आदेश में अपने सर्वनाश के सुनियोजित षड्यन्त्र का आभास अनुभव किया। उसने शाही फ़रमान आदेश का उल्लंघन तो नहीं किया,—वह दरबार में हाजिर होने के लिए चला, मगर अपने पाँच हजार राजपूत अनुयायियों को साथ लेकर। सम्राट उस समय झेलम के तट पर, काबुल जाते समय, पड़ाव डाले हुए था। सर्वथा अप्रत्याशित रूप में महावत खाँ ने सम्राट के पड़ाव को घेर लिया। शाही रक्षक उस समय नदी के दूसरे तट पर थे। इसके बाद, लगभग सौ दिनों तक, महावत खाँ ने सम्राट को अपना बन्दी बनाए रखा। नूरजहाँ ने अपने को बचा लिया और सम्राट को छुड़ाने के लिए उसने कोई कसर न उठा रखी और अन्त में सफलता प्राप्त की महावत खाँ के चंगुल से सम्राट को नूरजहाँ ने कैसे मुक्त कराया, कितनी बहादुरी और बुद्धिमत्ता का उसने परिचय दिया, इसका पूरा विवरण देना यहाँ सम्भव नहीं। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उसने महावत खाँ के इरादों को धूल में मिला दिया। अपनी चतुराई और कूटनीति से नूरजहाँ ने महावत खाँ को उसी की जमीन पर पराजित कर दिया। झगड़े की जड़ शाहज़ादा परवेज मारा गया,—सन्देह किया जाता है कि शाहजहाँ ने उसे जहर दे दिया था।

जहाँगीर की मृत्यु

महावत खाँ के चंगुल से मुक्त होने के कुछ ही मास बाद सम्राट जहाँगीर की, २८ अक्टूबर १६२७ को, पंजाब में भीमभार के निकट

स्थित चंगेज हट्टली में मृत्यु हो गई।* लाहौर में, नूरजहाँ द्वारा बनवाए गए शानदार मकबरे में, सम्राट दफ़ना दिया गया।

शासन की उपलब्धियाँ

जहाँगीर के चरित्र और शासन की उपलब्धियों के सम्बन्ध में इतिहासइतिहास-लेखकों ने भिन्न मत प्रकट किए हैं। हाकिन्स और रोवर्ग के इति लेखकों ने उसे शराबी, बद, कमजोर और क्रूर सम्राट कहा है। लेकिन यह पूर्ण सत्य नहीं है। खुद सम्राट ने अपने संस्मरणों* में अपने हाला-प्रेम का उल्लेख किया है। कभी-कभी वह घातक कृत्य भी कर डालता था। लेकिन वैसे वह अपनी मानवता, सहृदयता और खुली बुद्धि के लिए उल्लेखनीय था। उसके धार्मिक विचारों का पता लगाना सहज नहीं है। वह कट्टरपंथी मुसलमान नहीं था, नहीं वह प्रचलित हिन्दू-धर्म को पसन्द करता था। ईसा का जन्म, गरावी और बलिदान उसकी समझ से बाहर थे। सूफी मत और वेदान्त की उसके मस्तिष्क पर भारी छाप पड़ी थी। वह एक सच्चे खुदा की बात सोचता था और सन्तों तथा फकीरों का सम्पर्क उसे अच्छा लगता था। उसकी सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि वह उन्हीं का होकर रह जाता था जो उसे चाहते और उसकी खुशामद करते थे। "कुल मिलाकर जहाँगीर

---

* पंजाब के आज के गुजरात जिला की सीमा के कुछ उस पार यह जगह है।

* अकबर नामा की तरह यह पुस्तक भी अत्यन्त मूल्यवान है और अपने काल का सजीव चित्र पेश करती है। बाबर और जहाँगीर के संस्मरण सीजर के गैलिक युद्धों से कहीं अधिक मानवीय तथा तथ्यों से पूर्ण हैं। संस्मरणों में सम्राट ने अपना जो चित्र प्रस्तुत किया है, उसका एक अपना आकर्षण तथा महत्व है,—सम्राट का असली मानवीय रूप उसमें प्रकट होता है। ये संस्मरण खुद सम्राट ने अपने शासन के सत्रहवें वर्ष तक लिखे थे। इसके बाद संस्मरणों की कड़ी को एक शाही इतिहास लेखक ने कुछ काल तक जारी रखा और सम्राट की मृत्यु के समय तक का विवरण अपने ग्रन्थ में शब्द-बद्ध कर दिया। देखिए राजर्स और बीवरिज द्वारा अनुवादित उपर्युक्त संस्मरण, दो खंड, भूमिका।

का शासन," एक सुविज्ञ इतिहास-लेखक ने लिखा है—"साम्राज्य के लिए शान्ति और सम्पन्नता प्रदान करने वाला था। उसके संरक्षण में उद्योग और व्यापार की उन्नति हुई; स्थापत्य-कला आगे बढ़ी; चित्र-कला अपने उच्चतम शिखर पर पहुँच गई × × × फारसी और देशी भाषाओं के कतिपय देश-भर में फैले कवियों की सम्मिलित उपलब्धियों ने मध्यकालीन साहित्य में चार चाँद लगा दिए।"

हाकिन्स और रो

जहाँगीर के काल में दो अंग्रेज—कैप्टन हाकिन्स और सर थामस रो इंगलैंड के सम्राट जेम्स प्रथम का परवाने लेकर आए थे। कैप्टन हाकिन्स अगस्त १६०८ में सूरत के बन्दरगाह पर आकर उतरा था। उसे पुर्तगीजों के गहरे विरोध का सामना करना पड़ा, क्योंकि वे भारतीय समुद्र में अंग्रेजों के हस्तक्षेप के प्रति बहुत सतर्क थे। हाकिन्स ने सम्राट के दरबार तक पहुँचने में सफलता प्राप्त कर ली और सम्राट ने उसकी सभी माँगों को मान लिया। किन्तु पुर्तगीजों की चालों के कारण,—भारतीय तट उन दिनों उन्हीं की देख-रेख में थे और मक्का जाने वाले यात्रियों के जहाजों की रक्षा का भार भी उन्हीं पर था—व्यापारिक सम्बंधी अधिकांश सुविधाएँ जो दी गई थीं, वापिस ले ली गईं। इसके सात वर्ष बाद सर थामस रो मुगल दरबार में पहुँचा। वह इंगलैंड के जेम्स प्रथम का राजदूत बन कर आया था। उसके साथ एडवर्ड टैरी नामक एक अंग्रेज पादरी भी था। रो ने अपने देश के लिए काफी व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त कर लीं। रो का विवरण अधिक विस्तृत और मुगल दरबार की घटनाओं से पूर्ण है। दक्कन के युद्ध उत्तराधिकार सम्बंधी षडयंत्र, शाहजहाँ की शक्ति और प्रभाव के विकास आदि का वर्णन उसने किया है। सम्राट और उसके पुत्रों के, आसफखाँ और सबसे बढ़ कर शाहजहाँ के सुन्दर शब्द-चित्र उसने खींचे हैं। ठंडा दिमाग और दम्भी स्वभाव—अपनी सम्पूर्ण शान के साथ शाहजहाँ का, आगरा और दिल्ली के कुशल निर्माता का, चित्र सर थामस रोने अपने ग्रंथ में प्रस्तुत किया है। मुगल दरबार के सम्बंध में अपनी

जानकारी के लिए हम इन दोनों सज्जनों के बहुमूल्य वर्णनों के ऋणी हैं। *

[२]

शाहजहाँ का शासन काल (१६२८ १६५६)

अक्टूबर १६२७ में जहाँगीर की मृत्यु के समय शाहजहाँ दकन में और शहरयार आगरा में था। अपनी सास नूरजहाँ से मिलने शहरयार तुरन्त लाहौर पहुँच गया। उसे उम्मीद थी कि नूरजहाँ की मदद से वह सिंहासन तक पहुँच जाएगा। लेकिन उसकी यह उम्मीद हवाई सिद्ध हुई। जहाँगीर के योग्यतम पुत्र शाहजहाँ के हित आसफ खाँ के हाथों में सुरक्षित थे। शाहजहाँ के आगमन तक आसफ खाँ ने खुसरो के एक पुत्र दावर बख्श को कठपुतली बना कर सिंहासन पर बैठा दिया। शाहजहाँ भी अविलम्ब आगरा पहुँच गया, मुक्त हस्त हो उसने सोना बाँटा और सेना तथा अमीर-उमराओं को अपनी ओर कर लिया। कठपुतली शाह दावर बख्श संक्षेप में जो बुलाकी कहलाता था, एक ओर कर दिया गया। और शहरयार की आँखें फोड़ कर उसे अंधा बना दिया गया। इस प्रकार, फरवरी १६२८ में, शाहजहाँ सिंहासन पर बैठा।

विद्रोहों का दमन

शाहजहाँ के शासन-काल की पहली घटना एक तो बुन्देल राजपूतों के विद्रोह का दमन और दूसरी खान जहाँ लोदी का दमन। खान जहाँ लोदी अधिक कठोर सिद्ध हुआ। वह एक अफगान था, इसलिए हिन्दुस्तान में मुगलों का प्रभुत्व उसके लिए असह्य था। अहमदनगर के सुलतान के साथ मिल कर तीन साल तक वह मुगल सत्ता की उपेक्षा करता रहा। अन्त में मुगल सेनाओं ने उसका पीछा किया और बुन्देलखण्ड तथा गोन्दवाना पार कर, दकन में गहरे युद्ध के बाद, वह पराजित हुआ और मारा

---

* देखिए डबल्यू फौस्टर द्वारा सम्पादित "दि एम्बेसी आफ सर थामस रो" (१६२६ ; सी० एफ० ओटन कृत "ट्रैवल्स इन इण्डिया" (१६०१), परिच्छेद ८; और डबल्यू फौस्टर लिखित "अर्ली ट्रैवल्स इन इण्डिया" १६२१ जिसमें हाकिन्स तथा दूसरे अंग्रेज यात्रियों का वर्णन किया गया है।

गया। उसकी पराजय और मृत्यु ने अहमदनगर के ह्रासोन्मुखी राज्य के पतन की गति को अधिक तेज कर दिया।

बुन्देल खंड के जुझार सिंह के दमन में भी, इसी प्रकार, शाहजहाँ को कुछ कठिनाई का सामना करना पड़ा। बुन्देल खंड के प्रमुख किले पर शाहजहाँ ने अधिकार कर लिया और ओड़छा का शानदार मन्दिर नष्ट कर दिया गया; लेकिन राजपूत हृदय से मुगलों के प्रति विद्रोही बने रहे।

मुमताजमहल

घटनाक्रम की दृष्टि से शाहजहाँ के शासन की अगली घटना उसकी प्रिय पत्नी और आसफ खाँ की कन्या मुमताज महल की मृत्यु था। प्रसव-पीड़ा में, ७ जून १६३१ को, उसकी मृत्यु हो गई। वह अपने को अत्यधिक चाहती थी। उसके चौदह सन्तान हुई। उसकी मृत्यु का सम्राट पर इतना प्रभाव पड़ा कि अगर बादशाहत एक ऐसी पवित्र थाती न होती जिसे इच्छानुसार नहीं छोड़ा जा सकता तो वह अपने शेष जीवन को फकीरी में बिता देता। * पहले उसे बुरहानपुर में दफनाया गया था, किन्तु बाद में उसके अवशेष आगरा स्थानान्तरित कर दिए गए और उसके दुःखी पति ने अति सुन्दर मकबरा, ताजमहल बनवाया जो संसार की श्रेष्ठतम और बहुमूल्य इमारतों में से एक है।†

* जे० सरकार, स्टडीज इन मुगल इण्डिया, (१९१९), पृष्ठ २७।

† ताजमहल का निर्माण १६३२ में शुरू होकर १६४३ में पूर्ण हुआ। इस पर पचास लाख से अधिक की लागत आई। बीस तरह के बहुमूल्य पत्थर इसमें लगाए गए थे। शाहजहाँ ने केवल ताज का ही निर्माण नहीं किया, वरन आगरा और नगरचीन परगना के तीस गाँवों को, जिनकी आय एक लाख होती थी और मकबरे के पास की सरायों तथा दुकानों को—इनकी भी एक लाख के करीब किराये की आय होती थी—ताज की देख-भाल और उसमें बसने वाले पवित्र व्यक्तियों के खर्च के लिए वक्फ कर दी [देखिए स्टडीज़ इन मुगल इण्डिया पृष्ठ २२] ताज को जिसने भी देखा उसकी प्रशंसा की। किसी ने ठीक ही कहा है कि "संगमर्मर के सहारे सपना साकार हो उठा है। इसकी डिजाइन टाइटनों ने बनाया था और जौहरियों ने इसे पूर्ण किया।"

बंगाल के पुर्तगीजों को दण्ड

मुमताज महल की मृत्यु के बाद पुर्तगीजों का जो अपनी व्यापारिक सुविधाओं का नाजायज लाभ उठा रहे थे, सम्राट ने बुरी तरह दमन किया (१६३१)। हुगली में पुर्तगीजों ने अपने चुंगीघर स्थापित कर लिए थे और तमाखू पर कर लगा दिया था जिसकी हिन्द में उन दिनों भारी खपत होती थी, बल्कि उन्होंने गुलामों का निन्दनीय व्यापार भी शुरू कर दिया था। वे हिन्दू और मुसलमान लड़कों को भगा कर ले जाते थे और उन्हें जबर्दस्ती ईसाई बना लेते थे। नतीजा यह हुआ कि दम्भी और उद्धत पुर्तगीजों को शाहजहाँ के क्रोध का शिकार होना पड़ा। शाहजहाँ ने उनकी बस्ती को नष्ट करने का आदेश दे दिया। कुछ समय तक पुर्तगीजों के छोटे से गुट्ट ने मुगल सेनाओं का विरोध किया, किन्तु अन्त में उन्हें पस्त हो जाना पड़ा (१६३२)। हुगली को नष्ट कर दिया गया और पुर्तगीज बन्दियों को अमानवीय यंत्रणाएँ दी गईं। कहा जाता है कि यह यंत्रणाएँ सम्राट की धर्मांधता का नतीजा थीं। पुर्तगीजों की लूट, धर्म परिवर्तन करने में उनकी सीना-जोरी और उनके दूसरे कृत्यों ने सम्राट का इतना क्रूर बनने के लिए उत्तेजित कर दिया था। बंगाल में पुर्तगीजों के प्रभाव के नाश के साथ-साथ सम्राट की धर्मांधता और धार्मिक असहनशीलता का दौर शुरू होता है।

दक्षिण की स्थिति

पुर्तगीजों से निबटने के बाद शाहजहाँ का ध्यान दक्षिण की ओर गया। उसके पूर्वज मुगल सम्राटों की यह नीति थी कि वे समूचे प्रदेशों को अपने साम्राज्य में मिला कर ही सन्तोष करते थे। अकबर ने अपनी पूरी शक्ति लगा दी; मगर वह अहमदनगर से सम्बद्ध कुछ इलाकों को साम्राज्य में मिलाने से अधिक और कुछ नहीं कर सका। जहाँगीर के शासन-काल में मलिक अम्बर ने इन

[देखिए हैवल्स "इण्डियन आर्कीटेक्चर, परिच्छेद २ और वी० ए० स्मिथ लिखित" ए हिस्ट्री आफ फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन, पृष्ठ १८३।]

इलाकों पर भी फिर से अधिकार कर लिया था। इस अबीसीनिया-निवासी मलिक अम्बर के विरुद्ध ही शाहजहाँ ने, जब कि वह शाहजादा था, चढ़ाई करके कुछ सफलता प्राप्त की थी। जहाँगीर के शासन-काल के अन्तिम संकटपूर्ण दिनों में अहमदनगर के शासक ने दक्षिण के मुगल शासक खानजहाँ से बालाघाट तथा अन्य इलाके प्राप्त कर लिए थे और अब वह, विद्रोही खानजहाँ के साथ मिल कर, खुले रूप में शाही सत्ता की उपेक्षा करने लगा था। सिंहासन पर बैठते ही शाहजहाँ ने समूचे दक्षिण पर आधिपत्य करने का निश्चय कर लिया। सौभाग्य से मलिक अम्बर का एक पुत्र फतेह खाँ—भ्रष्ट और विश्वासघाती अमीर—इन दिनों अहमद नगर का नेता बना हुआ था। शाही अधिकारियों ने उसे घूस दे कर अहमदनगर के शासक की हत्या करा दी। मुगलों ने कितने ही मराठा सरदारों को भी घूस देकर अहमदनगर का साथ छोड़ने के लिए तैयार कर लिया। इस प्रकार १६३२ तक अहमद नगर राज्य मृतप्राय हो गया; लेकिन बीजापुर उसे अपनी मदद से पुनर्जीवित करना चाहता था। फतेह खाँ पर कुछ विश्वास नहीं किया जा सकता था और शाह जी नामक एक मराठा सरदार जुन्नेर और आस-पास के जिलों में, ह्रासोन्मुखी राज्य के नाम पर अभी तक अपनी सत्ता बनाए हुए था।

औरंगजेब दक्षिण का वाइसराय (१६३६-४७)

अकबर और जहाँगीर के शासन-काल में बीजापुर और गोल कुण्डा स्वतंत्र बने रहे। अब बीजापुर का सुलतान शक्तिशाली मुहम्मद आदिलशाह था। अपनी सेना में उसने मराठा दलों को भर्ती कर रक्खा था और आस पास के इलाकों के लिये वह एक मुसीबत बन गया था। शाहजहाँ ने इन दोनों ही राज्यों से आत्म समर्पण की माँग की। गोलकुण्डा तो तुरन्त तैयार हो गया, लेकिन बीजापुर तैयार नहीं हुआ। शाहजहाँ ने उसके विरुद्ध निर्भय युद्ध छेड़ दिया और १६३६ में आदिल शाह को संधि के लिए बाध्य कर दिया। शाही सेनापति महावत खां ने पूरी कठोरता के साथ आक्रमण का नेतृत्व किया और खुद शाहजहाँ ने भी दूसरी

बार फिर दक्षिण की ओर प्रस्थान किया। मुगल सत्ता के प्रति भक्ति दिखाने का सुलतान ने आश्वासन दिया और भविष्य में मराठों को अपनी सेना में भर्ती न करने का वचन दिया। इस प्रकार समूचे दक्षिण पर मुगलों का आधिपत्य स्थापित हो गया। अधिकृत प्रदेशों को चार सूबों में विभाजित कर दिया गया—खानदेश, बरार, तैलंगाना और दौलताबाद,। शाहजहाँ का तीसरा पुत्र औरंगजेब इन का अधिपति नियुक्त कर दिया गया। बीजापुर ने मुगल प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया और गोलकुण्डा सम्बन्धी सभी झगड़ों में सम्राट के निर्णय को मानने का वचन दिया। औरंगजेब ने इन दोनों राज्यों पर आधिपत्य करने की नीति को आगे बढ़ाने का निश्चय किया।

सीमांत की राजनीति

काबुल के उत्तर में स्थित बादशाह खाँ और बल्क के इलाकों पर फिर से आधिपत्य करने की शाहजहाँ की आकांक्षा थी। इन पर आधिपत्य करके वह समरकंद पर आधिपत्य करने के मार्ग को साफ करना चाहता था। इन इलाकों की अराजकता से लाभ उठा कर शाहजादा मुराद के नेतृत्व में शाहजहाँ ने भारी सेना को रवाना कर दिया। कंधार के साथ विश्वासघात करके फारस का एक सेनापति अली मरदनखाँ मुगल दरबार में भाग आया था। उसे भी शाहजहाँ ने इस सेना के साथ भेजा। बल्ख और बादशाह खाँ पर आसानी से आधिपत्य हो गया। मुगलों के सामने यातायात के साधनों की रक्षा करना जरूरी था। यातायात की पांत काफी लम्बी थी और हिन्दूकुश के दुर्गम दर्रों में से होकर जाती थी। उत्तर की ओर बढ़ने वाले उजबेग लोगों के बढ़ाव को रोकने की समस्या भी मुगलों के सामने थी। तातार लुटेरों के धावों पर भी अंकुश रखना आसान न था। १६४७ में बादशाह खाँ और बल्ख के दोनों सूबों का भार औरंगजेब को सौंप दिया गया। औरंगबेज ने देखा कि यहाँ उसकी स्थिति सुरक्षित नहीं है। इसलिये समझ से काम लेकर वह काबुल लौट आया। काबुल आने में उसे उजबेगों से भयानक और लम्बा संघर्ष करना पड़ा। साम्राज्य विस्तार की इस योजना में चार करोड़ से अधिक के खर्च का भार शाही खजाने को सहना पड़ा।

तीसरा परिच्छेद

कंधार

इसके बाद औरंगजेब को कंधार के विरुद्ध लगाया गया। कंधार का एक अपना रोचक इतिहास था। मध्यकाल में यह एक महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय मंडी का स्थान रखता था। युद्ध की दृष्टि से भी इसकी स्थिति उतनी ही महत्वपूर्ण थी। यहाँ से काबुल पर सहज ही आक्रमण किया जा सकता था। भारत में प्रवेश करने के दो द्वारों में से यह एक था। फारस या मध्य एशिया की सेनाएँ इसे अपना आधार बना कर हिन्दुस्तान पर आक्रमण कर सकती थी। * बाबर कंधार की दोहरी उपयोगिता को समझता था। इसीलिए दृढ़ता के साथ उसने उस पर अपना आधिपत्य बनाए रखा। १५३० में उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्र शाहजादा कामरान के के आधिपत्य में यह चला गया। जब हुमायूँ ने फारस के शाह की शरण ली तो उसने इस शर्त पर हुमायूं को मदद देना स्वीकार किया कि कंधार उसे लौटा दिया जायगा। हुमायूं ने कंधार पर आधिपत्य तो कर लिया, पर फारस के शाह को उसे नहीं लौटाया। १५५८ में फारस का कंधार पर फिर आधिपत्य हो गया। अकबर को भी कंधार का महत्व समझने में देर नहीं लगी और उसके शासन काल में यह मुगलों के आधिपत्य में आ गया। अभागे जहाँगीर के हाथों से कंधार फिर निकल गया जैसा कि हम पहले बता चुके हैं। फारस के शाह अब्बास महान ने इस पर फिर अधिकार कर लिया। इसके बाद जब शाहजहाँ सिंहासन पर बैठा तो उसी समय कंधार फारस के सेनापति अली मरदानखां के चार्ज में था। वह अपने शाह की व्यवस्था से असन्तुष्ट था। १६३८ में उसने कंधार को शाहजहाँ के एक पदाधिकारी को सौंप दिया और खुद शाहजहाँ के यहाँ नौकरी करने लगा। शाहजहाँ ने इसे एक बहुत ही शुभ तथा उज्ज्वल घटना समझा,—विशेष रूप से इसलिए कि इसके बाद ही दक्षिण में भी उसे सफलता मिली। १६४८ में फारस ने एक बार फिर कंधार

* उस काल में जब कि काबुल दिल्ली की सल्तनत का एक हिस्सा था, कंधार हमारे लिये पहली अनिवार्य रक्षा-प्रांत का महत्व रखता था। एन० सरकार लिखित हिस्ट्री आफ औरंगजेब खंड २, पृष्ठ १२६ और पृष्ठ ४१।

पर अधिकार करने का प्रयत्न किया। उसके इस प्रयत्न को विफल करने के लिए ही शाहजहाँ ने औरंगज़ेब और अली मरदन खां को, भारी सेना के साथ, भेजा था। लेकिन औरंगजेब के पहुँचने से पहले से ही कंधार पर फारस का आधिपत्य हो चुका था। (फरवरी १६४६)। १६५२ में औरंगजेब ने फिर कंधार के विरुद्ध चढ़ाई की, मगर सफलता नहीं मिली। इसी बीच सम्राट के प्रिय पुत्र शाहजादा दारा ने गर्व से कहा कि वह कंधार पर आधिपत्य कर सकता है। तीसरी बार दारा के नेतृत्व में चढ़ाई की गई, मगर उसे भी अन्त में अपना घेरा उठा लेना पड़ा (१६५३)। कंधार के हाथ से निकल जाने का दुःख सम्राट के तीन पुत्रों के नेतृत्व में होने वाले आक्रमणों की विफलता के कारण और भी घनीभूत हो उठा। *

कंधार का सबक

डाक्टर स्मिथ के अनुसार इन आक्रमणों में शाही खजाने का १२ करोड़ से अधिक रुपया खर्च हुआ। लेकिन इन आक्रमणों से शिक्षा भी मिली और पता चला कि इतनी दूर दिल्ली में बैठकर कंधार जैसे पहाड़ी प्रदेश पर आधिपत्य बनाए रखना असम्भव है। इन आक्रमणों के दौरान में सैनिकों ने औरंगजेब की बहादुरी और स्थिरता को अपनी आँखों से देखा और सहज ही वह औरंगजेब के रूप में अपने भावी सम्राट के दर्शन करने लगे।

औरंगजेब दूसरी बार दक्षिण का अधिपति (१६५३—५८)

कंधार पर आक्रमणों की विफलता के बाद औरंगजेब को दोबारा दक्षिण का वाइसराय नियुक्त कर दिया गया। औरंगज़ेब ने अपने शासन-काल मे माल-सम्बन्धी अनेक सुधार चालू किए। इस काम में उसके योग्य माल मंत्री मुरशीद अली खां ने उसे बहुत

* कंधार के विरुद्ध आक्रमणों के विवरण के लिये देखिए सरकार लिखित "हिस्ट्री आफ औरंगज़ेब", खण्ड १, परिच्छेद सात और आठ, बी० पी० सकसेना लिखित "हिस्ट्री आफ शाहजहाँ आफ दिल्ली", परिच्छेद आठ और नौ भी देखिए।

मदद दी। टोडरमल की प्रणाली के अनुसार दक्षिण में नया बन्दोबस्त किया गया। राज्य की आय बढ़ाने के लिये भी इन सुधारों को चालू करना जरूरी था क्योंकि दीवानी और सैनिक शासन का खर्च बहुत बढ़ गया था। इसी समय औरंगजेब का कट्टर रूप दिखाई देना शुरू हुआ। धार्मिक असहनशीलता और राजपूतों के प्रति उसकी घृणा उच्चतर सतह पर आगई। अपने नाम पर उसने औरंगाबाद बसाया। यह दक्षिण मुगलों की राजधानी बन गयी। उसके और सम्राट के बीच भी अनेक भ्रान्तियां उत्पन्न हो गई थीं। ये भ्रांतियां ही उस कटुता के पीछे थीं जो उत्तराधिकार सम्बन्धी उसके प्रयत्नों में दिखाई देती थीं।

बीजापुर और गोलकुण्डा के विरुद्ध आक्रमण

बीजापुर और गोलकुण्डा के अर्द्ध-स्वतंत्र राज्यों का अन्त करने की अपनी आकांक्षा को कार्यरूप में परिणत करने के लिए औरंगजेब इस बीच प्रयत्नशील था। फारस के एक साहसी व्यक्ति मीरजुमला की मदद से, जो कि गोलकुण्डा के वजीर के पद तक पहुँच गया था और जिसने करनाटक के तटवर्ती विस्तृत प्रदेश को जीता था, १६५६ में औरंगजेब ने गोलकुण्डा को घेर लिया। अगर शाहजहाँ ने हस्तक्षेप न किया होता तो गोलकुण्डा का अस्तित्व ही मिट जाता। लेकिन जो स्थिति थी, उसमें अन्त में संधि का सहारा लेना पड़ा जिसके अनुसार सुलतान ने भारी जुरमाना और कुछ जिलों को देना स्वीकार कर लिया। देवगढ़ के सम्पन्न गोंड राज्य के विरुद्ध भी औरंगजेब ने चढ़ाई की और उसे भी आत्म-समर्पण करने के लिये बाध्य कर दिया (१६५५)।

बीदर और कल्याणी पर विजय

इसके बाद में औरंगजेब ने बीजापुर पर आक्रमण किया। १६५७ में बीदर और कल्याणी पर आधिपत्य हो गया और समूचे प्रदेश को लूट-मार का शिकार होना पड़ा। मीरजुमला, जिसका दिल्ली में अच्छा स्वागत और मान हुआ था, अतिरिक्त सेना के साथ औरंगजेब के साथ आ मिला। बीदर और कल्याणी के पतन से

बीजापुर पर आक्रमण का मार्ग साफ हो गया। लेकिन सहसा शाहजहाँ ने, जिसके मस्तिष्क को बीजापुर के दूतों और अपने छोटे भाई को ईर्ष्या से देखने वाले शाहजादा द्वारा बदल दिया था; बीजापुर से तुरत संधि करने का आदेश दे दिया। इस प्रकार बिना कुछ सफलता प्राप्त किए, औरंगजेब को युद्ध बन्द कर देना पड़ा।

शाहजहाँ के चारों पुत्र

१६२७ में शाहजहाँ सहसा बीमार पड़ गया। इस बीमारी का संकेत पाते ही सम्राट के चारों पुत्रों में संघर्ष छिड़ गया। सबसे बड़ा पुत्र दारा शाहजहाँ का प्रिय था। उस पर मृत्यु के निकट पहुँचे हुए सम्राट ने हर सम्भव प्रतिष्ठा की वर्षा की थी। वह पंजाब और उत्तरी-पश्चिमी सूबों का अधिपति नियुक्त कर दिया गया था; किन्तु इन सूबों का शासन वह अपने एजेंटों के द्वारा चलाता था और स्वयं सम्राट के साथ रह कर अपना समय बिताता था। बीमारी के दिनों में उसने सम्राट की बड़ी लगन के साथ सेवा की। दारा योग्य और चतुर था, किन्तु उसका स्वभाव हिंस्र, तौर-तरीके दम्भ से भरे हुए और सब से बढ़ कर यह कि अपने आगे वह किसी की नहीं मानता था। धार्मिक दृष्टि से वह पक्का मुसलमान नहीं था, बल्कि वह रहस्यवादी था और उपनिषदों को पसन्द करता था जिन्हें वह कुरान से पहले प्राप्त-ज्ञान का स्रोत' करता था।

शुजा शाहजहाँ का दूसरा पुत्र था। वह बंगाल का सूबेदार था। आलसी और निष्क्रिय,—कोई' काम वह चुस्ती के साथ नहीं कर सकता था। सैनिक वह अच्छा था, किन्तु अपनी विजयों से लाभ उठाना नहीं जानता था। शिया था।

तीसरा पुत्र औरंगजेब था। उसका स्वभाव शान्त था और ठण्डे मस्तिष्क से वह काम करता था। कूटनीति और चालाकी में तेज होने के कारण योग्यता में वह सभी भाइयों से आगे बढ़ा हुआ था। उसकी इच्छा शक्ति लोहे की तरह मजबूत और कठोर थी। अपना काम निकालने की कला में वह दक्ष था। वह जैसे कि हम पहले बता चुके हैं, दक्षिण का वाइसराय था। धार्मिक दृष्टि से वह कट्टर सुन्नी मुसलमान था।

शाहजहाँ का अन्तिम और चौथा पुत्र मुराद था। उसके चरित्र को डाक्टर स्मिथ ने एक ही वाक्य में शब्द-बद्ध कर दिया है— उत्तेजना प्रिय, जिद्दी दिमाग का क्रूर आदमी—बहादुरों का भी बहादुर, किन्तु शराबी, किसी बात पर न टिकने वाला और बिलकुल बे दिमाग!' वह शिया था और गुजरात का शासन-भार उसे सौंप दिया गया था।

ऐसे थे शाहजहाँ के चारों पुत्र जो, पिता की गम्भीर बीमारी की सूचना पाते ही, एक-दूसरे का गला काटने के लिये तैयार हो गये थे। *

उत्तराधिकार के लिए संघर्ष (१६५७-५८)

प्रो० सरकार ने अपने ग्रंथ में उत्तराधिकार के लिए चलने वाले इस संघर्ष का विस्तृत वर्णन किया है। यहाँ हम इस संघर्ष का सार-मात्र देने का प्रयत्न करेंगे जिसका अन्त औरंगजेब के सत्ता-ग्रहण करने में हुआ। सम्राट की बीमारी की सूचना पाते ही शुजा और मुराद ने अपने-अपने सूबे की राजधानियों में बैठे-बैठे ही अपने को सम्राट घोषित कर दिया था। दारा अपने पिता के पास था और अपना सम्राट होना इस हद तक निश्चित समझता था कि उसने शाही फरमानों पर हस्ताक्षर करना शुरू कर दिया था।

---

* दारा औरंगजेब शाहजहाँ के चरित्र और शासन के दो विरोधी पहलुओं को पेश करते हैं। दारा उस धार्मिक और साहित्यिक आन्दोलन का केन्द्र था जो इसलाम को हिन्दुस्तान की आध्यात्मिक परम्परा के अनुसार ढालना चाहता था। उसने हिन्दूधर्म और इसलाम के बीच की खाई को पाटने का प्रयत्न किया और इस काम को उसने जन साधारण तक नहीं, कुछ चुने हुए ऊँचे लोगों तक ही सीमित रखा। युद्ध और राज्य-संचालन की कला में विफल रहा, क्योंकि इन्हें वह अपने जीवन में गौण समझता था। औरंगजेब लड़ाकू और कट्टर मुसलमान था। उसकी नज़र में सभी समस्याओं का एक ही इलाज था। वह यह कि समूची दुनिया को मुसलमान बना लिया जाए। इस प्रकार दारा औरंगजेब प्रगति और प्रतिक्रिया के साकार रूप थे। [देखिये कानूनगो लिखित दारा शिकोह, लखनऊ, जीवनी (१९३५), भूमिका के पृष्ठ १० और ११ परिच्छेद १५।]

औरंगजेब स्थिति का निरीक्षण कर रहा था तथा अपने भाइयों को चकमा देकर सिंहासन पर अधिकार करने की योजना बना रहा था। सबसे पहले उसने बुद्धिहीन मुराद से साम्राज्य को आधा-आधा बाँट लेने का समझौता किया। समझौता करते हुए उसने यह प्रकट किया कि उसका प्रमुख उद्देश्य दारा जैसे धर्मद्रोही* को साम्राज्य पर अधिकार करने से दूर रखना है और मुराद को सिंहासन पर प्रतिष्ठित करके वह स्वयं विश्राम ग्रहण कर लेगा। बिना किसी दुविधा के मुराद ने औरंगजेब पर विश्वास कर अपनी शक्तियों का उसके साथ गठबन्धन कर लिया। उज्जैन से कुछ दूर धर्मट में इन दोनों की संयुक्त सेनाओं का, जिनका नेतृत्व दारा का एक पुत्र कर रहा था, शाही सेनाओं से मुकाबला हुआ। दोषपूर्ण नेतृत्व तथा दारा के साथियों की आपसी ईर्ष्या के कारण युद्ध का फल दोनों भाइयों के पक्ष में प्रकट हुआ (अप्रैल १६५८)। दूसरा और अधिक निर्णयात्मक युद्ध मई १६५८ में आगरा से आठ मील दूर समर गढ़ में हुआ। पचास हजार सैनिकों की भारी सेना का नेतृत्व स्वयं दारा कर रहा था। दारा के राजपूत साथियों ने बहादुरी के साथ युद्ध में भाग लिया। किन्तु उसकी रण-नीति प्रारम्भ से दोषपूर्ण थी। दूसरी ओर औरंगजेब बचाव की रण-नीति का अनुसरण करता रहा और उसने पूर्ण विजय प्राप्त की।† राजनीतिक, नैतिक और सैनिक दृष्टि से हिन्दुस्तान के इतिहास में यह युद्ध बहुत निर्णयात्मक सिद्ध

---

* सुन्नियों की दृष्टि में शिया धर्मद्रोही थे,—फिर दारा जैसे सूफी का तो कहना ही क्या !

† विस्तृत विवरण के लिए देखिए सरकार लिखित हिस्ट्री आफ औरंगजेब, खंड दो, परिच्छेद १६; कानूनगो लिखित दारा शिकोह, खण्ड १, परिच्छेद ६ और दस तथा बर्नियर लिखित ट्रैवल्स इन दि. मुगल एम्पायर (१६५६-१६६८ ईसवी),

ए. कान्स्टेबल द्वारा अनुवादित तथा स्मिथ द्वारा सम्पादित (१९१६) भी देखिए। बर्नियर ने उत्तराधिकार सम्बन्धी संघर्ष का आँखों-देखा वर्णन लिखा है और उसके यात्रा-संस्मरणों में मुगल शासन-व्यवस्था का आलोचनात्मक विवरण मिलता है।

हुआ। यह अकबर के काल को जो राजनीति और संस्कृति के क्षेत्र में राष्ट्रीयता का पोषक था औरंगजेब के काल से अलग करता है जिसका आधार इसलामी कट्टरपन और मदांधता थी, जातीय और धार्मिक विशुद्धता पर आधारित राजनीति से जो ओत-प्रोत था।

औरंगजेब की विजय

समरगढ़ के युद्ध में विजय प्राप्त करने के तुरत बाद औरंगजेब ने आगरा के किले पर आक्रमण कर दिया। अपने परिवार के साथ दारा किले से निकल भागा। वृद्ध सम्राट इस नये आघात से स्तब्ध रह गया। किसी प्रकार अपने मस्तिष्क और चित्त को स्थिर करके उसने विजेता से बातें करने का प्रयत्न किया। अपनी शुभ-चिन्तना और पितृ-प्रेम की प्रतीक उसने एक सुप्रसिद्ध तलवार 'आलमगीर' औरंगजेब के पास भेजी। पर चालाक पुत्र भुलावे में नहीं आया। उसकी गोलाबारी कुछ प्रभाव नहीं उत्पन्न कर सकी, लेकिन उसके पास एक अन्य प्रभावपूर्ण अस्त्र था जिसकी मदद से किले का दरवाजा खुल गया। उसने किले में पानी जाने के साधनों को काट दिया। किले के भीतर के सैनिक तथा सम्राट प्यासे मरने लगे। कोई उपाय न देख सम्राट ने फाटक खोलवा दिये। औरंगजेब ने सम्राट को बन्दी बनाकर, कड़े पहरे के साथ, हरम में कैद कर दिया।

धोखा देकर मुराद की गिरफ्तारी

मुराद को शीघ्र ही पता चल गया कि औरंगजेब का इरादा अपने वायदे को पूरा करने का जरा भी नहीं है। उसके खुशामदी दरबारियों ने ईर्ष्या तथा द्वेष की आग को भड़काने में कोई कसर नहीं छोड़ी। उनके उकसाने से मुराद ने औरंगजेब के विरुद्ध अपनी सैनिक शक्ति को दृढ़ करना शुरू कर दिया। लेकिन औरंगज़ेब को नीचा दिखाना आसान नहीं था। उसने मुराद को अपने खेमे में भोजन के लिए निमन्त्रित किया और उसे उसकी बरदाश्त से बाहर खूब शराब पिला दी और अन्त में जब मुराद बेसुध हो गया तो उसे गिरफ्तार कर लिया। पहले उसे सलीमगढ़ के बन्दी घर में

रखा, फिर ग्वालियर भेज दिया। ग्वालियर में मुराद ने भागने की कोशिश की, मगर फिर पकड़ लिया गया।* औरंगजेब ने अब मुराद की ओर से सर्वथा निश्चिन्त होने का निश्चय किया और उसे, बाकायदा शरीयत के अनुसार, दिसम्बर १६६१ में, मौत के घाट उतार दिया।

दारा और शुजा

सिंहासन पर बैठने की रस्मी कार्यवाही के बाद औरंगजेब ने दारा का पीछा किया और उसे किसी भी जगह चैन से नहीं बैठने दिया,—दिल्ली से लाहौर, फिर वहाँ से मुलतान,—औरंगजेब शिकारी की तरह बराबर उसका पीछा करता रहा। दारा को मुलतान तक खदेड़ कर औरंगज़ेब ने अपने दूसरे भाई शुजा की ओर ध्यान दिया। दारा के पुत्र सुलेमान शिकोह से प्राप्त पराजय के प्रभाव से मुक्त होकर शुजा ने फिर सिर उठाना शुरू कर दिया था। जनवरी १६५९ में खवाजा के युद्ध में शुजा की बुरी हालत हुई। औरंगजेब ने अराकान सीमांत तक उसका भी पीछा किया। वहाँ पर, साधारणतया समझा जाता है कि अराकीनियों ने शुजा को मार डाला।

---

* सरकार ने मुराद के भागने की घटना का पूरा विवरण दिया है—"एक रात को रस्से की सीढ़ी को किले के कंगूरे मे फँसा कर और नीचे एक ज़ीनबन्द घोड़ा तैयार रखकर मुराद के अनुयायी मुगलों ने मुराद को सूचना भेज दी कि भागने की तैयारी पूरी हो गई है। मुराद अपनी खेल सरसली बाई के रूप-जाल में फँसा हुआ जिसे वह, औरंगज़ेब से अनुनय-विनय कर, बन्दी घर में अपने साथ ले गया था। आधी रात के समय जब कि उसके भागने की सभी तैयारी पूरी हो चुकी थी वह अपनी प्रेमिका से विदा लेने गया क्योंकि इसके बाद उनके मिलने की आशा नहीं थी। मुराद के जाने की सूचना पाते ही प्रेमिका ने जारों से रोना-बिलखना शुरू कर दिया कि मुझे किसके भरोसे छोड़े जा रहे हो। उसकी आवाज़ सुनकर पहरेदार जाग उठे, मशाल जलाकर उन्होंने खोज-बीन की और रस्से की सीढ़ी का पता लगा लिया। हिस्ट्री आफ औरंगज़ेब, खण्ड २, पृष्ठ ६३।

दारा का पीछा अभी तक औरंगज़ेब ने नहीं छोड़ा था। दारा ने सबसे बुरा यह किया कि अपने विश्वास पात्र और फरमाबरदार साथी दाऊद खाँ को बरखास्त कर दिया। दारा से अलग होकर दाऊद खाँ औरंगज़ेब के साथ हो गया। मुलतान से दारा थट्टा और वहाँ से कूच चला गया। अहमदाबाद में उसको मित्र-भाव रखने वाले एक अमीर, शाहनवाज़ खाँ, से भेंट हो गई। उसकी मदद से दारा ने सूरत पर अधिकार कर लिया। इसके बाद बजाय दकन की ओर जाने के जहाँ उसे पर्याप्त सैनिक सहायता मिल जाती, दारा जसवन्त सिंह की योजना में फँस गया। जसवन्त सिंह ने बाद में दारा को धोखा दिया। राजपूताना के रेगिस्तान में भागता हुआ अब वह कंधार पहुँच जाना चाहता था। इसके बाद उसका इरादा फारस चले जाने का था। किन्तु वह कुछ इतना निराश और मरता क्या न करता की स्थिति में हो गया था कि बोलन दर्रे के निकट दादर के एक अन्य विश्वासघाती सरदार जीवन सिंह के स्वागत-जाल में फँस गया। जीवन सिंह ने दारा को शाही दूतों के हवाले कर दिया और वह बन्दी बना कर दिल्ली ले आया गया (२३ अगस्त, १६५६)। इसके कुछ दिन बाद दारा को फाँसी दे दी गई,—बल्कि कहना चाहिए कि बहुत ही नीचतापूर्ण ढंग से उसकी हत्या कर दी गई। दारा की हत्या के समय का दृश्य हृदय-द्रावक था। उसका पुत्र सिपाह शिकोह अपने पिता से लिपटा था। उसे खींच कर अलग कर दिया गया। क्रूर गुलाम इसके बाद दारा पर टूट पड़े और उसका काम तमाम कर दिया।*

---

* सम्राट के आदेश के अनुसार दारा को राजधानी के बाज़ारों का चक्कर लगवाया गया कि सब अपनी आँखों से दारा को देख और पहचान लें जिससे किसी को सन्देह न रह जाए और बाद में कोई अन्य व्यक्ति अपने को दारा कह कर न उठ खड़ा हो, लोगों को धोखा देकर उनकी सहानुभूति न प्राप्त कर ले और हुकूमत के विरुद्ध उत्पात न करना शुरू करदे।—सरकार।

* इस दुःखद घटना का वर्णन करते हुए सरकार ने लिखा है कि—"दो शती बीतने के बाद मुगल राज्य का अन्त इससे भी अधिक खूनी रूप में हुआ। २१ सितम्बर १८५७ को, उस जगह से कुछ ही दूर पर जहाँ दारा के क्षत-

शाहजहाँ की मृत्यु

शाहजहाँ दारा की मृत्यु के बाद सात वर्ष तक जीवित रहा। ये सातों वर्ष शाहजहाँ के जेल में घड़ियाँ गिनते और तिल-तिल करके गलते बीते यद्यपि उसकी बड़ी लड़की पूरी देख-भाल रखती थी। २२ जनवरी १६६६ को उसकी मृत्यु हो गई। औरंगज़ेब ने अपने मरते हुए पिता को देखने तक की चिन्ता नहीं की, न सम्राट की अन्तिम क्रिया के लिए कोई समुचित प्रबन्ध किया गया। सरकार ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "औरंगज़ेब ने अपने पिता के साथ जो व्यवहार किया वह नैतिक मान्यताओं की ही धज्जियाँ उड़ाने वाला नहीं बल्कि उस काल की सामाजिक शिष्टता को भी पाँव तले रौंदने वाला था।"

शाहजहाँ के शासन की उपलब्धियाँ

कुल मिलाकर शाहजहाँ का शासन-काल अच्छा था। अपने घर तथा रियाया के साथ उसका व्यवहार सहृदयतापूर्ण था। अपराधियों को वह कड़ी सज़ाएँ देता था इसलिये देश में शान्ति रहती थी। शाही अफसरों के दुर्व्यवहार और भ्रष्टाचार का वह सख्ती के साथ दमन करता था। उसका दरबार शान्दार होता था। उसके शासन में अनेक राजसी इमारतों का निर्माण हुआ जिनमें से एक ताजमहल का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। शाहजहाँ प्रदर्शनों का प्रेमी था और इस तरह के कामों में—जिनकी

विक्षत शव को दफनाया गया था, शाहज़ादे मिरज़ा मुगल, मिरज़ा कुरेश सुलतान, मिरज़ा अबू बरवा,—दिल्ली के अन्तिम सम्राट के लड़के और पोते जिनमें से एक उसका अपना चुना हुआ उत्तराधिकारी था—एक विदेशी सैनिक की गोलियों से निर्ममता पूर्वक मारे गए। सभी सिद्धान्तों, माया और ममता को रौंद कर इनकी हत्या की गई थी। ये अपने को अन्त तक निर्दोष घोषित करते रहे, आरोपों की जाँच के लिए बार-बार अनुरोध किया, पर व्यर्थ। जानवरों की तरह इनकी लाशों को पुलिस-दफ्तर के बरांडे में डाल दिया गया जिसमें सब उन्हें देख सकें। भाई के रक्त से स्नान करके औरंगज़ेब सिंहासन पर बैठा था और उसके पोते-पोतियों के रक्त के साथ उसके शाही वंश का चिन्ह मिट गया।" सरकार, खंड दो, पृष्ठ २२०।

सार्वजनिक उपयोगिता नहीं होती थी—भारी रकमें वह खर्च कर डालता था। एक करोड़ की लागत लगाकर उसने मोर की शक्ल का सिंहासन बनवाया था। इस तरह के खर्चों के बारे में डाक्टर वी० ए० स्मिथ ने ठीक ही लिखा है कि "यह व्यर्थ की नुमायश का नतीजा था। उसके इस तरह के कृत्य कला और सुसंस्कृत रुचि से हीन प्रदर्शन की बर्बर प्रवृत्ति के परिचायक थे।"

सांस्कृतिक स्थिति

पूर्व सम्राटों के मुकाबले में शाहजहाँ अधिक अनुदार विचारों का व्यक्ति था और वह किसी ऐसे रिवाज या संस्था को बरदाश्त नहीं कर सकता था जो इसलाम की धार्मिक भावनाओं पर नाम को भी चोट पहुँचाने वाली हो। उसका दरबार बहुत शान्दार था और उसने जन साधारण में सांस्कृतिक चेतना का विकास करने में बहुत सेवाएँ कीं। कवियों, दार्शनिकों, विद्वानों, कारीगरों और चित्रकारों को उसने प्रोत्साहन प्रदान किया। उसके दरबार के सदस्य भी उसका अनुसरण करते थे। उनमें से कुछ जैसे अली मरदान खाँ, मीर जुमला और राजा जयसिंह साहित्य और कला के क्षेत्र में भी उतने ही प्रसिद्ध हुए जितने कि युद्ध और शासन-नीति के क्षेत्र में। ऊँची शिक्षा के प्रसार के लिए देश भर में अनेक स्कूल स्थापित थे। दरबार की भाषा फारसी थी, इसलिए उसे काफी बढ़ावा मिला। अब्दुल हमीद लाहौरी जैसे अनेक इतिहास-लेखकों ने शासन का विवरण शब्द-बद्ध किया। कितने ही हिन्दुओं ने फारसी साहित्य के क्षेत्र में ख्याति प्राप्त की। दारा शिकोह ने संस्कृत से फारसी में अनुवाद करने के कार्य को प्रोत्साहित किया। ज्योतिष, अंकगणित और औषध-विज्ञान उन्नत अवस्था में थे। हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास की दृष्टि से भी यह काल बहुत शान्दार था। स्थापत्य के आश्चर्यजनक विकास का हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं जो फारस और हिन्दुस्तान की संस्कृति के सम्पर्क का नतीजा था।

शाहजहाँ की शासन-व्यवस्था

सम्राट रियाया के हित का बहुत ध्यान रखता था। इसी

विशेषता को लक्ष्य कर फ्रैंच यात्री तेवर्नियर ने लिखा था कि "सम्राट लोगों पर शासन करता था,—इस तरह नहीं जिस तरह कि एक शाह अपनी प्रजा पर हुकूमत करता है बल्कि जिस तरह एक पिता अपने परिवार पर शासन करता है।"

प्रान्त और केन्द्र दोनों जगह की शासन की मशीनरी शाहजहाँ के काल में भी वही थी जो अकबर के काल में थी। इस शासन-प्रणाली की आत्मा सैनिक और निरंकुश थी। यह शासन-व्यवस्था अपने-आप में एक विरोधाभास थी। "एक ओर तो महानता का गौरवपूर्ण दृश्य दिखाई देता है और दूसरी ओर ह्रास के भी चिन्ह दिखाई देते हैं।" इस काल के अधिकांश विवरण के लिए हम दो युरोपीय यात्रियों के ऋणी हैं जो सत्रहवीं शती में हिन्दुस्तान आए थे,—बर्नियर और फ्रैंच जौहरी तेवर्नियर। बर्नियर फ्रैंच डाक्टर था और कुछ समय मुगल सम्राट की उसने नौकरी भी की थी। उसने अपनी यात्राओं का विवरण लिखा है जिसमें मुगल दरबार और शासन-व्यवस्था की सजीव झाँकी मिलती है।*

—: o :—

* स्मिथ और कान्स्टेबल ने बर्नियर के संस्मरणों का अनुवाद किया है। वी० बाल ने तेवर्नियर के संस्मरणों का दो खंडों में अनुवाद किया है। मुगल शासन-व्यवस्था और उसके दोषों की दृष्टि से बर्नियर के संस्मरण महत्वपूर्ण हैं। तेवर्नियर ने देश की औद्योगिक और व्यापारिक स्थिति का अच्छा वर्णन किया है।

चौथा परिच्छेद

औरंगजेब का शासन-काल [१६५८-१७०७]

१—शासन का पूर्वार्द्ध (१६५८-१६८२)

सम्राट के रूप में औरंगजेब की राजनीतिक उपलब्धियों और गति-विधि का अब हम वर्णन करेंगे। मई १६५६ में उसने दिल्ली पर अधिकार कर लिया और दूसर बार उसने सम्राट के पद को ग्रहण किया। सिंहासन पर बैठने के उपलक्ष्य में उसने लगान और कितने ही स्थानिक करों की छूट दे दी। उसने अपने लिए आलम गीर की उपाधि चुनी जो कि उस तलवार का नाम था जिसे शाहजहाँ ने उसे भेंट किया था। वह कट्टर विशुद्धता-वादी था और कुरान की शरीयतों के अनुसार चलता था। परिणामतः उसकी हिन्दुओं से, अफगान और फारस-निवासियों से टक्कर हुई। इन सबको वह समान रूप से घृणा की दृष्टि से देखता था।

आसाम की घटनाएँ

उसके शासन-काल की सबसे पहली उल्लेखनीय घटना मीर जुमला का आसाम के साथ युद्ध था (१६६१-६३)। मीर जुमला का कुछ परिचय हम पहले दे चुके हैं। शाहजहाँ के काल में औरंगजेब ने जो दकन पर आक्रमण किये थे, उनमें वह औरंगजेब का योग्य और बुद्धिमान लफ्टैण्ट था। शुजा का पीछा करने में भी उसने औरंगजेब का साथ दिया था। जब औरंगजेब सिंहासन पर बैठा तो उसने सोच-विचार कर उसे राजधानी से दूर बंगाल का सूबेदार बना कर भेज दिया। इसी मीर जुमला ने आसाम के

आहोमों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। ❀ आहोमों ने मुगल प्रदेश पर धावा किया था। मीर जुमला ने आहोमो की राजधानी तक पहुँच कर उन्हें दण्डित करने में सफलता प्राप्त की। लेकिन बरसात सिर पर आगई थी और वह पहाड़ी इलाके में अधिक दिन नहीं टिक सकता था। बरसात और बाढ़ ने मुगलों के सम्पर्क-स्थलों को एक दूसरे से काट दिया था। आहोमों के आत्म-समर्पण का आश्वासन-मात्र पाकर मीर जुमला आसाम से लौट आया। इसके शीघ्र बाद ही बुखार में उसकी मृत्यु हो गई। मीर जुमला के सैनिक चरित्र की सरकार ने जो प्रशंसा की है, हत्या और षड्यंत्रों के काल में वह कठिनता से ही किसी को मिलती है—"उस काल के किसी अन्य सेनापति ने युद्धों का इतनी मानवता और न्याय की भावना के साथ संचालन नहीं किया; न सैनिकों से लेकर कप्तानों तक इतने अनुशासन में रखने में किसी अन्य ने सफलता प्राप्त की × × × बीस मन हीरों का स्वामी, बंगाल जैसे धनी सूबे का वाइसराय, आक्रमण के दौरान में निम्नतम सैनिक के साथ सभी उतार-चढ़ावों, दुःखों-सुखों में भाग लेता था। सुख-सुविधाओं को अपने से दूर और आक्रमण के सभी कष्टों को साधारण सैनिक की भाँति अपने ऊपर लेने के कारण ही वह इतना शक्ति-क्षीण हो गया था कि उसकी अकाल मृत्यु हो गई × × × लूट-मार न करने के उसने कड़े आदेश जारी किए थे, बलात्कार और जन साधारण के शोषण के वह सख्त विरुद्ध था और अपने आदेशों का पालन कराने की ओर बहुत ध्यान देता था। † उसकी मृत्यु के बाद शाइस्ता खाँ को जो कि मातृपक्ष की

❀सरकार के अनुसार आहोम शान जाति की ही एक शाखा से निकले थे। शान जाति ऊपर बर्मा के उत्तर और पूर्व में एक पहाड़ी इलाके में बसती थी। जंगली और क्रूर आहोम बहुत शक्ति-सम्पन्न थे। उनके सैनिक बहुत योग्य होते थे। विवरण के लिए देखिए सरकार, खंड ३, पृष्ठ १७०; बी० ए० भट्टाचार्य लिखित "ए हिस्ट्री आफ दि मुगल नार्थ-ईस्ट फ्रंटियर पालिसी (१९२९) भी देखिए।

† सरकार, हिस्ट्री आफ औरंगजेब, खंड ३, पृष्ठ २०६। [तालिश ने मीर जुमला के आसाम पर आक्रमण का इतिहास लिखा है। उसने मीर जुमला के इन सब मानवीय और अनुशासन-सम्बंधी गुणों की बहुत प्रशंसा की है।

ओर से सम्राट का चचा होता था, बंगाल का सूबेदार नियुक्त कर दिया गया।

दक्षिण की राजनीति

उत्तर में अपने शासन की स्थिति को दृढ़ बनाने के बाद औरंगजेब ने दकन की ओर ध्यान दिया जहाँ वह दो बार सूबेदार रह चुका था। वहाँ भारी परिवर्तन हो रहे थे। शाहजहाँ के शासन के अन्तिम दिनों में उत्पन्न गड़बड़ से लाभ उठा कर बढ़ते हुए मराठों ने वहाँ के सुलतानों पर आघात-पर-आघात किए थे और खुद मुगलों की सैनिक स्थिति को उन्होंने संकटपूर्ण बना दिया था। मराठों की गौरवपूर्ण जाति के सम्बंध पर विस्तार के साथ हम अगले परिच्छेद में प्रकाश डालेंगे। यहाँ हम औरंगजेब ने उनका कैसे मुकाबला किया, केवल इसका वर्णन करेंगे। सिंहासन पर बैठने के समय से लेकर १६८२ तक मुगलों और मराठों के बीच निरन्तर युद्ध की स्थिति बनी रही। मराठों और दक्षिण के सुलतानों के बीच भी जब-तब युद्ध होते रहे। किन्तु मुगल सेना-पतियों ने खुल कर मराठों से युद्ध नहीं किया। उनमें से कुछ गुप्त रूप से शिवाजी से भी मिल गए थे। इसके प्रतिकूल शिवाजी बहुधा मुगल प्रदेशों पर धावे करता रहता था। दो-तीन अवसरों पर उसने मुगलों के प्रभुत्व को स्वीकार भी किया, किन्तु वह मुगल वाइसराय को चकमा देकर उसे निष्क्रिय या अपना मित्र बनाने का बहाना मात्र था। इसके सिवा मुगल सेनापतियों को सम्राट की ओर से धन और आदमियों की समुचित सहायता भी नहीं मिली और वे बहुधा ऐसे कार्य करते थे जो स्वयं एक-दूसरे के विरोधी होते थे। ❀

शिवाजी और उसके धावे

औरंगजेब के शासन-काल में मराठों ने एक सुसंगठित शक्तिशाली जाति का रूप धारण कर लिया था। शिवाजी के नेतृत्व में मराठों

❀ "मुगल वेतन भोगी हिन्दू अफसर हिन्दुत्व के दकनी उद्धारक के प्रति गुप्त सहानुभूति रखते थे—गऊ और ब्राह्मणों का, तिलक और टिकी का रक्षक —जैसा कि भूषण ने शिवाजी के लिए कहा था। देखिए सरकार लिखित औरंगजेब, खण्ड ४, पृष्ठ ११।

ने यह शक्ति प्राप्त की थी। शिवाजी हिन्दुस्तान की उन महान शक्तियों में से था जिन्हें कभी नहीं भुला जा सकता। बीजापुर के इलाकों को वह बिना किसी खतरे के लूट-मार करता रहा। और जब औरंगजेब सिंहासन के लिए युद्ध करने, दकन से चला गया तो उसकी अनुपस्थिति में शिवाजी ने अपने अनुयायियों को बीजापुर पर टूट पड़ने का आदेश दे दिया। बीजापुर की निकम्मी शासन-व्यवस्था, उन दिनों एक युवक वहाँ का शासक था, शिवाजी को नहीं रोक सकी। १६५९ में बीजापुर के सुलतान ने, एक हताश आदमी जितना भी साहस बटोर सकता है उतना बटोर कर, अफजल खाँ के नेतृत्व में विद्रोहियों को दण्डित करने के लिए भारी सेना भेजी। अफगान सेनापति पर शिवाजी ने किस प्रकार अधिकार किया, यह सर्वविदित है। कहा जाता है कि उस समय जबकि दोनों गले मिल रहे थे, अफजल ने पहले शिवाजी की बगल में वार किया था। समकालीन इतिहास लेखकों ने, जो भी हो, शिवाजी के इस कार्य पर क्षोभ प्रकट नहीं किया। ऐसी परिस्थितियों में शत्रु के साथ इससे अधिक भीषण व्यवहार किया जा सकता था। संक्षेप में यह कि जब शिवाजी ने देखा कि वह अफजल की इतनी बड़ी सेना से मोर्चा नहीं ले सकते तो उन्होंने समर्पण का आश्वासन देते हुए भेंट करने की अनुमति चाही जिससे कि वे अपना अपराध स्वीकार कर सकें तथा सुलतान के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित कर सकें। अफगान सेनापति ने शक्ति के जोम इसे स्वीकार कर लिया और निहत्था होकर, दो सेवकों के साथ, शिवाजी से मिलने के लिए चल दिया। शिवाजी भी, इसी प्रकार, दो सेवकों के साथ भेंट के लिए आगे बढ़ा। उस काल की प्रथा के अनुसार अफजल खाँ ने शिवाजी को गले से लगाया। इसी समय सहसा उसके पेट में तेज अस्त्र भोंक दिया गया। यह अस्त्र "शेर-पंजा" था जिसे शिवाजी अपने साथ बड़ी सावधानी से छिपा कर ले आया था। इसके बाद के अस्तव्यस्त वातावरण में अफजल और उसके परिचारकों को सहज ही मार डाला गया। कुछ ही दूर पर पड़ी बीजापुर की फौजों में भगदड़ मच गई और उन्हें मराठा घोड़सवारों ने तितर-बितर कर दिया। लूट-मार का काफी

सामान मराठों के हाथ लगा और समूचे दकन ने अनुभव किया कि मुगलों से सर्वथा भिन्न शत्रु से अब उसे लोहा लेना है।

मुगल इलाकों में शिवाजी के धावे

अपनी सफलताओं और लूट-मार के धावों से प्रोत्साहित होकर शिवाजी ने पास के मुगल इलाकों में भी धावे मारना शुरू कर दिया। उससे लोहा लेने के लिये औरंगज़ेब ने शाइस्ता खाँ को यह निश्चित आदेश देकर भेजा कि मराठों से वे सब इलाके छीन लिए जाएँ जो उन्होंने बीजापुर के अपने अधिकार में कर लिए हैं। लेकिन यह काम ऐसा था जिसके लिए मुगल सेनापति बहुत ही कम योग्य था। बजाय इसके कि वह खुले रूप में शिवाजी के विरुद्ध आक्रमण करता, उसने पत्रों द्वारा शिवाजी को अपमानित करने का अपेक्षाकृत सुरक्षित तरीका अख्तियार किया। ऐसे एक पत्र में फारसी का एक पद्य था जिसमें शिवाजी की तुलना बन्दर से की गई थी जो पहाड़ी जंगलों के बीच रह कर अपने को सुरक्षित समझता है। इसके जवाब में शिवाजी ने एक संस्कृत का पद्य लिख भेजा जिसमें उसने प्रकट किया था कि बन्दर नहीं वह साक्षात हनुमान है—बन्दरों का राजा—है। इस पत्र में शिवाजी ने यह भी प्रतिज्ञा की थी कि जिस प्रकार बन्दरों ने राजा रामचन्द्र को रावण का नाश करने में मदद की थी, उसी प्रकार वह भी शाइस्ता खाँ का अन्त करके छोड़ेगा।* इस शाब्दिक युद्ध के बाद शाइस्ता खाँ जाड़े बिताने के लिए पूना चला गया। पूना में उसने उसी घर में पड़ाव डाला जिसमें शिवाजी का जन्म हुआ था।

शिवाजी द्वारा शाइस्ता खाँ का अपमान

शिवाजी ने अब शाइस्ता खाँ का मान भंग कर दमन करने का निश्चय कर लिया। स्वयं उसके पूना वाले पड़ाव में घुस कर उसे सावधान करने की हर सम्भव तैयारी कर ली। अप्रैल १६६३ में अपने चुने हुये २०० साथियों के साथ, जो मुगल सैनिकों के भेष

---

* देखिये किनकैड और परासनस लिखित "ए हिस्ट्री आफ दि मराठा पीपुल, खण्ड १ पृष्ठ १६७।

में छिपे हुए थे, नगर में प्रवेश किया। नगर के भीतर उनका अपना एक मराठा पैदल सैनिक शाइस्ता खाँ की नौकरी में था। विवाह का बहाना कर उसने नगर में बाजे गाजे के साथ बारात निकालने की अनुमति प्राप्त कर ली। इस बारात के साथ उसके अपने भी आदमी थे जो सदा अपने साथ अस्त्र रखते थे।* शिवाजी और उसके साथी भी बारात में घुल-मिल गए। बाजे-गाजे के साथ जब बारात शाइस्ता खाँ के घर के निकट पहुँची तो उत्पातियों ने घर को घेर लिया और उसमें से कुछ दीवारों पर चढ़ कर शाइस्ता खाँ के कमरे में पहुँच गए। खान उस समय सो रहा था। मार-काट और हो-हल्ले में शाइस्ता खाँ का पुत्र मारा गया। खान खुद बच कर निकल भागा। उसे अपने हाथ की कुछ उँगलियों से इसी बीच अवश्य हाथ धोना पड़ा जो कट कर गिर गई थीं। उसकी आकृति से मिलता-जुलता एक अन्य मुगल अमीर उसके भागने से पहले मारा गया था। शिवाजी ने समझा कि शाइस्ता खाँ ही मारा गया है और तेज़ी के साथ, अपने साथियों को लेकर, नगर से बाहर होकर कट-राज घाट की ओर चल दिया। मुगलों के अपमान और लज्जा को पूर्ण करने के लिए, जिसके सम्बन्ध में कितने हो लोगों का खयाल था कि मुगल सेनापति राजा जसवन्त सिंह के सहयोग से यह सब कुछ हुआ था, शिवाजी ने एक और चाल चली। शिवाजी की चाल मराठों सैनिकों की कार्य-प्रणाली पर अच्छा प्रकाश डालती है। कट-राज पहाड़ी के चढ़ाव पर जो पेड़ लगे थे, उन पर मराठों ने जलती हुई मशालें बांध दीं जिससे मुगलों को धोखा हो कि पहाड़ी पर मराठों की भारी सेना ने पड़ाव डाल रखा है।† इसके बाद शिवाजी अपने आदमियों के साथ पश्चिम में स्थित सिंहगढ़ चला गया। मुगल सैनिकों को अब तक शिवाजी के धावे की सूचना मिल चुकी

---

*देखिये ग्रांट डफ लिखित "हिस्ट्री आफ दि मराठाज़ (चौथा संस्करण) खंड १, पृष्ठ १६५। सरकार लिखित शिवाजी (१९-१९) पृष्ठ ९८,१०१ भी देखिये। किनकैड और परासनिस लिखित "ए हिस्ट्री आफ दि मराठा पीपुल" खंड १ पृष्ठ, १५०—१६३ भी देखिये।

† किनकैड और परासनिस, खंड १, पृष्ठ १६६ देखिये।

थी। कदराज पहाड़ी पर मशालों को देख कर, भारी सेना के साथ, उन्होंने उस पर चढ़ाई कर दी। पहाड़ी जनशून्य थी और उनकी सारी बहादुरी व्यर्थ गई। सिंहगढ़ के किले पर भी उन्होंने बाद में आक्रमण किया, किन्तु वह भी सफल नहीं हुआ। मुगल सेनापति को हार कर फिर पूना में विश्राम करना पड़ा। मार्ग में उसके सैनिक सामान की गाड़ियों को मराठा घोड़ सवारों ने लूट लिया सो अलग। इसके बाद शाइस्ता खाँ ने सम्राट से अनुरोध किया कि उसे वापिस बुला लिया जाए। सम्राट ने उसके अनुरोध को स्वीकार कर उसे, मराठों से बहुत दूर बंगाल का सूबेदार नियुक्त करके भेज दिया।

शाहज़ादा मुअज्जम और राजा जयसिंह

शिवाजी के धावों ने औरंगज़ेब को चक्कर में डाल लिया था। उत्थान-शील मराठा जाति के महत्व और शक्ति को समझने में वह बुरी तरह असफल रहा। इस बार उसने अपने पुत्र शाहज़ादा मुअज्जम और राजा जयसिंह को दकन का शासन-सूत्र संचालन करने के लिए भेजा राजा जयसिंह बहुत ही शक्ति सम्पन्न योद्धा था। ग्राण्ट डफ* के शब्दों में उसकी सेना की शक्ति तथा उसके आक्रमणों की अप्रत्याशित तेज़ी ने शिवाजी को आतंकित तथा उसे औरंगज़ेब से न केवल सन्धि करने के लिए ही वरन् उसकी नौकरी करने के लिए बाध्य कर दिया। राजा जयसिंह के अनुरोध और समझाने से शिवाजी ने बातें शुरू की और संधि के एक मसविदे पर हस्ताक्षर कर दिया। पुरंधर की इस संधि (जून १६६५) के अनुसार प्रमुख बातें ये थीं कि शिवाजी उन किलों पर से अपना अधिकार हटा लेगा जिन्हें उसने अपने कब्जे में कर लिया था, बीजापुर के विरुद्ध वह मुगलों को सहायता देगा और बदले में घाट के कुछ ऊपरी इलाकों में वह चौथ और सरदेश-मुखी—क्रमशः कर का एक चौथाई और दसवाँ भाग—वसूल कर

---

* देखिये हिस्ट्री आफ दि मराठाज़, खंड १, पृष्ठ १७३। कथा प्रचलित है कि सपने में भवानी का आदेश पाकर शिवाजी इस संधि के लिये तैयार हो गया था। भवानी ने शिवाजी को चेतावनी दी थी कि राजा जयसिंह के सामने उसकी नहीं चल सकती, भलाई इसी में है कि वह संधि कर ले।

सकेगा। औरंगज़ेब ने एक पत्र द्वारा संधि की इन शर्तों पर अपनी स्वीकृति भेज दी।❀

दरबार में निमंत्रित शिवाजी की गिरफ्तारी

संधि के शर्तों के अनुसार शिवाजी मुगल सेनाओं के साथ हो गया। राजा जयसिंह और दिलेर खाँ के नेतृत्व में अब बीजापुर के विरुद्ध चढ़ाई की गई। मुगलों की सेवा में रह कर शिवाजी ने फलहार और तथावाड़ा के किलों को सर किया। जब वह पनहल पर अधिकार कर रहा था तब औरंगज़ेब ने उसे दरबार में उपस्थित होने का निमंत्रण भेजा। सबके परामर्शानुसार, कुल देवी भवानी का भी आदेश पाकर, शिवाजी ने निमंत्रण को स्वीकार कर आगरा की ओर प्रस्थान किया। सम्राट का दरबार वहीं लगा हुआ था। प्रारम्भ से ही औरंगज़ेब का व्यवहार लांछना पूर्ण था। उसने शिवाजी को ५००० के मनसबदार के स्थान पर दरबार में बैठने के लिए कहा। शिवाजी ने इसका विरोध किया और राजा जयसिंह के पुत्र रामसिंह पर अपने असन्तोष को प्रकट किया। वही शिवाजी को अपने साथ आगरा ले गया था और दोनों में काफी घनिष्ठता उत्पन्न हो गई थी। परिणामतः शिवाजी और उसके पुत्र सम्भाजी को ताजमहल के निकट बंदी बनाकर कैद कर दिया गया। शाही रक्षकों की आँखों में धूल झोंक कर किस प्रकार शिवाजी यहाँ से निकल भागा, इसकी कहानी इतनी रोचक है कि उसे यहाँ देने का लोभ हम संवरण नहीं कर सकते।

शिवाजी का बन्दी-घर से निकल भागना

शिवाजी को बन्दी-घर में औरंगज़ेब ने सभी आवश्यक सुविधाएँ

❀ इस सम्बन्ध में ग्रान्ट डफ का निम्न मत उल्लेखनीय है—"औरंगज़ेब के पत्र में चौथ और सरदेशमुखी का कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता। सम्भव है वह इसका अर्थ न समझता हो। फिर उसके सामने उसकी दूसरी योजना भी थी। बीजापुर को वह पस्त करना चाहता था, इसीलिये उसने शिवाजी की शर्तों को मान लिया—" चौथ और सरदेशमुखी के सम्बन्ध में देखिये सरदेसाई का तीसरा भाषण, दि मेन कारेण्ट्स आफ मराठा हिस्ट्री (१६२६)।

प्रदान कर दी थीं। वह अपने मित्रों से मिल-जुल सकता था। बाहर से मिठाइयों और फलों से भरी टोकरियाँ भीतर जा सकती थीं। सतर्क बुद्धि शिवाजी ने बन्दी-घर से भागने की योजना बनानी शुरू कर दी। एक दिन शिवाजी और उसका पुत्र दोनों मिठाई की खाली टोकरियों में बैठ कर बाहर निकल गए। पहरेदार रोज़ ही टोकरियों को आते-जाते देखते थे। उन्हें कोई सन्देह नहीं हुआ। अगले दिन जब उन्होंने देखा कि इमारत में कोई हल चल नहीं है एक विचित्र शून्य-सा छाया हुआ है, तो उन्हें सन्देह हुआ। अफ़सर शिवाजी के कमरे में गए। वहाँ शिवाजी के पलंग पर, चादर के भीतर से एक हाथ बाहर को लटका हुआ दिखाई दिया। निकट जाने पर हाथ में शिवाजी की चिन्हित अंगूठी उन्हें दिखाई पड़ी। यह समझ कर कि शिवाजी ही सो रहा है, अफ़सर चले गए। शिवाजी के भागने की खबर उन्हें बाद में लगी। इस बीच मराठा पंछी बहुत दूर उड़ गए थे। मुगल सेनाओं की पहुँच से अब वे बाहर थे। अन्त में शिवाजी और सम्भा जी पूना पहुँच गए। मार्ग में अनेक कठिनाइयों का उन्हें सामना करना पड़ा, किन्तु वे रुके नहीं नौ मास तक शिवाजी अपने केन्द्र से अनुपस्थित रहा, किन्तु उसके अनुयायियों में इससे कुछ गड़बड़ नहीं फैली। इस घटना ने शिवाजी की प्रतिष्ठा में और वृद्धि कर दी।❀

शिवाजी के अगले कार्य

बंदी-घर से निकल भागने के बाद शिवाजी ने उन सब किलों पर फिर से अधिकार कर लिया जहाँ से वह मुगल सेनाओं को त्रस्त करने में सफलता प्राप्त करता था। उसके विरुद्ध सम्राट ने, जो अपने सेनापतियों को अब अधिकाधिक सन्देह की दृष्टि से देखने लगा था, शाहजादा मुअज्ज़म और राजा यशवन्त सिंह को भेजा। शिवाजी ने उन्हें घूस देकर अपनी ओर कर लिया। उन्होंने शिवाजी का पक्ष लेकर सम्राट से बातें कीं और उसके लिए 'राजा' की

❀ इस घटना के सजीव वर्णन के लिये बी० एस० देशपाण्डेय लिखित "दि डिलीवरेन्स आर दि एस्केप आफ शिवाजी दि ग्रेट फ्राम आगरा" (१६-२६) देखिये।

उपाधि तक स्वीकार करा ली। शिवाजी का लूट-मार और विजय का कार्य पूर्ववत चलता रहा। उसने खानदेश पर आक्रमण किया, दक्षिणी कोंकण का अधिकांश, अपने आधिपत्य में कर लिया और उत्तर में भड़ौंच तक वह धावे मारता रहा। दो बार उसने सूरत पर आक्रमण किया और, दृढ़ता के साथ सुरक्षित युरोपीय कारखानों को छोड़ कर, सभी कुछ उसने लूट लिया। फिर दक्षिण की ओर बढ़ कर वह तञ्जोर तक पहुँच गया—जहाँ उसके पिता की जागीर थी जो अब, बीजापुर की ओर से, उसके भाई के अधिकार में थी। अपने भाई को भी शिवाजी ने पारिवारिक बड़पन को स्वीकार करके झुकने के लिए बाध्य कर दिया। इसके बाद, १६६७ में, मद्रास होते हुए उसने जिंजी, वेल्लोर और अहनी पर अधिकार किया। इस प्रकार, १६ महीनों की अनुपस्थिति के पश्चात, वह घर लौट आया। यहाँ आकर उसने बीजापुर के सुलतान के साथ गठ-बन्धन कर मुगल सेनाओं को बीजपुर का घेरा उठाने के लिए बाध्य कर दिया। १६८० में शिवाजी की मृत्यु हो गई और औरंगजेब ने सन्तोष की गहरी साँस ली।

उत्तर पश्चिमी सीमान्त

औरंगजेब मराठों के विस्तार को नहीं रोक सका, इसका कारण उसका उत्तर पश्चिमी सीमान्त से उलझे रहना भी था। पठान कबीले के लोग, जो हिन्दुस्तान से काश्मीर जाने वाली घाटियों में बसे हुए थे, हिन्दुस्तान के शासकों के लिए सदा ही चिन्ता के कारण बने रहे हैं। वे घुमक्कड और खूनी लोग थे। उनका कोई राजनीतिक संघटन नहीं था। उनके साथ किसी प्रकार की संधि को कायम रखना असम्भव था। उन सब का कोई एक मुखिया भी नहीं था जिसके साथ संधि की बातें की जातीं। ये पहाड़ी लोग—जो अफरीदी, शिनवारी, यूसुफजाई और खटक आदि विभिन्न फिर्कों के थे—हिन्दुस्तान और काबुल के बीच यातायात पर चुंगी वसूल करते थे। जोर-जबर्दस्ती की जगह उन्हें घूस देना मुगलों के लिए अधिक सहज और उपयोगी होता था।

चौथा परिच्छेद

अफगान युद्ध के कारण

१६६७ यूसुफजाइयों में एक बहुत बड़े आन्दोलन ने जन्म लिया। उनके शक्तिशाली नेता भागू ने दूसरे खान्दानों के मुखिया लोगों को बटोर कर समान उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक सूत्र में बाँध भारी शक्ति के साथ अटक से ऊपर इन्दस को पार किया। उन्होंने पाखली पर आक्रमण कर मुगलों की सभी सीमान्त चौकियों पर अधिकार कर लिया। इस अफगान खतरे के विरुद्ध औरंगजेब की सारी शक्ति और साधन लगे हुए थे। विस्तार के साथ समूचा विवरण देना तो यहाँ कठिन होगा। यहाँ इतना ही बताना पर्याप्त होगा कि यद्यपि सैनिक दृष्टि से मुगल सेनाओं ने सफलता प्राप्त कर ली, लेकिन फिर भी यूसुफजाइयों का ही पलड़ा भारी रहा। कंधार से अटक तक का समूचा प्रदेश उत्पातों से घिरा हुआ था। शान्ति कायम रखने के लिए सम्राट को अफगानों को भारी रकमें देनी पड़ीं। फूट डालने की नीति पर भी सम्राट ने अमल किया जिससे सभी अफगान संयुक्त होकर हिन्दुस्तान पर आक्रमण न कर दें। मुगल सेनाओं को दो बार विद्रोहियों ने गहरी पराजय दी और १६७४ में खुद औरंगजेब को विस्तृत सेना तथा भारी तोपखाने के साथ उनका दमन करने के लिए पेशावर जाना पड़ा। इस अफगान युद्ध का राजनीतिक प्रभाव ध्यान देने योग्य है। सरकार ने निम्न शब्दों में इस प्रभाव का वर्णन किया है—"इसके फलस्वरूप आगामी राजपूत-युद्ध में शाही सेना के लिए अफगानों का इस्तेमाल करना असम्भव बना दिया, यद्यपि अफगानों की मदद से शाही सेनाएँ उस बंजर और ऊबड़-खाबड़ भूमि में राजपूतों के विरुद्ध विजय प्राप्त कर सकती थीं। इस युद्ध के कारण शिवाजी पर मुगलों का दबाव भी कम हो गया क्योंकि उसे दकन से अपनी श्रेष्ठ सेनाएँ हटाकर सीमान्त में लगा देनी पड़ीं। शत्रु की शक्ति के इस तरह बँट जाने का मराठा सरदार ने पूरा लाभ उठाया और गोलकुण्डा से करनाटक तथा वहाँ से बीजापुर होकर लौटते हुए रायगढ़ तक—दिसम्बर १६६७ के बाद के अठारह महीनों में—एक के बाद एक शिवाजी ने शानदार सफलताओं की झड़ी लगा दी। शिवाजी के जीवन का यह सबसे सफल दौर था, लेकिन अफरीदियों

ने और खटकों ने सफलताओं की इस कड़ी को अटूट नहीं रहने दिया।" *

हिन्दुओं के प्रति औरंगजेब की नीति

उपर्युक्त राजपूत-युद्ध का वर्णन करने से पहले संक्षेप में हिन्दुओं के प्रति औरंगजेब की नीति का जिक्र कर दूं जिसका अन्त राजपूत युद्ध में हुआ। सैद्धान्तिक दृष्टि से मुस्लिम स्टेट धार्मिक राज्य (थियोक्रेसी) थी,—अर्थात अल्लाह का राज्य जिसमें शासक अल्लाह का दूत मात्र होता था। औरंगजेब कट्टर और पक्का मुसलमान था। उसने अल्लाह के राज्य के सिद्धान्त को अमल में लाने के लिए हर सम्भव अवसर का इस्तेमाल किया। जो कानून आदि उसने बनाए वे सब इसी दृष्टि से। जितनी संस्थाएँ उसने खड़ी कीं वे सब भी इसी भावना से प्रेरित होकर। हिन्दू काफिर थे और कुरान का कानून उनके बचाव की कोई गुंजायश नहीं छोड़ता था। "अगर किसी काफिर को समाज में जीवित भी रहने दिया जाता था तो एक अनिवार्य बुराई के रूप में, केवल सन्तरण काल के लिए,—जब तक कि उस बुराई का अन्त करने योग्य शक्ति न उत्पन्न हो जाए। †"

औरंगजेब ऐसे इसलाम का प्रवर्तक था जो समझौता करना नहीं जानता, जो सबको अपने आगे झुकाना चाहता है। वह कठोर शासन को अनिवार्यता में विश्वास करता था। उत्तराधिकार-सम्बंधी संघर्ष ने देश में अराजकता और अव्यवस्था की स्थिति उत्पन्न कर दी थी। अफसरों की मनमानी और छोटी-मोटी ताना-शाही से प्रजा की रक्षा करने की जरूरत थी। बेकार के अनेक करों को सम्राट ने रद्द कर दिया। सूबेदारों को आदेश दिया गया कि नैतिक स्तर ऊँचा उठाने के काम में पूरी तरह से योग दें। इसके लिए जुआ खेलने और मादक द्रव्यों के प्रयोग पर प्रतिबंध लगा दिया गया। जो मस्जिदें गिरी हुई हालत में थीं, उनकी मरम्मत करा दी गई। मुस्लिम धर्म-ग्रंथों के अध्ययन को प्रोत्साहित

---

*सरकार, हिस्ट्री आफ औरंगजेब, खण्ड ३, पृष्ठ २८१-२।

† सरकार, खंड ३, पृष्ठ २८५।

किया गया। जैसे-जैसे समय बीतता गया, औरंगजेब की धर्मांधता भी बढ़ती गई। सुप्रसिद्ध सूफी सन्त सहमद अपने उदार विचारों के लिए कत्ल कर दिया गया। हिन्दू धर्म और हिन्दुओं पर भी अनेक प्रकार से औरंगजेब ने आक्रमण करने शुरू कर दिये। अपने शासन के प्रथम वर्ष में ही उसने फरमान जारी किया कि "मेरा मजहब नये मन्दिरों के निर्माण की इजाजत नहीं देता।" १६६४ में उसने गुजरात के चिन्तामणि मन्दिर को उसमें गोवध करा कर पहले अपवित्र किया और फिर उसे मस्जिद में परिवर्तित कर दिया। उसने अपने सभी अफसरों को आदेश जारी किए कि जो मन्दिर हैं उन्हें नष्ट कर दिया जाए और नये मन्दिर न बनने दिए जाएँ। १६६९ में फिर उसने जोर मारा और काफिरों की पाठशालाओं तथा मन्दिरों के विरुद्ध जेहाद छेड़ दिया। उसने फरमान जारी किया कि इन सबको नष्ट कर दिया जाए, उनकी धार्मिक शिक्षा और प्रथाओं का दमन किया जाए।* मथुरा का सुप्रसिद्ध मन्दिर और सोमनाथ का मन्दिर पूरी क्रूरता के साथ नष्ट कर दिए गए। जजिया जिसे अकबर ने रद्द कर दिया था, फिर से जारी कर दिया गया। इस कर का सबसे अधिक बोझ गरीबों पर पड़ा। अगर कोई हिन्दू विरोध करता था तो उसे हाथी से रौंदवाया जाता था। शिवाजी ने इस सम्बंध में तर्क संगत पत्र लिखा, किन्तु औरंगजेब ने घृणा के साथ उसे रद्द कर दिया।

हिन्दुओं के दमन के तरीके

इस मामले में औरंगज़ेब बिल्कुल बहरा था,—हिन्दुओं के दुख-दर्द की आवाज़ उसके कानों तक नहीं पहुँचती थी, दया ममता का भी कोई प्रश्न नहीं उठता था, अपने राज-नीतिक हितों तक की उपेक्षा कर वह हिन्दुओं का दमन करता था। जजिया कर इतना अप्रिय हुआ कि कितनी ही जगह उसे लागू करने के लिये बल का प्रयोग करना होता था और उसकी वसूली के लिये कर उगाहने वाले अमीनों को अच्छी खासी सेना रखनी पड़ती थी। हिन्दू दुकानदारों और व्यापारियों से दुगनी चुंगी वसूल की जाती थी। सरकारी

* सरकार, खण्ड ३, परिशिष्ट ६ देखिए।

नौकरी और पुरस्कार उन हिन्दुओं को दिये जाते थे जो अपना धर्म छोड़कर मुसलमान बन जाते थे। "मुसलमान बन जाओ और कानूनगोई प्राप्त करो" इस कथन ने कहावत का रूप धारण कर लिया था। १६७१ में एक फरमान जारी किया गया कि शाही ज़मीन का लगान उगाहने वाले लोग केवल मुसलमान ही होंगे। सूबेदारों और तालुकेदारों को आदेश दिया गया कि वे अपने हिन्दू मुंशियों और मुनीमों को अलग कर उनकी जगह मुसलमानों को रखें। लेकिन हिन्दू अधिकारियों को बरखास्त करने के बाद शासन का काम चलाना कठिन हो गया। अन्त में यह हुआ कि हिन्दुओं की संख्या मुसलमानों से आधी रखी जाए। हिन्दुओं के मेलों और उत्सवों पर रोक लगाई जाने लगी और उनके लिये धार्मिक उत्सवों का मनाना कठिन हो गया। इस दमन चक्र का एक परिणाम यह हुआ कि व्यापारी लोग घबरा कर दकन की ओर चले गए। स्थिति यहाँ तक पहुँची कि सैनिकों के लिए रसद का सामान मिलना कठिन हो गया और उन्होंने सम्राट से अनुरोध किया कि जज़िया हटा लिया जाए। लेकिन नहीं, शरीयत के खिलाफ जाकर औरंगज़ेब अपने को दोज़ख का भागी नहीं बनाना चाहता था।

धर्म परिवर्तन

जज़िया के पीछे भावना यह थी कि उससे तंग आकर हिन्दू मुसलमान बनने लगेंगे। इन नये मुसलमानों को पुरस्कार और ऊँचे पद दिये जाते थे जो कि हिन्दू बने रहने पर कभी नहीं मिल सकते थे। गैर-मुसलमानों पर लगे करों से जो आय होती थी वह मुसलमानों के धार्मिक प्रचार में खर्च की जाती थी। १६६८ में सम्राट ने एक फरमान जारी करके पवित्र स्थानों के निकट हिन्दू त्योहार और उत्सवों का मनाया जाना निषिद्ध करार दे दिया।

जाटों का विद्रोह हिन्दुओं की प्रतिक्रिया

इस प्रकार अधिकांश जनता में जो कि भारी करों के बोझ से दबी हुई थी गहरा असन्तोष फैल गया। मथुरा जिले के जाट किसानों ने सब से पहले विद्रोह किया। तिलपट का ज़मीदार गोकुल जाट

उसका नेता था। काफी बड़ी संख्या में मुगल सैनिक उसका दमन करने के लिये भेजे गए। और इसमें उन्हें सफलता प्राप्त हुई। १६८८ में उन्होंने फिर विद्रोह किया और शासन के अन्त तक उनका विद्रोह शान्त नहीं हो सका।

१६७२ में सतनामियों के विद्रोह ने जो इतना बड़ा रूप धारण कर लिया इसकी बहुत कुछ ज़िम्मेदारी सम्राट की धर्मांधता पर थी। सतनामी सरकार के शब्दों में हिन्दुओं का ही एक सम्प्रदाय था जो "सत्य नाम" में विश्वास करता था। इसी लिये इस सम्प्रदाय के लोग सतनामी कहलाए। इनके विद्रोह के कारण का ठीक से पता नहीं चलता। किसी पैदल सैनिक और एक सतनामी के बीच कोई निजी झगड़ा उठ खड़ा हुआ था जो बढ़ कर भारी संघर्ष में परिवर्तित हो गया। विद्रोह के बाद इसने धार्मिक रूप ले लिया। औरंगज़ेब की कट्टर धर्मांधता इसके लिए बहुत कुछ ज़िम्मेदार थी। दिल्ली के आस-पास के इलाकों तक में सतनामी लूट-मार करते थे और उनके अनुयायियों की संख्या काफी बढ़ गई थी। नरनौल पर अधिकार कर वहाँ उन्होंने अपना राज्य स्थापित कर लिया था। खूनी संघर्ष के बाद, १६७२ में, औरंगज़ेब विद्रोहियों का दमन करने में सफल हो सका।*

---

* श्री ज़ेड फारूखी ने अपनी पुस्तक "औरंगज़ेब एण्ड हिज़ टाइम्स" (१९३५) में लिखा है कि जज़िया हिन्दुओं को ज़बर्दस्ती मुसलमान बनाने के लिए नहीं लगाया गया था, क्योंकि राज्य के हिन्दू पदाधिकारी इससे मुक्त थे, न इसकी वसूली में जुल्म किया जाता था। उसने यह भी लिखा है कि मन्दिरों को नष्ट करने के लिये भी सूबेदारों के पास कोई फरमान नहीं भेजा गया था और मुगल इलाके के पुराने मन्दिर अखंडित बने रहे। मुसलमान न्याय शास्त्रियों का मत था कि शरीयत नये मन्दिरों के निर्माण की इजाज़त नहीं देती। युद्धों में, बदले की भावना से प्रेरित होकर, कितने ही मन्दिर गिरा दिए गए, विशेष रूप से राजपूताना में श्री फारूखी ने इस आरोप का खंडन किया है कि सम्राट बेजा तौर पर न हिन्दुओं को दबाता था, न उन्हें सरकारी नौकरियों से वंचित रखता था। उसने लिखा है कि औरंगज़ेब धर्म-परिवर्तन के मामले में दबाव डालने का विरोधी था।

सिख और उनका सम्प्रदाय

उपर्युक्त विद्रोह के तीन वर्ष बाद सम्राट ने सिखों के नौवें गुरु तेग बहादुर को मरवा दिया। यहाँ सिखों के इतिहास पर एक दृष्टि डालना सुविधाजनक होगा। १५ वीं० शती के अन्तिम काल में उत्तर पश्चिमी-भारत में एक महान धार्मिक प्रचारक ने जन्म लिया इस प्रचारक का नाम नानक (जन्म १४६८) था। वह खत्री या व्यापारियों की जाति का था। पुरोहितों के वितंडावाद से तंग आकर धार्मिक सत्य की खोज में वह लीन रहता था। कबीर की तरह वह भी रूढ़ियों और धार्मिक रीति-रिवाजों के खोखलेपन का विरोधी था। हिन्दुत्व और मुसलमानत्व दोनों का ही वह विरोधी था। "भाइयों", कबीर की तरह वह भी कहता था—"वेद और कुरान झूठे हैं, बुद्धि को भ्रमजाल और चिन्ता से वे मुक्त नहीं करते। परमात्मा के निकट प्रार्थना और अहम के दमन के द्वारा पहुँचा जा सकता है; आत्म-संयम, हृदय-मन्थन और केवल उसी पर जिसकी नज़र लगी है, वही उसे पा सकता है।"

सिख-मत तब फिर है क्या? वह एक ईश्वर में विश्वास रखता है। मूर्ति-पूजा का विरोधी है। तीर्थों की यात्रा का वह निषेध करता है और जन्म तथा मृत्यु के पातक को वह स्वीकार नहीं करता। सामाजिक दृष्टि से यह वर्ण व्यवस्था को—ब्राह्मणों के प्रभुत्व या श्रेष्ठता को—नहीं स्वीकार करता। * एक ईश्वर और सभी मानव भाई हैं,—गुरु नानक के पंथ का यही आधार था।

सिख गुरुद्वारों का इतिहास

अपनी नवीनता के कारण सिख धर्म जनता में प्रिय हो गया और नानक के योग्य उत्तराधिकारियों ने इसके प्रचार में समुचित

* सुस्पष्ट और ठीक व्याख्या के लिए देखिए इम्पीरियल गज़ेटियर (१९११), खंड १, पृष्ठ ४२१-४२७ साथ ही जी० सी० नारंग लिखित "दी ट्रान्सफार्मेशन आफ सिखिज्म" (१९२२, लाहौर) भी देखिए। सिख गुरुओं के अधिक विस्तृत विवरण के लिये एम ए० मैकौलिफ लिखित "दि सिख रिलीजन" (१९०९) ६ खंडों में देखिए।

124617

योग दिया। नानक के बाद तीसरे गुरु ने गुरुद्वारा की गद्दी को परम्परागत रूप दे दिया। पांचवां गुरु अर्जुन एक सुयोग्य प्रचारक था (१५८१—१६०६)। उसने गुरुद्वारे को संघटित रूप दिया, प्रत्येक नगर में बसने वाले गुरु नानक के अनुयायियों से भेंट और दशांश वसूल करना शुरू कर दिया। गुरु का पद धर्मराज का होता था और वह दरबारियों और मंत्रियों से घिरा रहता था। गुरु अर्जुन की विद्वत्ता और अध्ययन-शीलता का तथा बाद में जहांगीर द्वारा उसकी हत्या का हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। जहांगीर के विद्रोही पुत्र शाहजादा खुसरो को सहायता देने के कारण गुरु अर्जुन की हत्या की गई थी। * अर्जुन के बाद उसका पुत्र गद्दी पर बैठा। उसका नाम हरगोविन्द था। उसने धार्मिक संस्था को एक लड़ाकू संघटन का रूप दे दिया। उसने शाहजहां तक से लोहा लेने का साहस किया था। १६४५ में उसकी मृत्यु हो गई और उसके बाद उसका पुत्र हरराय (१६४५-१६६१) गुरु की गद्दी पर बैठा। औरंगज़ेब से अपने व्यवहार में उसने काफी स्वतंत्रता का परिचय दिया। उसने दारा को उसके भागने में सहायता दी। अपने बाद उसने अपने दूसरे पुत्र हरकिशन को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया क्योंकि उसका पहला पुत्र औरंगज़ेब से जाकर मिल गया था और मुगलों के अहसान का बोझ अपने सिर पर लादे हुए था। हरकिशन की अकाल मृत्यु के कारण गुरु-पद के लिए झगड़े का दौर शुरू हो गया। अन्त में तेगबहादुर ने गुरु की गद्दी को सुशोभित किया। वह हरगोविन्द का सब से छोटा पुत्र था। वह एक बहादुर सैनिक और कट्टर धार्मिक नेता था।

नौवें गुरु तेग बहादुर की हत्या

गुरु-पदवी प्राप्त करने से पूर्व तेग बहादुर सम्राट का स्वामिभक्त

---

* सरकार तथा अन्य लेखकों का मत है कि गुरु अर्जुन की हत्या—मौत की सज़ा—का कारण विशुद्ध राजनीतिक था। इसे धार्मिक उत्पीड़न नहीं कहा जा सकता। औरंगज़ेब से पहले, धार्मिक कारणों से सिखों का कभी दमन नहीं किया गया। जहांगीर ने अपने संस्मरणों में सिख धर्म के प्रति अपनी घृणा को प्रकट किया है।

सैनिक था। सम्राट की ओर से आसाम के युद्ध में भाग लेकर उसने काफी गौरव और प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। किन्तु सम्राट की मदांधता और कट्टरपन ने उसके तन-मन में आग लगा दी। उसने काश्मीर के हिन्दुओं को ललकारा कि वे सम्राट की धर्म-परिवर्तन-नीति के सम्मुख कभी सिर न झुकाएँ। निरंकुश सम्राट भला यह कब सहन कर सकता था। तेगबहादुर को बन्दी बना कर दिल्ली ले जाया गया। सम्राट ने कहा कि अगर इसलाम कबूल कर लो तो जान बख्शी जा सकती है। तेग बहादुर ने इन्कार किया। पाँच दिन तक यंत्रणाएँ देने के बाद उसका सिर धड़ से अलग कर दिया गया (१६७५)। इस घटना के बाद से सिख मुगल-राज्य और इसलाम के कट्टर शत्रु हो गए। सिखों और इसलाम के बीच खुला संघर्ष शुरू हो गया। शहीद तेग बहादुर के पुत्र गोविन्द राम ने जो कि दसवाँ और अन्तिम गुरु हुआ। (१६७६-१७०८) अपने पिता का पूरी तरह से बदला दिया और अनेक सुधार कर के उसने अपनी जाति को लड़ाकू बिरादरी का रूप दे दिया। गुरु में अत्यधिक भक्ति और साहचर्य के भाव ने सिखों को एक सूत्र में बाँध दिया। उसकी जीवन गाथा और उपलब्धियों का हम आगे चल कर वर्णन करेंगे।

राजपूत युद्ध

अब हम मारवाड़ (जोधपुर) और मेवाड़ (उदयपुर) के राजपूतों के विरुद्ध औरंगज़ेब के युद्ध का वर्णन करेंगे। मारवाड़-राज्य पश्चिम में अरावली के उस पार स्थित था औरंगज़ेब के काल में मारवाड़ का शासक जसवन्त सिंह था। वह मुगलों का स्वामि-भक्त किन्तु अयोग्य सेवक रह चुका था। शिवाजी और उसके मराठा-घोड़ सवारों से पार न पाने पर सम्राट ने उसे खैबर दर्रे के पास छोटी सी सेना का नेतृत्व प्रदान कर भेज दिया था। कृतघ्न सम्राट की नौकरी से तंग आकर उसकी १० दिसम्बर १६७८ को मृत्यु हो गई।* अपने पीछे कोई उत्तराधिकारी वह नहीं छोड़ गया था।

* डाक्टर स्मिथ भी टॉड के इस मत से सहमत हैं कि औरंगज़ेब ने ज़हर देकर जसवन्त सिंह को मरवा डाला था। आक्सफोर्ड हिस्ट्री, पृष्ठ ३४८।

उसकी मृत्यु का समाचार मिलते ही सम्राट ने मारवाड़ पर अधिकार करने का आदेश जारी कर दिया। इस राजपूत राज्य पर अधिकार करने के तीन भारी कारण सम्राट के सामने थे। पहला तो यह कि मुगल राजधानी से सम्पन्न औद्योगिक नगर अहमदाबाद और कैम्बे के बन्दरगाह का सबसे सुविधा जनक मार्ग वह प्रदान करता था।* दूसरे मारवाड़ के मुस्लिम राज्य हो जाने पर वह मेवाड़ के शासकों के दम्भ को चूर कर सकता था। तीसरा यह कि मारवाड़ के पतन के बाद सम्राट का हिन्दू-विरोधी-नीति का सम्पूर्ण विरोध समाप्त हो जाएगा। इस प्रकार व्यापारिक, राजनीतिक और धार्मिक कारणों के संयुक्त प्रलोभन ने सम्राट को सर्वाधिक अन्याय-पूर्ण युद्ध के लिए तैयार कर दिया।

दुर्गादास

संयोगवश जसवन्त सिंह की दो रानियों में से प्रत्येक ने एक-एक पुत्र को जन्म दिया। उन्होंने सम्राट से अनुरोध किया कि दोनों में से एक को राज्याधिकारी मान लिया जाए, किन्तु सम्राट ने एक न सुनी, उल्टे उसने आदेश दिया कि दोनों माताओं को, उनके पुत्रों के साथ, बन्दी बना लिया जाए। नूरगढ़ के किले में उन्हें कैद करके डाल दिया गया। किन्तु दुर्गादास नामक एक राजपूत की कौशलता ने उन्हें किले से बाहर निकाल लिया। वह मारवाड़ का बहुत ही योग्य पुत्र, राजपूत गौरव और मर्यादा का प्रतीक तथा राठौरों के साहस और शौर्य का मूर्त रूप था।† किले के चारों ओर पहरा देने वाले मुगल रक्षकों से उसने जम कर संघर्ष किया, उनके चंगुल से दोनों बच्चों और रानियों को मुक्त करने में सफलता प्राप्त की और सुरक्षित रूप में मारवाड़ पहुँच गया।‡

---

* सरकार, हिस्ट्री आफ औरंगज़ेब, खंड ३, पृष्ठ ३६६।

† दुर्गादास के साहस की रोमांचकारी कहानी स्थानाभाव के कारण यहाँ नहीं दी जा सकी। इसके लिए सरकार की पुस्तक, खंड ३, पृष्ठ ३७५ देखें।

‡ जसवन्त का पुत्र अजित आबू के एक मठ में गुप्त रूप से रखकर पाला-पोसा गया।

जोधपुर (मारवाड़) का पतन

१६७९ में खुद औरंगज़ेब राजपूताना गया और अजमेर से मारवाड़ के विरुद्ध युद्ध का संचालन करता रहा। पुष्कर के निकट तीन दिन के घमासान युद्ध के बाद जिसमें दोनों पक्षों की भारी क्षति हुई, औरंगज़ेब ने कहने-भर को मारवाड़ पर अधिकार कर लिया। कहने भर को इसलिए कि विरोध का अन्त फिर भी नहीं हुआ और एक तरह का गारिल्ला युद्ध चलता रहा। इस युद्ध में समूचा राजपूताना क्षत-विक्षत हो गया। इस युद्ध का वर्णन करते हुए टाड ने अपनी अपूर्व शैली में लिखा है कि "जिस तरह बादलों से वर्षा होती है, उसी तरह से औरंगजेब ने अपने बर्बर सैनिकों को राजपूताना की भूमि पर वर्षा कर दी थी···जोधपुर का पतन हो गया, उसे लूट-मारकर बराबर कर दिया गया;—मैरत, डिडवाना और रोहित के प्रदेश में जितने भी नगर थे, सभी की यह गति हुई। धर्म-चिन्हों को पाँव-तले रौंदा गया, मन्दिरों को धूल में मिला दिया गया और उनकी जगह पर मस्जिदें खड़ी कर दी गई।"*

उदयपुर (मेवाड़) के विरुद्ध युद्ध

मारवाड़ की विजय वस्तुतः मेवाड़ की विजय का ही पहला कदम था। मेवाड़ उन दिनों महाराणा राजसिंह के शासन में था। पीड़ित मारवाड़ के राज-घराने की महिलाएँ महाराणा की निकट सम्बन्धी थीं। इसके सिवा मेवाड़ से सख्ती के साथ जज़िया वसूल करने का आदेश भी सम्राट ने हाल ही में जारी कर दिया था। इन सब कारणों से बहादुर राणा ने मारवाड़ के हितों की रक्षा करने का भार उठा लिया। परिणामतः जनवरी १६८० में शाहज़ादा अकबर के नेतृत्व में मुगल सेनाएँ उदयपुर आ पहुँची। राजधानी को, जिसे मुगल सैनिकों और तोपखाने ने, जिसका संचालन दक्ष युरोपीय कर रहे थे, लूट लिया। राणा राजधानी छोड़ कर चला गया। उदयपुर चित्तौड़ के मन्दिरों को आततायियों ने गिरा कर धूल

* टाड लिखित "एनल्स आफ मेवाड़", परिच्छेद ७, पृष्ठ ४७८, सस्ता संस्करण (१९१४), खंड २।

में मिला दिया। लेकिन युद्ध चलता रहा। शाहजादा अकबर ने अपने योग्य लैफ्टेंटों—तहव्वर खाँ और सैयद हसन अली खाँ—की मदद से कुछ सफलताएँ अवश्य प्राप्त कीं, किन्तु चित्तौड़ के निकट महाराणा के अप्रत्याशित आक्रमण के फलस्वरूप उसे भारी क्षति उठानी पड़ी।* राजपूतों की मदद वहाँ के किसान कर रहे थे और शीघ्र ही शत्रु के मुकाबले में उनका पलड़ा भारी हो गया। जब औरंगजेब पीछे हट कर अजमेर चला गया तो राजपूतों ने साहस के साथ मुगलों की चौकियों पर आक्रमण उनके रसद के साधनों को काट दिया। कई बार जब अकबर को राजपूतों के सामने नीचा देखना पड़ा तो सम्राट ने उसे मेवाड़ के मोर्चे से हटा लिया और खुद राजपूतों के प्रदेश में घुसने का प्रयत्न किया, पर सफल नहीं हो सका। जून १६८१ में सन्धि के साथ इस युद्ध का अन्त हो गया। औरंगज़ेब ने मेवाड़ पर से जज़िया हटा लिया और महाराणा ने कुछ इलाके सम्राट को भेंट कर दिये।

युद्ध का प्रभाव

मारवाड़ के साथ युद्ध औरंगजेब के समूचे शासन काल तक, किसी न किसी रूप में, चलता रहा। इस युद्ध के राजनीतिक प्रभावों का अब हम यहाँ ज़िक्र करेंगे। सबसे पहली बात तो यह कि औरंगजेब इस युद्ध में निर्णयात्मक सफलता नहीं प्राप्त कर सका, जिससे शाही प्रतिष्ठा को धक्का लगा। दूसरे मारवाड़ और मेवाड़ के छोटे इलाकों में उसे अपनी शक्ति और साधन खपा देने पड़े। तीसरे उसने श्रेष्ठतम और अत्यधिक स्वामिभक्त सैनिकों की भर्ती के साधनों को खो दिया। चौथे इन दो राजपूत राज्यों के साहस से प्रोत्साहित होकर मालवा तथा अन्य इलाकों में भी अराजकता फैल गई जिसने सम्राट के दक्षिणी आक्रमणों को संकट में डाल दिया। "यह थी वह फसल," सरकार ने ठीक ही लिखा—"जो जलालउद्दीन अकबर के प्रपौत्र की धर्मांधता और जातीय उत्पीड़न की नीति से उत्पन्न हुई थी,—जैसा उसने बोया, वैसा ही काटा!"

* सरकार स्टडीज़ इन मुगल इण्डिया, पृष्ठ ३९।

शाहज़ादा अकबर का विद्रोह

राजपूत-युद्ध से उत्पन्न परिस्थितियों को सम्राट के पुत्र शाहजादा अकबर के विद्रोह (१६८१) ने तीखा बना दिया। उसे मेवाड़ पर आक्रमण करने के लिए सम्राट ने भेजा था। अपने कर्त्तव्य का पालन करने में उसने शिथिलता दिखाई और साधारणतया उसने अपने-आप को अयोग्य सिद्ध किया। औरंगजेब ने उसकी कठोर प्रताड़ना की और उसे मारवाड़ से स्थानान्तरित कर दिया। सम्राट की प्रताड़ना से आहत शाहज़ादा ने मारवाड़ के देश भक्त दुर्गादास तथा मेवाड़ के महाराणा दोनों से गुप्त वार्ता शुरू कर दी। योजना यह थी कि अजमेर में सम्राट पर आक्रमण कर उसे सिंहासन-च्युत कर दिया जाय। अगर अकबर अधिक क्रियाशील होता तो यह योजना सफल हो जाती क्योंकि उस समय मुगल सेनाएँ विभिन्न दिशाओं में फँसी हुई थीं और अजमेर में सम्राट के साथ अधिक सैनिक नहीं थे। लेकिन अकबर में समय की गति की तेजी का साथ देने वाली क्रियाशीलता का अभाव था। उसने देर की और सम्राट को उपयुक्त बचाव के लिए सैनिकों को जमा करने का अवकाश मिल गया।

शाहजादा का शेष जीवन और अन्त

शाहजादा अकबर के विरुद्ध बल प्रयोग करने से पूर्व सम्राट ने उसे बदनाम करने का प्रयत्न किया। उसने अकबर के नाम से एक जाली पत्र बनवाया। इस पत्र में अकबर से कहलवाया गया था कि राजपूतों को फँसाने के लिए मैंने पूरा जाल तैयार कर लिया है। इस पत्र का वांछनीय प्रभाव हुआ। राजपूतों के सामने जब इस पत्र की बात पहुँची तो उन्होंने शाहजादा अकबर का साथ छोड़ दिया। शाहजादा को जब अपने पिता की चाल का पता चला तो वह भाग कर राजपूताना के भीतरी प्रदेश में चला गया और दुर्गादास के यहाँ उसने शरण ली। दुर्गादास ने संकटापन्न मार्ग तय करके शाहजादा सम्भा जी को मराठा दरबार में पहुँचा दिया। शाहजादा कई वर्ष तक मराठा प्रदेश में रहा। इसके बाद भाग कर

वह फारस चला गया और वहीं, जलावतनी में, उसकी मृत्यु (१७०४) हो गई।

राजपूत युद्ध का अन्त

शाहजादा अकबर के विद्रोह का राजपूत युद्ध पर निर्णयात्मक प्रभाव पड़ा। इसके फलस्वरूप सम्राट को अपनी अधिकांश सेनाएँ मारवाड़ बुला लेनी पड़ी और मेवाड़ पर उनका दबाव कम हो गया। महाराणा ने बदले के धावे किए और गुजरात तथा मालवा के मुगल सूबों पर आक्रमण किया। किन्तु अचानक उसकी मृत्यु हो गई। उसके बाद उसका निकम्मा पुत्र गद्दी पर बैठा और अन्त में, जून १६८१ में, मेवाड़ के साथ संधि हो गई। मुगल मेवाड़ से हट गए, महाराणा को उन्होंने मान्यता और ऊँची मनसबदारी प्रदान की। मेवाड़ के लिए भी यह युद्ध बहुत विनाशकारी सिद्ध हुआ। शत्रु ने समूचे इलाके को रौंद डाला था। मारवाड़ में संघर्ष चलता रहा जिसने बे-सिर-पाँव के युद्ध का रूप धारण कर लिया। जोधपुर के अगले तीस वर्षों का इतिहास इसी संधि-विहीन संघर्ष का इतिहास बन गया। दुर्गादास के कुशल नेतृत्व में राठौर गोरिल्ला, युद्ध द्वारा शाही सेनाओं को थका-थका कर बेजान करते रहे। अन्त में, १७०७ में, विजयी राजकुमार अजितसिंह ने जोधपुर में प्रवेश किया और सम्राट ने उसे मान्यता प्रदान कर दी।

[२]

दकन में औरंगजेब

मुगलों के दकन पर आक्रमण

अब संक्षेप में दकन पर औरंगजेब के अन्तिम आक्रमणों का परिचय देना शेष रह गया है। १६८० में शिवाजी की मृत्यु ने सम्राट को दक्षिण पर चढ़ाई करके अपने जीवन का सपना पूरा करने का प्रोत्साहन दिया। औरंगजेब की चिर-पोषित आकांक्षा थी कि वह बीजापुर और गोलकुण्डा पर आधिपत्य करे। मराठों की शक्ति को बीजापुर और गोलकुण्डा की सहायता से औरंगजेब नष्ट करने की आशा कर सकता था। लेकिन मराठों को नष्ट न करके औरंगजेब ने बीजापुर और गोलकुण्डा को ही नष्ट कर दिया। कुछ का कहना

है कि औरंगजेब की यह गलती थी। लेकिन यह भी असम्भव मालूम होता है कि दकन के जिन सुलतानों को मराठा सैनिकों का सहयोग और मुगलों का निरन्तर विरोध मिलता रहा, वे मराठों के विरुद्ध सम्राट से मिल जाते। कुछ ने यह भी मत प्रकट किया है कि अगर सम्राट दकन के सुलतानों को स्वतन्त्र रहने देते तो वे मराठों की बढ़ती हुई अराजकता को रोकने में पुलिस का काम करते। किन्तु दकन के दोनों ही मुसलमान राज्य ह्रास की सीमा पर पहुँच चुके थे, अराजकता और सूबाई उत्पातों से घिरे हुए थे। उनके वश की यह बात न थी कि सम्भाजी तथा दूसरे मराठा सेनापतियों की शक्ति का सामना कर सकते।

शाहज़ादा अकबर के विद्रोह और मराठा प्रदेश में भाग कर चले जाने में औरंगजेब को राजपूतों से न केवल संधि ही कर लेनी पड़ी, वरन् उसने सम्भाजी का दमन तथा शाहजादा अकबर को पंगु करने का भी निश्चय किया।

सम्भा जी से युद्ध

१६८१ में औरंगजेब दकन पहुँचा था। इसके एक वर्ष बाद तक वह निश्चय नहीं कर सका कि उसे क्या करना चाहिए। शाहज़ादा अकबर, काफी समय तक मराठा दरबार में रहने के बाद, सम्भा जी की विचार हीनता तथा अपने साथी अमीरों के अलग हो जाने के कारण शक्ति-क्षीण और निराश हो चुका था। उसे अब आशा नहीं थी कि उपयुक्त शक्ति का संचय कर सकेगा। इसलिए उसने फारस जाने की योजना बनाई और उस पर अमल करने की कोशिश की। १६८१ में मुगल सेना ने कोंकण पर आक्रमण किया। उस समय सम्भा जी पुर्तगीज़ों के साथ युद्ध में फँसा था। मुगल नौ सेनापति सिद्दी अकबर को न भागने देने के लिए समुद्री मार्गों पर ताक रख रहा था। मुगल सेना को अपने आक्रमणों में विशेष सफलता नहीं मिली यद्यपि कई किलों पर सेना ने अधिकार कर लिया था और सम्भा जी के परिवार की कुछ महिलाएँ भी बन्दी बना ली गई थीं। १६८५ में जब मुगलों ने बीजापुर पर आक्रमण किया तो सम्भा जी ने कोई ध्यान नहीं दिया, व्यर्थ की बातों में वह समय बिताता रहा, लेकिन उसके मन्त्रियों ने बुद्धिमानी पूर्वक मुगलों के विरुद्ध बीजापुर

को सहायता दी। परिणामतः इस वर्ष मुगल सेनाओं की सारी शक्ति बीजापुर के विरुद्ध केन्द्रित रही और मराठों के विरुद्ध उसका दबाव बहुत ही कम हो गया।

बीजापुर पर अन्तिम आक्रमण

बीजापुर की स्थिति निराशा-जनक थी। शासन-व्यवस्था बिगड़ चुकी थी, किन्तु नगर और उसके भीतरी किले की स्थिति, बचाव की दृष्टि से, दुर्भेद्य थी। मुगलों के घेरे के बोझ को अच्छी तरह से सँभाला जा सकता था। मुगलों ने घेरा डालने में काफी शिथिलता और अटपटेपन से काम लिया। फलतः आदिलशाह को गोलकुण्डा और मराठों की मदद प्राप्त करने का अवसर मिल गया। मुगल छावनी में रसद न रहने से अकाल पड़ गया। पन्द्रह महीने बीत जाने पर भी घेरा डालने का कोई लाभ नहीं निकला था। आखिर जब औरंगजेब मोर्चे पर उपस्थित हुआ तो सैनिकों ने उत्साह और लगन के साथ तेज़ आक्रमण किया। आदिलशाह इस आक्रमण की ताब न ला सका और उसे आत्म समर्पण करना पड़ा। इस प्रकार सितम्बर १६८६ में बीजापुर की राजसत्ता का पतन हो गया।

अधिकृत बीजापुर

१६८५ में गोलकुण्डा पर भी आक्रमण शुरू हुआ। शाही सेना का नेतृत्व शाहज़ादा मुअज्जम कर रहा था। उसने संधि कर लेना अधिक उपयुक्त समझा। १६८६ में बीजापुर साम्राज्य में मिला लिया गया और इस प्रकार आदिलशाह वंश का अन्त हो गया। इसके बाद गोलकुण्डा के साथ शान्ति की संधि अनुचित ढंग से भंग कर दी गई और युद्ध फिर शुरू हो गया। युद्ध के कारण ये प्रकट किए गए—शासन-कार्य चलाने के लिए सुलतान अबुल हसन काफिरों को अपने यहाँ रखता है; सुलतान खुद शराब पीता है और दूसरों को व्यसनों की ओर प्रोत्साहित करता है; मराठों को अपनी सेना में रखता है और "पापी शिवाजी" के पुत्र सम्भा जी को नज़राना देता है।*

---

* हेग लिखित "हिस्टारिक लैण्डमार्क्स आफ दि दकन; पृष्ठ १६२।

गोलकुण्डा का पतन (१६८७)

इस संघर्ष के थका देने वाले विस्तार में हम नहीं जाएँगे। गोलकुण्डा का घेरा आठ महीने से अधिक तक पड़ा रहा। खुद सुलतान और उसके दूर-दूर तक विख्यात सेनापति अब्दुल रज्जाक खाँ लारी ने पूरी योग्यता के साथ गोलकुण्डा की रक्षा के लिए प्रयत्न किया। अपनी वीरता और स्थायी भक्ति में अब्दुल रज्जाक खाँ बहुत बढ़ा-चढ़ा था। उसकी तुलना में मुगल जेनरल धोखाधड़ी, बेईमानी और भ्रष्टाचार के पुतले थे * फिर भी अक्टूबर १६८७ में गोलकुण्डा का पतन हो गया। किले से लूट का भारी माल हाथ लगा। सुलतान अबुलहसन को बंदी बना कर दौलताबाद भेज दिया गया। अपने इस पतन में भी सुलतान ने अपने आत्म-सम्मान और प्रतिष्ठा को नहीं छोड़ा। सरकार ने लिखा है कि "शासन का अन्त होने पर जितना उसका व्यक्तित्व निखरा उतना समूचे शासन के दौरान में नहीं।" बीजापुर मुगल साम्राज्य का नियमित सूबा बना लिया गया था, किन्तु इसके दक्षिणी और दक्षिण-पश्चिमी इलाकों को अपने वश में लाने के लिए मुगलों को अनेक बार सैनिक कार्यवाही करनी पड़ी। तेज़ गति के साथ, बहुत जल्दी, बीजापुर

* खफी खाँ नामक एक समकालीन इतिहास-लेखक ने अब्दुल रज्जाक के बारे में जो कुछ लिखा है वह उद्धृत करने योग्य है—"सागर की ओर तेज़ी से बहने वाली पानी की बूँद की भाँति या सूर्य पर आक्रमण करने के लिए ऊपर को उठने वाली किरनों की भाँति वह अपने शत्रु पर टूट पड़ता था, उसका साहस और वीरता कल्पनातीत थी, एक बहादुर आदमी की तरह पूरी शक्ति से वह लड़ता था और चिल्ला कर घोषित करता था—"मेरा शरीर, जब तक इसमें जान है, मेरे स्वामी अबुल हसन के लिए न्योछावर है।"

तलवार लिए हजारों विरोधियों के बीच, उनके वारों को अपने ऊपर लेता हुआ, प्रतिक्षण वह अपने घोड़े के कदम आगे बढ़ाता गया,—यहाँ तक कि उसका समूचा शरीर लहू-लुहान हो गया,—लगता था जैसे अपने रक्त से ही अब वह लड़ रहा है। सिर की चोटी से लेकर पाँव के तलुवे तक सारा शरीर अनगिनत घावों से भरा हुआ था और प्रत्येक घाव घातक मालूम होता था। किन्तु अभी उसका अन्त नहीं आया था, किले के फाटक तक बिना गिरे वह

नष्ट प्रायः हो गया। बीजापुर और गोलकुण्डा के पतन के साथ मुगल साम्राज्य का विस्तार, दक्षिण में तञ्जोर तक हो गया। मुगलों के विस्तार की यह अधिकतम सीमा थी। किन्तु इन दो राज्यों का सलतनत में मिला कर इनकी सत्ता का अन्त कर देना राजनीतिक दृष्टि से गलत सिद्ध हुआ। बीजापुर और गोलकुण्डा का स्वतंत्र किन्तु मुगल-पक्षीय अस्तित्व मराठों के शक्ति-विस्तार को रोकने में किसी सीमा तक अवश्य सहायक हो सकता था।

मराठों से युद्ध सम्भा जी का अन्त

औरंगज़ेब के जीवन के शेष वर्ष मराठों का दमन करने के व्यर्थ प्रयत्नों में बीते। केवल कुछ मुख्य घटनाओं का यहाँ हम उल्लेख करेंगे। औरंगज़ेब जब बीजापुर और गोलकुण्डा पर अधिकार करने के प्रयत्नों में लगा हुआ था, सम्भाजी ने समान खतरे से बचने और बीजापुर तथा गोलकुण्डा को मदद देने का कोई प्रयत्न नहीं किया। उसकी शासन-व्यवस्था भ्रष्ट हो चुकी थी और वह स्वयं कामुक जीवन में फँस गया था। विद्रोहों और उसके विरुद्ध

पहुँच गया और गिरते-गिरते भी वह लड़ता रहा। बारह घाव उसके मुँह पर लगे थे, उसके माथे की खाल, नकाब की तरह, उसकी आँखों और नाक के ऊपर लटक आई थी। इस खाल को उठाकर जब देखा गया तो पता चला कि तलवार के घाव से नष्ट हो गई है। उसके बदन पर लगे घावों की गिनती करना तारे गिनने के समान कठिन था। उसके घोड़े पर अनगिनत घाव लगे थे और वह खड़ा-खड़ा हाँफ रहा था। अब्दुल रज्जाक पूरी तरह शक्ति क्षीण हो गया, उसके हाथ से लगाम छूट गई और अपने को घोड़े के भरोसे पर—जहाँ भी वह ले जाए—उसने छोड़ दिया। भटकता हुआ घोड़ा किले के निकट नगीना बाग में पहुँच गया और वहाँ जाकर एक खजूर के वृक्ष के नीचे खड़ा हो गया। रज्जाक ने अब अपने को धरती पर गिरा दिया। अगले दिन सुबह हुसेनी बेगम के कुछ आदमियों ने उधर से गुज़रते हुए उसे देखा और पहचाना। इतने बहादुर शत्रु के प्रति ममता से प्रेरित होकर, उन्होंने अर्द्ध-मृत रज्जाक को उठाकर बिस्तरे पर लिटा दिया और उसके घोड़े तथा हथियारों के साथ उसे उसके घर पहुँचा दिया। देखिए एलियट और डासन, हिस्ट्री आफ इण्डिया, खंड ७, पृष्ठ ३३२-३३।

षड्यन्त्रों की संख्या बढ़ती जा रही थी। उसका मुँह लगा मन्त्री कवि कुलेश तक उसे सिंहासन-च्युत कर उसके सौतेले भाई राजाराम को गद्दी पर बैठाना चाहता था। १६८७ में मुगल जेनरल मुकर्रब खाँ ने सम्भाजी, उसके प्रिय मन्त्री और घरवालों को बन्दी बना लिया और सम्राट ने बर्बर ढंग से उसकी हत्या करा दी। सम्भा जी के पुत्र साहू का हरम में रख कर लालन-पालन किया जाने लगा।

मुगलों के विफल युद्ध

१६९० से १६९८ तक मराठों के दृढ़ दुर्ग जिंजी पर आधिपत्य करने के प्रयत्नों में शाही धन और शक्ति लगा दी गई। यद्यपि १६८८ और १६८९ में सम्राट को मराठों के विरुद्ध समान सफलता मिलती थी और उसकी सेनाएँ पूर्व में भी और दक्षिण में भी आगे बढ़ कर रायचूर और ऊदौनी, सेरा और बंगलौर, वाँकपुर और बेलगाँव, वान्दीवाश और काञ्जीवरम (गोलकुण्डा करनाटक में स्थित) को अपने अधिकार में कर सकीं, किन्तु शान्ति के चिन्ह फिर भी नहीं दिखाई देते थे। १६९० में मुगल सैनिकों को गहरा आघात खाकर पीछे हटना पड़ा और करनाटक तटवर्ती प्रदेश में स्थित जिंजी—जिस पर शिवाजी ने आधिपत्य कर लिया था—मराठों के जातीय प्रतिरोध का केन्द्र बन गया। औरंगज़ेब मराठों के स्वभाव, प्रतिरोध करने की उनकी शक्ति और उनकी जातीय भावना की पुष्टता को नहीं समझ सका और मराठों की शक्ति को उसने कम आंका। किन्तु हर कहीं, पूना से जिंजी तक, समूचे प्रदेश के इस छोर से उस छोर तक मराठा मुगलों की सत्ता और शासन के विरोध का केन्द्र तथा साधन बन गए। इस काम में लुटेरा जातियों के लोग भी उनका साथ दे रहे थे। जिंजी के दीर्घ-कालीन घेरे से मुगलों की सैनिक प्रतिष्ठा को गहरा आघात लगा। मुगल सेनाओं का नेतृत्व सम्राट का सबसे छोटा और प्रिय पुत्र काम बख्श कर रहा था। उसे सम्राट की लांछना का भागी होना पड़ा और राजाराम, मुगल जेनरल के निष्क्रिय सहयोग की ओट में, किले से निकल भागा। जिंजी का पतन हुआ, मगर पंछी के निकल भागने के बाद!

चौथा परिच्छेद

शासन के अन्तिम वर्ष

दकन में मराठों के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष के दौरान में मुगलों ने सतारा, रायगढ़ तथा दूसरे किलों पर अधिकार करने में सफलता प्राप्त कर ली थी। किन्तु हर आक्रमण को प्रभाव पूर्ण बनाने के लिए खुद सम्राट को उसका नेतृत्व करना पड़ा। सम्राट के जीवन के अन्तिम वर्ष (१६९९-१७०७) एक तरह की बोझल घटना की आवृत्ति से भरे हुए थे—समय, आदमी और धन के भारी अपव्यय के पश्चात किसी एक पहाड़ी किले पर विजय प्राप्त करना, कुछ मास बाद दुर्बल मुगल सेनाओं के हाथ से उस किले को मराठों का फिर छीन लेना, एक या दो वर्ष उस किले को प्राप्त करने के लिए मुगलों का फिर घेरा डालना—इन संघर्षों में प्रतिवर्ष एक लाख आदमी और इससे तीन गुना मवेशियों को बलि देनी पड़ती थी। दकन की आर्थिक स्थिति भयानक रूप से शून्य हो चली थी। व्यापार प्रायः समाप्त हो गया था, अपनी भयानक असफलता का सम्राट को पूरा आभास था और सोने पर भारी बोझ लिए, घर के स्नेह शून्य डरवाने वातावरण में, अहमदाबाद में, १७०७ के प्रारम्भ में उसकी मृत्यु हो गई।

उत्तरी भारत का पतन

उत्तरी भारत की स्थिति भी बहुत शोक-पूर्ण थी। हुकूमत का प्रायः दिवाला निकल चुका था और प्रान्तीय सूबेदारों की शक्ति इतनी क्षीण हो चुकी थी कि उनके लिए अपनी सत्ता को बनाए रखना कठिन था। पुराने और अधिक स्थायी सूबे मानव-शक्ति और धन से शून्य हो चुके थे और अब यह उनके वश की बात नहीं थी कि वे दकन की सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति में योग दे सकें। सभी श्रेष्ठ सैनिक, उच्चतम अधिकारी, समूची सरकारी आमदनी दकन को भेंट चढ़ा चुके थे और अब सूबों का शासन छोटे अधिकारियों, अपर्याप्त सैनिकों और अति-क्षीण आय के सहारे चल रहा था। उत्तर भारत में पहले की सांस्कृतिक परम्परा को जीवित रखने वाला अब कोई शाही दरबार नहीं रहा था। सम्राट उत्तर भारत से बहुत दूर दकन में कैम्प-जीवन बिता रहा था,

अभिजात्य-वर्ग की संस्कृति ह्रासोन्मुखी हो चुकी थी; धन के अभाव में कला को प्रोत्साहन देना छूट गया था और भारत का समूचा बुद्धि-जीवी वर्ग धीरे-धीरे नीचे की ओर गिरता जा रहा था।

औरंगजेब का चरित्र

औरंगजेब में अनेक गुण थे। इसलाम के प्रति उसकी भक्ति और शरीयत के अनुसार कार्य करने की लगन, कुरान के विधान को सब पर लागू करने की उसकी तत्परता, उसे हर मुसलमान की प्रशंसा का पात्र बना देती है। उसके जीवन की सादगी और संयम-शीलता अनुकरणीय थी। उसकी भारी अध्यवसाय-शक्ति और अपने उद्देश्य के पीछे पड़ जाने की क्षमता सभी शासकों के लिए अनुकरणीय थी। किन्तु हिन्दुस्तान के सम्राट के रूप में वह बुरी तरह असफल हुआ। वह नहीं समझ सका—समझ भी लेता तो वह उसे अमल में नहीं ला पाता—अकबर महान ने जिस हिन्दू-मुस्लिम एकता के शुभ सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था, वह उसकी पहुँच से बाहर था। वह अपने धर्म के लिए जिया, उसके लिए उसने बहुत कुछ किया भी, लेकिन साम्राज्य के लिए वह कुछ नहीं कर सका। उसकी अनेक गलतियों के कारण साम्राज्य विशृङ्खल हो गया। जजिया का लगाना प्रथम श्रेणी की राजनीतिक गलती थी। इसने हिन्दुओं को उसका कट्टर शत्रु बना दिया और वे किसी भी रूप में उसके साथ समझौता करने में समर्थ न हो सके। मन्दिरों के विनाश के उग्र कार्यक्रम ने हिन्दुओं के असन्तोष को इतना गहरा कर दिया कि उसके चिह्न अभी तक नहीं मिट सके हैं। मारवाड़ और मेवाड़ पर उसके अवांछनीय आक्रमणों के कारण मुगल सेना की शक्ति काफ़ी क्षीण हो गई और उसने लड़ाकू राजपूतों के सहयोग से अपने को वञ्चित कर लिया। उनके गुरु की हत्या कर उसने सिखों को अपना विरोधी बना लिया। इस हत्या का ही यह फल था जो एक धार्मिक सम्प्रदाय लड़ाकू सम्प्रदाय में परिवर्तित हो गया। उसकी अफ़गान-सम्बन्धी नीति भी उपयोगी सिद्ध नहीं हुई। सीमान्त में बसने वाले कबीलों को शान्त रखने के

लिए शाही खजाने से भारी रकमें देनी पड़ीं। मराठों के बढ़ते हुए महत्त्व और शक्ति को वह नहीं पहचान सका और बजाय इसके कि उन्हें अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न करता, उसने उसके बढ़ने के और भी साधन जुटा दिये। बीजापुर और गोलकुण्डा पर उसके आधिपत्य ने मराठों के लूट-मार के धावों को और सहज तथा सुगम बना दिया जिसकी वजह से मुगलों की सैनिक शक्ति तथा प्रतिष्ठा को काफी धक्का लगा। उसके दकन के आक्रमण शिथिलता से ओत-प्रोत थे और उसकी प्रतिष्ठा तथा ख्याति को इन आक्रमणों ने धूल में मिला दिया। दकन में उसकी दीर्घकालीन उपस्थिति के कारण उत्तर में भारी अशान्ति उत्पन्न हो गई और भारी बोझ से दबे हुए किसान विद्रोह पर उतर आए। इस प्रकार उसके जीवन-काल में ही साम्राज्य को विशृङ्खल करने वाले तत्त्व उत्पन्न हो गए थे। औरंगजेब के चरित्र और उसके शासन की उपलब्धियों के सम्बन्ध में निम्न वक्तव्य से प्रायः सभी सहमत होंगे—'इसमें सन्देह नहीं कि औरङ्गजेब का जीवन एक भारी असफलता थी, किन्तु यह एक शानदार असफलता थी। उसने अपनी आत्मा को दुनिया के विरुद्ध लगा दिया था, यह बात दूसरी है कि इस संघर्ष में उसकी पराजय हुई। उसने अपना एक कर्त्तव्य-पथ चुन लिया था और उसी पर स्थिरता के साथ वह आगे बढ़ा, बावजूद इसके कि यह एक असम्भव और सर्वथा अव्यावहारिक कार्य था। उसकी महानता इस बात में थी कि उसने अपनी आत्मा के साथ समझौता नहीं किया, अपने धर्म के रङ्गों को उसने फीका नहीं पड़ने दिया··· सचमुच वह ऐसी धातु का बना था कि उसके सिर पर शहीदों का ताज रखा जा सकता है।''*

---

* लेनपूल, औरंगजेब (रूलर्स आफ इण्डिया), पृष्ट २०५

पाँचवाँ परिच्छेद

मराठों का इतिहास (१७१४ तक)

[१]

मराठा जाति (राष्ट्र) का निर्माण

महाराष्ट्र मराठों की जन्म भूमि है। महाराष्ट्र की सीमाएँ समय-समय पर बदलती रही हैं। सोलहवीं शती में शतपुत्र नदी तक इसकी उत्तरी सीमा थी। ननदोद से पश्चिम में वैनगंगा तक, जो कि नागपुर के पूर्व में है, यह फैला हुआ था। पूर्व और दक्षिण में इसकी सोमा शतपुत्र के साथ-साथ वरधा के साथ उसके संगम-स्थल तक और फिर पच्छिम की ओर मानिकगढ़ होती हुई महोर तक चली गई थी। महोर से गोआ तक यह सीमा बे-सिलसिलेवार चली गई थी। पच्छिम में भारतीय सागर है। सत्रहवीं शती में मराठा शक्ति का केन्द्र कोंकण था,—पच्छिमी घाट और समुद्र के बीच का कम चौड़ा प्रदेश। समूचा देश अत्यधिक पहाड़ी और नाहमवार है। विशेषरूप से घाटों की लम्बी शाखाएँ।पूर्व की ओर दकन तक चली गई हैं। इन लम्बी शाखाओं के बीच मनोहर छोटी-छोटी घाटियाँ बन गई हैं जिनमें से छोटी-छोटी नदियाँ निकल कर उछलती कूदती गोदावरी या कृष्णा से मिल जाती हैं। समूचा प्रदेश नदियों से भरा हुआ है, जिनमें प्रमुख नर्मदा, ताप्ती, गोदावरी, भीम और कृष्णा नदी हैं। कृष्णा तथा गोदावरी तथा इनकी दो अन्य बहनों नीरा और मौन के तटवर्ती प्रदेश घोड़ों की नसल के लिए प्रसिद्ध हैं—"जो आकार में कुछ छोटे होने पर भी दकन में श्रेष्ठतम और कड़ी जान के माने जाते हैं।" फिर सभी घाट और आस-पास के पहाड़ों का शिरोभाग एक चिकनी दीवार के रूप में

होता है। इन दीवारों में जो सबसे ऊँची हैं वे तथा अन्य असम्बंद्ध पहाड़ियाँ प्राकृतिक किले बन्दी का काम देती हैं। परिश्रम केवल समतल स्थल तक पहुँचने में करना होता है जो कि साधारणतया चोटी पर स्थित होता है। विभिन्न कालों में विभिन्न शासकों ने इन समतल स्थलों से लाभ उठाया है। चोटियों तक पहुँचने के लिए उन्होंने सीढ़ियाँ या सड़कें बना ली थीं। प्रवेश द्वार को सुरक्षित रखने के लिए द्वारों की एक शृङ्खला का वे निर्माण करते थे, ताकने के लिए बुर्ज बनाते थे और इस प्रकार घाटों के आस-पास का समूचा प्रदेश किलों से भर गया था जो साधारणतया दुर्भेद्य और दुर्गम समझे जाते थे। *

प्रादेशिक-विभाजन

महाराष्ट्र को तीन स्पष्ट तथा अलग प्रदेशों में बाँटा जा सकता है। कोंकण का समुद्रवर्ती प्रदेश, शतपुत्र और घाट-वर्ती प्रदेश जो मलवा कहलाता है, पूर्वी घुमावदार मैदानों वाला प्रदेश जो देश कहलाता है। काल की गति के अनुसार मावल और देश पर विदेशियों—विशेषरूप से मुसलमानों—का आधिपत्य हो गया। महाराष्ट्र प्राकृतिक स्थिति और जल-वायु की दृष्टि से भाग्यशाली रहा है। यह सौभाग्य अन्य पठारी प्रदेश, जैसे मैसूर और मालवा, को प्राप्त नहीं है। "अपनी स्थिति के कारण......महाराष्ट्र की आबादी में आर्यों और द्रविड़ों का उपयुक्त अनुपात में मिश्रण रहा है जिसके फल स्वरूप दोनों अपने गुणों को—दुर्गुणों को और अति-रंजित ध्यान दिए बिना—कायम रख सके हैं।" रानाडे के शब्दों में विभिन्न जातियों के समुचित अनुपात के कारण यहाँ की संस्थाएँ और धार्मिक भावनाएँ सन्तुलित रह सकी हैं। यह एक ऐसी विशेषता है जो अन्यत्र नहीं पाई जाती। गाँव में बसने वाले लोग कड़ी जान के थे और बिना क्षति के राजनीतिक हलचलों को वे पार कर गए। पंचायती और रैयतवाड़ी बन्दोबस्त होने के कारण उनके जीवन में स्थायित्व और स्वतंत्रता की भावना उत्पन्न हो गई थी।

---

* एलफिन्स्टन, हिस्ट्री आफ इण्डिया, कॉवल द्वारा संपादित, पाँचवाँ संस्करण, पृष्ठ ६१५।

देश के धार्मिक जीवन में अतिवाद और संकुचित साम्प्रदायिकता की भावना नहीं थी। धार्मिक सुधारकों के उपदेशों ने निम्न श्रेणी के लोगों को सामाजिक चेतना का स्तर ऊँचा उठा दिया था। इस देश में बसने वाले मुसलमानों तक में यह उदार भावना पाई जाती थी और उनकी धार्मिक कट्टरता बहुत कुछ कम हो गई थी। अपने वक्तव्य को समाप्त करते हुए रानाडे ने लिखा है कि "देश की प्रकृति के अनुसार यहाँ के निवासियों के चरित्र तथा उनकी संस्थाओं के फल स्वरूप जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, स्वायत्त-शासन तथा स्वतंत्रता की भावना इस सीमा तक विकसित हो गई थी कि अधिक दिनों तक कोई भी राजनीतिक संस्था इस पर अपना नियंत्रण रखने में सफल नहीं हो सकती थी। हिन्दू हो चाहे मुसलमान, किसी के नियंत्रण को यह देश स्वीकार नहीं कर सकता था।" *

मराठों के जातीय गुण

मराठों की असली जन्म भूमि कोंकण और पश्चिमी घाटों से लगा हुआ पहाड़ी तथा असमतल प्रदेश रहा है। इसी लिए उनमें प्रमुख रूप से "क्रियाशीलता' साहस" आत्मनिर्भरता' आत्माभिमान और समान-प्रेम' के जातीय गुण पाए जाते थे। दकन का कोई भी सुलतान इन पहाड़ी लोगों की कमर नहीं झुका सका और अगर उसने कभी इसका प्रयत्न भी किया तो उसे सफलता नहीं मिली। उनके युद्ध करने की प्रणाली और नीति अफगानों से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी। भूमि के अनउपजाऊ होने के कारण उन्हें बहुधा दकन के सुलतानों के यहाँ, सैनिक के रूप में, नौकरी करने के लिए बहुधा बवाध्य होना पड़ता था। इसीलिए शतियों तक सैनिक जीवन के प्रति मराठों में आकर्षण रहा है। कलम के सहारे मुंशी गीरी या मुनीमी करना उनकी प्रकृति के विरुद्ध था। दकन के अन्य सम्पन्न तथा सभ्य प्रदेशों की भाँति जातीय भेदभाव और तज्जन्य विशृङ्खलता से भी मराठा जाति मुक्त रही। समानता के भाव से वे प्रायः ओतप्रोत थे। समानता की इस भावना को मठाधीशों

* राइज़ आफ मराठा पावर, पृष्ठ २५।

और सम्राटों के आदेशों से कुण्ठित होने का अवसर नहीं मिला, बल्कि पन्द्रहवीं और सोलहवीं शती के धार्मिक आन्दोलनों ने इसे और पोषित तथा समृद्ध किया। सोलहवीं शती के धार्मिक आन्दोलनों का उद्देश्य सुधार-वादी था। सन्तों और पैगम्बरों की लम्बी शृङ्खला ने जन्म के बजाय कर्म को प्रधान माना है। रीति-रिवाजों और रूढ़ियों की नहीं, व्यक्तिगत-चरित्र और जीवन की वे अधिक चिन्ता करते थे। "तुकाराम (जन्म १५६८), रामदास (जन्म १६०८), वामन पण्डित (जन्म १६३६) और एकनाथ (जन्म १५२८) के नाम आज भी महाराष्ट्र के लोगों के मस्तिष्क पर सबसे अधिक प्रभाव रखते हैं।" *

दकन में हिन्दुत्व का प्रभाव और पुनर्जागरण

दकन में मुसलमान राज्यों में हिन्दू काफी घुस गए थे और उनका प्राधान्य हो गया था। इस प्राधान्य में उत्तर से आने वाले प्रवासियों के कारण निरन्तर वृद्धि होती रहती थी। बहमनी सलतनत के माल का सारा प्रबंध तथा सारा हिसाब-किताब हिन्दू अधिकारियों के हाथ में था और गाँव का सारा हिसाब-किताब देशी भाषा में रखा जाता था। विजयनगर ने दकन के हिन्दू और मुसलमानों के बीच सन्तुलन स्थापित रखने में योग दिया था। मराठा सैनिक निर्द्वन्द्व रूप से सुलतानों की सेनाओं में भर्ती होते थे। इनमें कितने ही शक्तिशाली सेनापतियों के पद तक पहुँच गए जो काफी बड़ी जागीरों का उपभोग करते थे। कितने ही मराठा परिवार, शिवाजी के समय से पूर्व हो, भारी शक्ति और प्रभाव से युक्त हो गए थे। इसका फल यह हुआ कि सत्रहवीं शती के प्रारम्भ में दकन के सुलतानों के नागरिक और सैनिक विभागों का नियंत्रण मराठा नीतिज्ञों और सैनिकों के हाथ में पहुँच गया था और घाटों के निकट स्थित तथा आस-पास के अन्य किले के मराठा जागीरदार नाम मात्र को ही मुसलमान सुलतानों के अधीन थे।

उस काल की नयी भावना

अकबर के शासन-काल में जब दकन पर मुगलों के आक्रमण

* रानाडे, राइज आफ मराठा पावर, पृष्ठ १०।

शुरू हुए तो उनका प्रतिरोध करने के लिए मुसलमान शासक और उनके मराठा सरदार दोनों ही समान रूप से उठ खड़े हुए।" इस नये खतरे का सामना करने के लिए नयी रण-नीति की आवश्यकता थी,—समान हितों की रक्षा तथा समान देश भक्ति और उदार धार्मिकता की आवश्यकता थी। मराठा सरदारों की बिखरी हुई शक्ति को संयुक्त करके संघ-बद्ध बनाने की आवश्यकता थी। ताकि समान उद्देश्यों और समान देश भक्ति की भावनाओं से प्रेरित होकर नये खतरे का मुकाबला किया जा सके।" शिवाजी ने समय के इस तकाजे और उसकी आवश्यकता को अनुभव किया और अपने व्यक्तित्व को इस नयी चेतना का मूर्तरूप प्रदान कर दिया। शिवाजी में इस कार्य को पूरा करने की क्षमता थी जिसे सब ने अनुभव किया और देखा।

मराठों में कुछ निहित कमजोरियाँ भी थीं। उनकी ये कमज़ोरियाँ और दुर्गुण अठारहवीं शती में उभर कर सामने आगए। इनमें से कितनों का जीवन लूट-मार पर निर्भर करता था और घूस लेने को वे अनैतिक नहीं समझते थे। उनमें व्यवसायिक प्रतिभा नहीं थी, दूसरों से सहयोग करना वे नहीं जानते थे, साधनों और साथियों का समुचित उपयोग करने वाली व्यावहारिकता उनमें नहीं थी।* लेकिन बावजूद इन कमियों के उनमें वे सब तत्व थे जो एक जाति के निर्माण के लिए आवश्यक होते हैं,—समान भाषा, नसल, परम्परा और इतिहास, केवल शिवाजी की प्रतिभा के स्पर्श की कमी थी जिसके प्राप्त होते ही उन्होंने सुसम्बद्ध जाति का रूप धारण कर लिया।

[२]

शिवाजी और मराठा जाति का निर्माण

शिवाजी का प्रारम्भिक जीवन और कार्य

शिवाजी शाहजी भोंसले का पुत्र था। शाहजी भोंसले उदयपुर के राजवंश से अपना सम्बन्ध जोड़ता था। उदयपुर वंश का कोई

* देखिए सरकार लिखित शिवाजी पृष्ठ १६-२१। सरकार ने मराठों के चरित्र का सारा-रूप में बहुत अच्छा वर्णन किया है।

संदस्य प्रथम बहमनी सुलतान के काल में दकन चला आया था। उसने और उसके सदस्यों ने भोसावल (उदयपुर में स्थित) में अपनी जागीर के आधार पर अपने को भोंसले कहना शुरू कर दिया था। * शिवाजी के पिता मालोजी अहमद नगर राज्य के बहुत बड़े अमीर बन गए थे और उन्होंने तथा उनके भाई ने सेना नायक की उपाधि प्राप्त कर ली थी। शाहजी मालोजी का पुत्र था। १६०२ में शाहजी का जन्म हुआ था। जीवन के प्रारम्भिक काल में ही शाहजी ने मलिक अम्बर की सेवादारी ग्रहण कर ली थी और १६२६ में अम्बर की मृत्यु तक पूरी स्वामी भक्ति के साथ शाहजी ने अबीसीनियावासी अम्बर का साथ दिया। किन्तु अहमद नगर के सुलतान के दुष्कृत्यों ने शीघ्र ही शाहजी को विद्रोही बना दिया और वह मुगलों की ओर झुक गया। उनकी बहादुरी और साहस ने शीघ्र ही सम्राट शाहजहाँ का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया। शाहजहाँ ने उसकी सैनिकता से प्रसन्न होकर उसे पूना और सूपा की जागीरें ही प्रदान नहीं कीं वरन् अन्य भूमि भी उसे भेंट में दीं। किन्तु शीघ्र ही, अहमद नगर के आत्मसमर्पण कर देने के कारण, सम्राट का दिमाग बदल गया और जो भूमि उन्होंने दी थी उसका अधिकांश वापिस ले लिया। इससे विक्षुब्ध होकर शाहजी ने त्याग पत्र दे दिया और खुद बीजापुर चला गया जो उन दिनों मुगलों से युद्ध कर रहा था। बीजापुर में उसने दौलताबाद पर आक्रमण करने की योजना बनाई। यद्यपि यह योजना सफल नहीं हो सकी, फिर भी उससे मुगल सेनाओं को काफी क्षति उठानी पड़ी। उसने अहमद नगर की राजनीति को भी अक्षत नहीं छोड़ी और वहाँ मुगल-विरोधी शासक को सिंहासन पर बैठाने में उसने सफलता प्राप्त की। शाहजी के आदिल शाह की सेवाकारी

* किनकैड और पारसनिस—ए हिस्ट्री आफ दि मराठा पीपुल, खंड १, पृष्ठ ११३। डाक्टर बालकृष्ण ने अपनी पुस्तक "शिवाजी दि ग्रेट," खंड १, भाग १, शाहजी (११२२) में सिद्ध किया है कि भोंसलों का भाग्य बहमनी राज्य के प्रारम्भ से ही चमकना शुरू हो गया था और १४५४ से पहले ही वे मुघोल, वाई और देवगिरि जैसी कितनी ही जागीरों के स्वामी बन गए थे (पृष्ठ ५०)।

में बराबर बने रहने के फलस्वरूप सुलतान और मुगलों के बीच भी ठन गई। इस संघर्ष में बीजापुर की बुरी गति हुई और खुद शाहजी को कितने ही महत्वपूर्ण किलों को छोड़ देने के लिए बाध्य होना पड़ा, जिन्हें उसने १६३६ में अपने अधिकार में किया था। साथ ही सुलतान को मुगलों से सन्धि भी कर लेनी पड़ी।

शाहजी का परवर्ती जीवन

बीजापुर के सुलतान ने शाहजी को बुलाकर उसे पूना और सूपा की अपनी जागीर प्रदान कर दी और इसके शीघ्र बाद ही रनदुल्ला खां के साथ उसे मंसूर के पठार और करनाटक की विजय के लिए भेज दिया। शाहजी ने इक्केरी नायक और श्रीरंगपाटम के शासक को अपने प्रभुत्व में लाने की सफलता प्राप्त की। सेरा और बंगलार को भी उसने विजय किया (१६०८)। १६४६-४८ में उसने बेल्लोर और जिंजी पर आधिपत्य कर लिया। इसके बाद बीजापुर के सुलतान ने शाहजी को यह सन्देह करके गिरफतार कर लिया कि वह गोलकुण्डा के प्रतिद्वन्द्वी सुलतान और हासोन्मुखी चन्द्रगिरि के राम के साथ मिलकर करनाटक में स्वतंत्र सत्ता स्थापित करने का षड्यंत्र रच रहा है। किन्तु वह शीघ्र ही छोड़ भी दिया गया और उसने अपने स्वामी का विश्वास फिर से प्राप्त कर लिया। मीर जुमला के फूट जाने से—उसने करनाटक में अपनी स्थिति को दृढ़ बना लिया था—गोलकुण्डा काफी कमजोर पड़ गया था। परिणामतः उसे मुगलों को लूट का शिकार होना पड़ा। बीजापुर भी मुगलों के संकट से त्रस्त था। १६५७ में बीजापुर को मुगलों को काफी प्रदेश और भारी हरजाना भेंट कर देना पड़ा। करनाटक में अपने अन्तिम वर्षों में शाहजी ने उत्पाती पोलीगरों का दमन करने की कोशिश की और मदुरा तथा तंजौर के नायकों से युद्ध किया। वह हिन्दू राजाओं और हिन्दू संस्कृति का रक्षक तथा प्रवर्तक बन गया। अपने इलाकों में उसने मराठी को राज भाषा बना दिया और दक्षिण भारत में बृहत्तर महाराष्ट्र की उसने नींव डाल दी। शिवाजी की स्वतंत्रता के लिए अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण शाहजी ने कर दिया। दक्षिण में उसने स्वतंत्र मराठा राज स्थापित करने का

प्रयत्न किया। तंजौर राज्य को उसने इतना दुर्बल बना दिया था कि वह सहज ही उसके पुत्र व्यांकोजी के हाथ का शिकार हो गया। बीजापुर और मुगल सेनाओं के विरुद्ध सम्भवतः उसी ने शिवाजी को प्रोत्साहित किया था और फिर १६६२-३ में उसी ने अपने पुत्र, शिवाजी और बीजापुर के सुलतान के बीच संधि कराने का प्रयत्न किया। "इस प्रकार शिवाजी ने उत्तराधिकार में भारी पैतृक निधि और अपने पिता से हिन्दू स्वराज्य स्थापित करने की प्रेरणा तथा लगन प्राप्त की थी।"

शाहजी और शिवाजी

१६३० में शिवाजी का जन्म हुआ था।* उसकी माँ का नाम जीजाबाई था। उसके पिता ने दूसरा विवाह कर लिया था और वह जीजाबाई तथा शिवाजी की विशेष चिन्ता नहीं करता था। कहा जाता है कि पिता और पुत्र ने वर्षों तक एक-दूसरे को नहीं देखा। बचपन से ही शिवाजी में स्वतंत्र व्यक्तित्व के चिन्ह प्रकट होने लगे थे। एक दिन वह कुछ मुसलमान कसाइयों से लड़ पड़ा जो पशुओं

---

*शक सम्वत् १५५१ (फरवरी १६३०) शिवाजी की जन्म-तिथि मानी जाती है। इस तिथि का आधार जेधे शकावली, शिव-भारत और तंजौर का १८०३ का अभिलेख है। ग्रांट डफ ने शिवाजी के जन्म की तिथि ३ मई १६२७ बताई है। ग्रांट डफ ने मराठी मालगे के अनुसार यह तिथि आंकी है। कहा जाता है कि मालगे के हाथ शिवाजी के एक भाई की जन्म कुण्डली लग गई थी और ज्योतिषियों ने हिसाब लगा कर पाँच उच्च ग्रहों से संयुक्त शिवाजी की जन्म कुण्डली भी तैयार कर ली। उनका कहना था कि सभी महापुरुषों के जन्म के समय पाँच ग्रह उच्च होते हैं। १६३० में ग्रहों की यह स्थिति नहीं थी, १६२७ में बहुत कुछ योग था। इसलिये १६२७ ही जन्म-तिथि मान ली गई। जो भी हो शिवाजी की जन्म-तिथि सम्बन्धी विवाद का अन्त उस समय तक नहीं हो सकता जब तक कि उस काल का कोई विश्वसनीय प्रमाण हमें नहीं मिलता। देखिए सी० वी० वैद्य—शिवाजी, दि फाउण्डर आफ मराठा स्वराज (१६३१) परिच्छेद ४, और शिवाजी सैवेनिर, टरसेन्टीनरी सेलीब्रेशन, बम्बई (१६२७)—दि जेधे क्रानोलाजी (अंग्रेजी संस्करण, भाग १)

को वध के लिए घसीटते हुए ले जा रहे थे। अन्य दरबारियों की भाँति उसने बीजापुर के सुलतान को बन्दगी करना भी स्वीकार नहीं किया। यह डर कर कि अपनी उद्धतता के कारण कहीं शिवाजी अपना भविष्य न बिगाड़ ले, शाहजी ने उसे और उसकी माँ को अपनी जागीर पूना में भेज दिया। उनके साथ शिवाजी का शिक्षक तथा संरक्षक दादाजी कोणदेव भी पूना चला गया।

शिवाजी की शिक्षा और चरित्र निर्माण

शिवाजी के मस्तिष्क और चरित्र को ढालने में उसके शिक्षक कोणदेव का योग किसी तरह भी कम महत्वपूर्ण नहीं था। वह शिवाजी के बचपन का गुरु और पथ प्रदर्शक था। ब्राह्मण कोणदेव ने उस काल की युद्ध कला की ही शिक्षा शिवाजी को नहीं दी, वरन् जंगली इलाकों और पहाड़ी दर्रों में भी कई-कई दिन तक घूमने का अवसर प्रदान किया। परिणामतः शिवाजी देश के हर पेचीदा मार्ग और स्थल से परिचित हो गया। धार्मिक शिक्षा भी शिवाजी को दादा से प्राप्त हुई। पंढरपुर के सन्तों के सम्बन्ध में समूची जानकारी शिवाजी ने दादाजी से प्राप्त की। भीम की वीरता, अर्जुन की तीरन्दाजी और युधिष्ठिर की धर्मनिष्ठता से शिवाजी ने प्रेरणा प्राप्त की। "भीष्म के वाक्यों को दादा जी शिवाजी को सुनाते जिनमें दो हज़ार वर्षों की भारत की युद्ध-कला, नीतिज्ञता और शासन-सम्बन्धी ज्ञान का सार भरा हुआ था।"*

माता का प्रभाव

शिवाजी की माता जीजा बाई के उपदेशों का प्रभाव दादा जी से भी अधिक गहरा पड़ा। पति द्वारा त्याग दिए जाने पर जीजाबाई के लिए सिवा अपनी शक्ति के और कोई भरोसा नहीं रह गया था। आत्म निर्माण और साहस की भावना जीजाबाई ने शिवाजी में कूट-कूट कर भर दी। पुराणों की शिक्षा देने के लिए अपने प्रिय पुत्र के वास्ते जीजाबाई ने विशेष शिक्षक रखे। "साहसी और पवित्र बनो",—अपने पुत्र के लिए यही जीजाबाई का उपदेश था।

---

* किनकैड और पारसनिस, ए हिस्ट्री आफ दि मराठा पीपुल, खंड १, पृष्ठ १३०।

पाँचवाँ परिच्छेद

जीवन-पथ का चुनाव

अठारह वर्ष की अवस्था होने पर जीवन के मार्ग का चुनाव करने की समस्या शिवाजी के सम्मुख उपस्थित हो गई। मुगल या सुलतान की सेवादारी न करने का उसने निश्चय कर लिया था। मुगलों की अस्थिरता और दकन की राजनीति की ढुलमुल अवस्था शिवाजी की रुचि के विरुद्ध थी। वह अपने लिए स्वतन्त्र राज्य का निर्माण कर अपना स्वामी आप बनना चाहता था। स्वभाव से भीरु दादा जी शिवाजी की स्वतन्त्र कल्पना से काँप उठे और उन्होंने शाहजी तक से शिवाजी की अनियन्त्रित योजनाओं की शिकायत की। १६४७ में दादाजी की मृत्यु के बाद शिवाजी ने अपनी योजना को व्यावहारिक रूप देना शुरू कर दिया। अपने गुरु का वह बहुत आदर करता था। इसीलिए उनकी बात मानने के लिए बाध्य हो जाता था। दादा की मृत्यु के बाद उसका मार्ग साफ हो गया।

बीजापुर के किलों पर शिवाजी का आक्रमण

विजय और मराठा-राज्य के निर्माण का श्री गणेश करने का अवसर बीजापुर की राजनीतिक स्थिति ने प्रदान कर दिया। १६४६ में दकन के सुलतानों में सबसे अधिक तेजस्वी सुलतान आदिलशाह बीमार पड़ गया। इस समय से लेकर १६५६ में अपनी मृत्यु तक वह कोई गम्भीर कार्य करने में असमर्थ रहा। उसकी शासन-व्यवस्था भी शिथिल और निष्क्रिय हो गई। शिवाजी ऐसे ही अवसर की ताक में था और १६४६ में उसने बीजापुर के तोरण किले पर आधिपत्य कर लिया। यहाँ पर भारी ख़ज़ाना शिवाजी के हाथ लगा। बीजापुर ने विरोध और आपत्ति प्रकट की. स्वयं उसके पिता ने जो आदिलशाह की सेवादारी में था इसका विरोध किया। शिवाजी ने इन विरोधों और आपत्तियों का उत्तर बीजापुर के अन्य किलों पर अधिकार करके दिया। सूपा की जागीर पर, चकान, कोन्दन और पुरन्धर के किलों पर—यहाँ कुछ ही किलों के नाम दिए गए हैं—उसने अपना आधिपत्य कर लिया। इसके बाद पश्चिमी घाटों को पार कर उसने कोंकण प्रदेश में प्रवेश कर

कल्याण पर अधिकार कर लिया। फिर वह दक्षिण की ओर मुड़ा और कोलाबा किले पर उसने अधिकार कर लिया, साथ ही स्थानिक सरदारों को मुस्लिम शासन के विरुद्ध खड़ा कर दिया।

शिवाजी के पिता की आदिलशाह द्वारा गिरफ्तारी

शिवाजी की इन सफलताओं से बीजापुर झुँझला उठा और बदले की भावना से प्रेरित होकर आदिलशाह ने शिवाजी के पिता शाहजी को गिरफ्तार कर लिया। इसका वांछनीय प्रभाव पड़ा। अपने पिता की रक्षा के लिए चिन्तित शिवाजी ने अपना हाथ रोक लिया और अस्थायी रूप में, अपने विजय-युद्धों को बन्द कर दिया। साथ ही वह इस सम्बन्ध में भी सतर्क रहा कि बीजापुर का सुलतान उसे धोखा न दे। इसके बाद शिवाजी ने अपना ध्यान शाहजादा मुराद की ओर फेरा जो उन दिनों दकन का वाइसराय था। शिवाजी ने मुराद की मारफत सम्राट को लिखा कि वह शाही सेवादारी स्वीकार करने के लिए तैयार है। शर्त यह है कि उसके पिता को छोड़वा दिया जाए। किन्तु शाहजी ने बीजापुर के ही दो अमीरों के सहयोग से अपने को मुक्त कराने में सफलता प्राप्त कर ली।*

शिवाजी का जावली पर अधिकार

१६४९ से १६५५ तक शिवाजी निष्क्रिय रहा। १६५५ में हिंस्र उपायों तथा विश्वासघात के द्वारा उसने जावली के किले पर अधिकार कर लिया। बिना इस किले को हाथ में किए वह दक्षिण या पश्चिमी-दक्षिण की ओर निर्बाध गति से नहीं बढ़ सकता था। १६५७ तक शिवाजी का राज्य काफी विस्तृत हो गया था। लगभग चालीस किले उसके राज्य के अन्तर्गत आ गए थे।

मुगल प्रदेशों पर आक्रमण

अब तक मुगल प्रदेशों पर आक्रमण करने से शिवाजी अपने को बचाता आया था। कारण कि वह दकन के कठोर वाइसराय

---

* सरकार, शिवाजी एण्ड हिज़ टाइम्स, पृष्ठ ४८।

औरंगज़ेब से अभी टक्कर नहीं लेना चाहता था। किन्तु १६५७ में बीजापुर और सम्राट के बीच युद्ध छिड़ गया। इस स्थिति से और बीजापुर के सुल्तान द्वारा मिलने वाले भारी प्रलोभनों से प्रभावित होकर शिवाजी ने मुगल प्रदेशों में लूट-मार के धावे शुरू कर दिए और थोड़े ही समय में समूचे कोंकण पर—विदेशी बस्तियों को छोड़ कर (बम्बई, गोआ और जंजीरा)—उसने अधिकार कर लिया।

आफजल खाँ से भेंट और 'शेर के पंजे' की घटना

कोंकण के किलों का हाथ से निकल जाना बीजपुरियों को क्रुद्ध कर दिया। बीजापुर के योग्य और तेजस्वी शासक ने अब्दुल्ला भटारी—सरनाम अफजल खाँ—को शिवाजी को दण्डित करने के लिए भेजा। अफ़ज़ल खाँ का दावा था कि वह मराठा शिवाजी को जीवित या मृत पकड़ कर लाएगा। शिवाजी से उसकी भेंट, दोनों का गले मिलना और इस क्रिया के बीच में 'शेर के पंजे' के अफजल खाँ के पेट में पेवस्त हो जाने का विवरण हम पिछले परिच्छेद में दे चुके हैं।* अफजल खाँ को शिवाजी के विरुद्ध मक्कारी और धोखे से काम लेने का परामर्श दिया गया था। शिवाजी यह जानता था और उसने, इससे पहले कि अफ़ज़ल खाँ को अवसर मिले, उसका काम तमाम कर दिया। इस घटना ने बीजापुर के अधिकारियों को इतना आतंकित कर दिया कि शिवाजी के आगमन की सूचना मात्र पर वे किलों और नगरों को छोड़ कर भागने लगे। खुद शिवाजी ने भी इस घटना को अपने जीवन की सबसे अधिक नाज़ुक घड़ी से सम्बद्ध किया और मराठों की दृष्टि में तो यह संघर्ष "जाति का मुक्ति-संग्राम तथा मन्दिरों का विनाश करने वालों के विरुद्ध-धर्म-युद्ध बन गया था।"

---

* इस घटना के सम्बन्ध मे प्रचलित रोचक कथाओं के लिए सरकार लिखित "शिवाजी एण्ड हिज टाइम्स", परिच्छेद ३ और "बैलेड आफ अफजल खाँ" देखिए। बालकृष्ण लिखित "शिवाजी दि ग्रेट, खंड १, भाग २ (१९३१), परिच्छेद १ देखिए जिसमें अफजल खाँ की हत्या का विवरण दिया हुआ है।

बीजापुर की शिवाजी से संधि

अफजल खाँ की सेनाओं को तितर-बितर करने के बाद शिवाजी ने दक्षिणी कोंकण में प्रवेश कर पनहल के किले पर अधिकार कर लिया। बीजापुर के अपने प्रदेशों पर फिर से अधिकार करने के सभी प्रयत्नों का अन्त विफलताओं में हुआ। अन्त में, शाहजी के सहयोग से, बीजापुर ने शिवाजी से सन्धि कर ली। इस संधि के अनुसार सभी विजित प्रदेशों का स्वामी शिवाजी को स्वीकार कर लिया गया।

शिवाजी के बाद के जीवन का संक्षिप्त विवरण

शिवाजी के शेष जीवन का विवरण हम पिछले परिच्छेद में दे चुके हैं। यहाँ निम्न तथ्यों को फिर से दोहरा देना उपयुक्त होगा। बीजापुर के विरुद्ध अपनी सफलताओं से उत्साहित होकर शिवाजी ने मुगल इलाकों पर भी आक्रमण शुरू कर दिए। शिवाजी के इन धावों से विचलित होकर औरंगजेब ने शाइस्ता खाँ को उसके विरुद्ध भेजा। इस सेनापति का, जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, पूना में शिवाजी ने मान भंग किया। केवल अपने एक अँगूठे की बलि देकर पूना में अपने निवास स्थान से शाइस्ता खाँ अपनी जान बचा कर भाग गया। इसके बाद औरंगजेब के शाहजाद मुअज्जम और राजा जयसिंह को शिवाजी के विरुद्ध नियुक्त किया गया, किन्तु, उन्हें भी अधिक सफलता नहीं मिली। लेकिन जयसिंह। शिवाजी और मुगल सम्राट के बीच शान्ति कराने में सफल हो गया। सम्राट के मित्र-भाव से प्रभावित होकर शिवाजी ने आगरा में उसके दरबार में उपस्थित होने का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। वहाँ शिवाजी का अपमान हुआ और उसे बन्दी बना लिया गया। बन्दी-घर से शिवाजी के भागने का विवरण हम पहले ही दे चुके हैं जो मराठा इतिहास की रोमांचकारी घटनाओं में स्थान रखता है। शाहजादा मुअज्जम और जयसिंह को फिर शिवाजी के विरुद्ध भेजा गया, किन्तु वे सफल नहीं हो सके, वरन् उन्होंने सम्राट से अनुरोध किया कि शिवाजी को अपनी ओर कर लेना चाहिए। परिणामतः

शिवाजी को सम्राट ने बरार में जागीर तथा राजा की उपाधि प्रदान कर दी और उसका अहमद नगर के इलाके के चौथ* जमा करने का अधिकार भी स्वीकार कर लिया। इसी बीच साम्राज्य पर औरंगजेब का अनुशासन कुछ ढीला पड़ता जा रहा था। मराठों के लिए यही उपयुक्त अवसर था। १६७० में फिर शिवाजी ने मुगल इलाकों पर आक्रमणों का श्री गणेश कर दिया—विशेष रूप से खानदेश पर—और वहाँ के निवासियों से चौथ वसूल की। औरंगजेब के जब-तब सेनापतियों को बदलने तथा अपने सेवादारों के प्रति उसके गहरे सन्देह ने शिवाजी को आक्रमण करने के और भी अधिक अवसर प्रदान किए। शिवाजी ने दो बार सूरत के धनी बन्दरगाह पर आक्रमण किया—१६६४ और १६७० में। मुगलों की सेवादारी से क्षुब्ध होकर बुन्देलखण्ड के राजा छत्रसाल ने मुगलों के विरुद्ध शिवाजी का साथ देने का प्रस्ताव किया। शिवाजी ने छत्रसाल को परामर्श दिया कि अपने ही इलाके पर अपना अधिकार स्थापित कर शासन करने का प्रयत्न करो।

शिवाजी ने राजमुकुट धारण किया

१६७३-७४ में दकन में मुगलों की शक्ति बहुत कुछ पंगु हो गई थी और सम्राट के लिए सीमान्त के अफगान कबीलों का तुरत दमन करना आवश्यक हो उठा था। इस अवसर से लाभ उठा कर शिवाजी ने अपने को स्वतन्त्र राजा और हिन्दू स्वराज का प्रवर्तक घोषित कर दिया। प्राचीन क्षत्री परिवार का वंशज होने का उसका दावा स्वीकार कर लिया गया और उसका राज्याभिषेक, पूरी शान और उत्सव के साथ, जून १७७४ में रायगढ़ में किया गया।* अंग्रेज़ी राजदूत हेनरी आक्सिनडन इस उत्सव में सम्मिलित हुआ था और उसे प्रतिष्ठा का चोगा देकर उसका मान किया गया था।

---

* चौथ के उद्गम के लिए देखिए एस० एन० सेन लिखित मिलिटरी सिस्टम आफ दि मराठाज़ (१९२८) का दूसरा परिच्छेद।

* हिन्दवी स्वराज के राजा के पद को इस उत्सव के द्वारा धार्मिक स्वीकृति

शिवाजी का परवर्ती जीवन

१६७४ से लेकर अपनी मृत्यु के वर्ष १६८० तक शिवाजी अपने स्वराज को दक्षिण में विस्तृत करने में व्यस्त रहा। आज के बेलारी जिले तक समूचे पश्चिमी करनाटक पर शिवाजी ने अधिकार कर लिया। घाटों को पार कर कोंकण प्रदेश तक उसके राज्य के विस्तृत हो जाने से शिवाजी का तटवर्ती अबीसिनियनों से वास्ता पड़ा और तट की रक्षा, जंजीरा तथा अन्य अबीसीनियन समुद्रों पर विजय प्राप्त करने के लिए शिवाजी नौ सेना का निर्माण करने में जुट गया। मराठों की नौ-शक्ति ने सिद्दियों, अंग्रेज़ों और मुगलों का समान रूप से विचलित कर दिया। अनेक बार शिवाजी की नौ-सेना का सिद्दी बेड़े से युद्ध हुआ, किन्तु शिवाजी उस पर विजय नहीं पा सका। इसके बाद शिवाजी ने तंजौर जाकर अपने भाई व्यांको से अपने पिता की जागीर में से अपने हिस्से की माँग की—और जिंजी तथा वेल्लोर पर अधिकार कर लिया। व्यांको के भूत-पूर्व मंत्री रघुनाथ नारायण ने, जो अपने स्वामी से असन्तुष्ट था, शिवाजी को दक्षिणी प्रदेश पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित किया। न केवल इतना ही वरन् उसने शिवाजी और गोलकुण्डा के बीच समझौता करा के इस आक्रमण की ज़मीन तैयार करने में भी सहायता की। हैदराबाद पहुँच कर शिवाजी ने श्रीशैल के मन्दिर के दर्शन किए, मद्रास का स्पर्श किया और सहज ही जिंजी पर अधिकार कर लिया। फिर वह कोलरून के किनारे-किनारे दक्षिण की ओर आगे बढ़ा और अपने सौतेले भाई व्यांका जी से उसका समझौता हो गया। वापिस लौटते समय उसने वेल्लोर और अपने पिता की कोलर, बंगलोर और सेरा की जागीरों पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार करनाटक में जितने इलाके पर उसने अधिकार किया, उससे उसकी आय बीस लाख हूण प्रतिवर्ष थी। सौ किले इस इलाके में स्थित थे। किन्तु शिवाजी भूमि नहीं, स्वर्ण चाहता था और स्वर्ण की प्राप्ति के लिए

मिल गई और मराठों के हृदय में देशभक्ति की ऐसी लौ उजागर कर दी जो सौ वर्ष तक प्रकाश देती रही। (वैद्य लिखित शिवाजी, पृष्ठ २४८)।

अधिकृत प्रदेशों को पूरी तरह निचोड़ लेता था। अन्तिम दिनों में उसने मुगलों को निकाल बाहर करने के लिए बीजापुर को भी सहायता दी थी।

सत्ता के उच्चतम शिखर पर

शिवाजी अब (१६८०) अपनी शक्ति और सत्ता के उच्चतम शिखर पर पहुँच गया था और सुसंघटित विस्तृत राज्य का वह अधिकारी था। बीजापुर और गोलकुण्डा उसके मित्र-राज्य थे, बेदनोर से लेकर जिंजी तक किलों की शृङ्खला पर उसका आधिपत्य था जिसके कारण दक्षिणी इलाकों पर उसका अधिकार सुदृढ़ हो गया था।

अन्तिम दिन और मृत्यु

शिवाजी के भौतिक जीवन के अन्तिम दिन मानसिक अशान्ति और चिन्ताओं से पूर्ण बीते। उसके दोनों पुत्रों—सम्भाजी और राजाराम के बीच सिंहासन के लिए झगड़ा उठ खड़ा हुआ था। इस घरेलू संघर्ष के फलस्वरूप शिवाजी के सारे करे-कराये पर पानी फिर सकता था। शिवाजी के तंजौर वाले भाई व्यांकोजी ने भी जिसे शिवाजी ने पहले अपने वश में कर लिया था—अब सिर उठाना शुरू कर दिया था। कहा जाता है कि अपनी मृत्यु से कुछ दिन पहले शिवाजी सन्त रामदास के दर्शन करने पराली गया था। सन्त रामदास ने उसे गले लगा कर आशीर्वाद दिया। सात दिन की बीमारी के बाद चौबीस मार्च १६८० ईसवी को शिवाजी की मृत्यु हो गई।

शिवाजी के प्रभुत्व का क्षेत्र

मृत्यु के समय शिवाजी के आधिपत्य में सुसम्बद्ध विस्तृत क्षेत्र के सिवा कई असम्बद्ध इलाके भी थे। विदेशी बस्तियों को छोड़ कर उसका स्वराज उत्तर में गोदावरी (सूरत के दक्षिण-पूर्व में चालीस मील दूर) तक फैला हुआ था। दक्षिण में इसका विस्तार पोंद (गोआ के दक्षिण बाजू से बीस मील पूर्व में) तक था। "कारवार, अन्कोला तथा कितने ही तटवर्ती स्थानों में उसके

थाने स्थित थे और देशमुखों के साथ वह भी जिलों में भागीदार था। सुन्दा का प्रमुख उसकी सत्ता को मानता था और बेन्दोर का राणा उसे वार्षिक नज़राना देता था। * इसके सिवा उसके अधिकार में बेजारी और कोपौल, तञ्जोर, बंगलोर, बेल्लोर और जिंजो के इलाके भी थे। उसके राज की कुल आय नौ करोड़ रुपये के लगभग थी।

मराठा स्वराज और मुगल

स्वराज्य और शिवाजी के अपने राज्य में अन्तर था,—एक तो वह जो उसका 'पुराना इलाका' कहलाता था। इसके बाहर असमान अन्तर की भूमि की चौड़ी पट्टी फैली हुई थी। यह भूमि शिवाजी की सत्ता के प्रभाव में तो थी, किन्तु उसके स्वामित्व में नहीं थी। शिवाजी का स्वराज्य तट के किनारे-किनारे सूरत से करवार तक फैला हुआ था और भीतरी प्रदेश में उत्तर में बगलाना और दक्षिण में ग्लोरी के निकट बेजगाँव और तुंगभद्रा तक फैला हुआ था। यह स्वराज्य तीन सूबों में विभाजित था और प्रत्येक सूबे के लिए एक सूबेदार नियुक्त था। स्वराज्य के बाहर का प्रदेश मुगलई कहलाता था। शिवाजी इस इलाके से 'घूस' वसूल करता था। यह घूस चौथ कहलाती थी क्योंकि यह साधारण भूमि-कर का एक चौथाई होती थी। इस चौथ को देने के बाद ये ज़िले अपने को मराठा सैनिकों के घातों से मुक्त समझते थे। इसके सिवा, इस चौथ के कारण, इन ज़िलों की आक्रमणों तथा उत्पातों से रक्षा करने की कोई ज़िम्मेदारी मराठों पर नहीं होती थी। शिवाजी के नये और पुराने इलाकों में लगभग २४० किले थे।

शिवाजी के सुधार-कार्य और बन्दोबस्त

"नेपोलियन प्रथम की भाँति," रानाडे ने लिखा है—"शिवाजी अपने काल का बहुत बड़ा संघटन कर्ता और सार्वजनिक संस्थाओं का निर्माता था।"† यहाँ हम शिवाजी की नागरिक तथा सैनिक

* ग्रायट डफ, हिस्ट्री आफ दि मराठाज़ (चौथा संस्करण) खंड १, पृष्ठ २१३।

† रानाडे, राइज़ आफ दि मराठा पावर पृष्ठ ११५।

संस्थाओं और संघटनों का विवरण देने का प्रयत्न करेंगे। बन्दोबस्त की समुचित प्रणाली पर किसानों की खुशहाली निर्भर करती है। शिवाजी इसे पूरी तरह जानता और समझता था। इसलिए उसने अपने इलाकों में मलिक अम्बर की टोडरमल वाली बन्दोबस्त प्रणाली को चालू किया। लेकिन शिवाजी केवल अनुकरणकर्ता ही नहीं था। मलिक अम्बर की प्रणाली के दोषों—उसके अनियमित रूप से भी वह अवगत था। शिवाजी माप का एक मान चालू किया। यह मान काठी—५ क्युबिट और पाँच मुट्ठी लम्बी छड़—थी। इस छड़—माप की इकाई के आधार पर उसने नियमित ढंग से बन्दोबस्त का आदेश दिया। अन्नाजी दत्तो ने इस आदेश का पूरी तरह से पालन किया। अन्नाजी शिवाजी का माल-मंत्री था।*

आय के स्रोत

जैसा कि भारत की अवस्था है, शिवाजी की आय का मुख्य स्रोत भूमि-कर था। पहले मराठा कुल पैदावार का तेंतीस प्रतिशत वसूल करते थे। बाद में शिवाजी ने इसे बढ़ा कर चालीस प्रतिशत कर दिया, लेकिन इसके साथ-साथ शिवाजी ने अन्य करों और दस्तूरों को रद्द कर दिया था। आय के दूसरे साधन चुंगी, मुद्रा-लाभ, चौथ और सरदेशमुखी थे। चौथ और सरदेशमुखी ज़बर्दस्ती के कर थे जिन्हें आस-पास के ज़िले, मराठों की सामूहिक लूट-मार से बचने के लिए, घूस के रूप में प्रदान करते थे।†

शिवाजी की सैनिक व्यवस्था

शिवाजी की सैनिक व्यवस्था असाधारण रूप से पुष्ट थी। उसके राज्य में स्थित किले उसकी आत्मा थे। इन किलों का संघटन करने पर उसने विशेष ध्यान दिया था। हर किले की देख-भाल के

* एस. एन. सेन, एडमिनिस्ट्रेशन सिस्टम आफ दि मराटाज़ (१९२३), पृष्ठ ६७-६८।

† रानाडे ने देशभक्ति के नाम पर इन 'करों' का समर्थन किया है। देखिए 'राइज़ आफ मराठा पावर', पृष्ठ २२४-२२५। देखिए एस. एन. की उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २१९।

लिए तीन अधिकारी रहते थे,—हवलदार, सबनिस और सरनौबत। प्रजा और अन्तिम अधिकारी ऊँचे कुल का मराठा होता था और सबनिस के पद पर ब्राह्मण नियुक्त किया जाता था। हवलदार के पास किले की कुञ्जियाँ रहती थीं। सबनिस किले का हिसाब-किताब साधारण रूप से और भर्ती का हिसाब विशेष रूप से अपने पास रखता था। कमसरियट के काम के लिए कारखाना नवीस नाम से एक अलग पदाधिकारी रखा जाता था। इन अफसरों के आचार-व्यवहार को भ्रष्ट होने से रोकने के लिए विस्तृत नियम शिवाजी ने बनाए थे। प्रत्येक किले में भरपूर रसद और युद्ध की सामग्री रखी जाती थी ताकि घेरा पड़ने पर दीर्घ-काल तक बचाव किया जा सके।

शिवाजी की स्थायी सेवादारी में ३०,००० या ४०,००० घोड़-सवार और इससे दुगने पैदल सैनिक थे। हाथी, ऊँट और तोपखाने का सुप्रबन्धभी था। समुद्री सेना का हम पहले ही उल्लेख कर चुके।

पैदल-सेना

शिवाजी की पैदल-सेना रेजीमेन्ट, ब्रिगेड और डिवीजनों में संगठित थी। सबसे निम्नश्रेणी में नायक होता था। नायक के चार्ज में नौ सैनिक रहते थे। फिर हवलदार और उसके ऊपर जुमलेदार का नम्बर आता था। दस जुमलेदारों पर एक हज़ारी और सात हज़ारियों पर एक सरनौबत होता था।

घोड़सवार-सेना

घोड़सवारों की दो श्रेणियाँ थीं। कुछ नियमित घोड़सवार होते थे जिन्हें सुसज्जित करने और रखने का भार राज्य पर था। घोड़सवार बारगीर और शिलेदार कहलाते थे। ये वेतन भोगी होते थे और युद्ध-क्षेत्र में अपने आदमियों तथा घोड़ों को लाना इनका काम होता था। इनके पद और शक्ति के भी अनेक दर्जे थे। इन घोड़सवारों के अलावा शिवाजी, संकट के समय में जरूरत पड़ने पर, मराठा वेतनदारों की सामन्ती सेनाओं का भी आवाहन कर सकता था। सामन्तों की यह भारी सेना लूट के माल पर

जाती थी। आक्रमण के समय सैनिकों को कुछ नियमों का कठोरता के साथ पालन करना होता था। इन नियमों में प्रमुख नियम थे—(१) अपने साथ दासी या नर्तिका के रूप कोई स्त्री नहीं रखेगा। (२) किसी स्त्री या बच्चे को युद्ध का बन्दी नहीं बनाया जाएगा। (३) गायों को जब्त नहीं किया जाएगा, गाड़ी में जोतने के लिए बैलों को लिया जा सकता है, (४) ब्राह्मणों का किसी भी अवस्था में अपमान नहीं किया जाएगा, (५) कोई सैनिक दुराचरण में नहीं फँसेगा।*

समुद्री सेना

कोंकण पर विजय करने के बाद शिवाजी ने नौ-सेना संघटित करने की ओर ध्यान दिया। उसकी समूची नौ-शक्ति दो दो सौ नौकाओं के दो बेड़ों पर आश्रित थी। बेड़ों के अधिकांश अधिकारी मुसलमान थे। साधारण सैनिक मालाबार-तटवासी समुद्र-प्रिय जातियों—कोली आदि—के लोग थे।† शिवाजी का मुख्य बन्दरगाह मलवान का था। कोंकण के जल-क्षेत्र को ताकने का काम बेड़ों के जिम्मे था, किन्तु अधिकतर खुले समुद्र में लूट-मार का काम ये सैनिक करते थे। विदेशी इनकी लूटमार का अधिक शिकार होते थे। शक्ति की दृष्टि से शिवाजी की नौ-सेना काफी समृद्ध थी। इसके सिवा शिवाजी के पास एक शक्तिशाली व्यापारिक बेड़ा भी था।

अष्टप्रधान

साधारण शासन-कार्य के लिए शिवाजी ने आठ सदस्यों की एक परिषद् का आयोजन किया था। ये सदस्य अष्टप्रधान कहलाते थे। इनमें एक पेशवा होता था जो प्रधान मंत्री की तरह शासन-कार्य देखता था; दूसरा आडीटर होता था जो सार्वजनिक

---

* सरकार, शिवाजी एण्ड हिज़ टाइम्स, पृष्ठ ४६७।

† शिवाजी की समुद्री सेना के लिए देखिए एस० एन० सेना की पुस्तक "एडमिनिस्ट्रेटिव सिस्टम आफ दि मराठाज़", परिच्छेद ४ और मिलिटरी सिस्टम आफ दि मराठाज़ परिच्छेद दस।

हिसाब-किताब की जाँच करता था; तीसरा इति-वृत्ति लेखक होता था जिसका काम राज्य के इतिहास-लेखन का होता था; चौथा निरीक्षक (सुपरिन्टेण्डेन्ट) होता जो शाही पत्रों का मसविदा तैयार करता था; पाँचवाँ विदेशी मंत्री या दाबिर होता था जो शान्ति के प्रश्नों पर परामर्श देता था; छठा सेनापति होता था; सातवाँ पण्डित राव होता था जो धर्म गुरु की तरह नियामक और विधायक काम करता था, राज्य-ज्योतिषी और सर्वसाधारण की नैतिकता-अनैतिकता सम्बंधी निर्णय देना जिसका काम होता था; आठवाँ न्यायाधीश होता था। सभी मंत्री, सेनापति को छोड़ कर, ब्राह्मण होते थे और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें सैनिक कार्य में भी लगाया जा सकता था। नीति-निर्धारित करने की मंत्रियों के पास कोई शक्ति नहीं थी और इस दिशा में वे कार्य नहीं कर सकते थे। उनका पद केवल परामर्शदाता का होता था और राजा के आदेशों को वे अमल में लाते थे। आधुनिक अर्थ में मंत्रि-मण्डल का जो स्थान और कार्य होता है, वह, उनका नहीं था। अन्य मंत्रियों की अपेक्षा पेशवा का पद अधिक महत्वपूर्ण होता था, क्योंकि वह शासक के अधिक निकट रहता था और उसका विश्वासपात्र होता था।

शिवाजी की धार्मिक नीति

शिवाजी दृढ़ धार्मिक विश्वासों का आदमी था। अपने सम-सामयिक औरंगजेब से भिन्न वह दूसरे धर्म वालों का दमन नहीं करता था। ब्राह्मण मुसलमान सन्तों को वह समान रूप से आदर करता था। उसके दैनिक कार्यों पर उसके धर्म-गुरु सन्त रामदास का बहुत प्रभाव पड़ा था। सर० जे० एन० सरकार ने इस बात का खण्डन किया है कि सन्त रामदास ने उसके राज्य-कार्य को प्रभावित किया था। किन्तु देश में ऐसी अनेक कथाएँ प्रचलित हैं जिनसे पता चलता है कि रामदास शिवाजी के राजनीतिक जीवन के प्रति तटस्थ या उदासीन नहीं था, वरन् उसने शिवाजी को निरंकुश शासन से विमुख रहने का उपदेश दिया था।

पांचवां परिच्छेद

शिवाजी के चरित्र और उपलब्धियों का मूल्यांकन

सारूप में शिवाजी जन्म जात नेता था और विश्व के उन गिने-चुने लोगों में से था जो महान कार्य करने के लिये उत्पन्न होते हैं। अन्त में औरंगजेब को भी शिवाजी के गुणों की प्रशंसा करनी पड़ी। एक मुसलमान इतिहास-लेखक के शब्दों में शिवाजी "निम्न वृत्तियों से सर्वथा मुक्त था और मुसलमान स्त्रियों तथा बच्चों की, जब कभी वे उसके हाथ में पड़ जाते थे, मान और जान की रक्षा करता था।" अणुओं की तरह इधर-उधर के प्रदेशों में बिखरे मराठों को उसने जाति का रूप दिया, उन्हें एक सूत्र में बांध कर एक शक्ति बना दिया। यह काम उसने सशक्त विरोधों और बाधाओं—मुगल, पुर्तगीज और बीजापुर के सुलतान—से लोहा लेते हुए किया। इन विरोधी शक्तियों से संघर्ष करते समय, संकटों और उथल-पुथल के बीच अपनी जान को हथेली पर रखते हुए भी उसने उत्कृष्ट शासन-प्रणाली का निर्माण किया। गऊ, ब्राह्मण और वेदों का वह रक्षक था। पण्ढरपुर के सन्तों के उपदेश उसकी शासन-व्यवस्था के आधार थे। उस काल के त्रस्त हिन्दू शिवाजी को अपना मुक्तिदाता मानते थे। शिवाजी के रूप में हिन्दुत्व ने फिर सिर ऊँचा करके संसार को दिखा दिया कि चिरन्तन वेदों की शक्ति को न तलवार दबा सकती है, न जजिया उस पर हावी हो सकता है, न सम्राटों की क्रोधाग्नि और उनके भीषण दमन से वेदों की आत्मा को कुचला जा सकता है। महान इतिहासज्ञ सरकार के शब्दों में—"उसने (शिवाजी ने) अपने उदाहरण से सिद्ध कर दिया कि हिन्दू जाति राष्ट्र का निर्माता हो सकती है, राजसत्ता की नींव डाल सकती है, अपने शत्रुओं को नष्ट कर सकती है; अपनी रक्षा करने की वह क्षमता रखती है, साहित्य और कला की रक्षा तथा विकास में योग दे सकती है, सैनिक और व्यापारिक बेड़े रख सकती है, विदेशियों से बराबर की समुद्री लड़ाई लड़ सकती है। शिवाजी ने हिन्दुओं को अपने विकास की अन्तिम सीमा तक पहुँचने और ऊँचे उठने का प्रत्यक्ष मार्ग दिखा दिया।"

मराठा शासन-नीति के दोष

शिवाजी की मृत्यु के बाद मराठा शक्ति बहुत जल्दी अपने आदर्शों से भटक गई। जनता के आर्थिक विकास की मराठों ने शुरू से ही उपेक्षा की थी और लूट तथा विदेशी इलाकों पर आक्रमणों के सहारे भारी सेना वे रखते थे। "जाति के सुनियोजित सुधार की दिशा में कोई संघटित प्रयत्न नहीं किया गया। शिक्षा का प्रसार, जनता का संघटन आदि सभी कार्य शिवाजी के बाद अन्य पेशवाओं के काम में उपेक्षित रहे। धीरे-धीरे शासन-व्यवस्था में जातीय विघटन के चिह्न प्रकट होने लगे और मराठा राज्य हिन्दू प्रतिक्रिया—कट्टरता और अनुदारता—का शिकार होने लगा। इन तथा इसी तरह के दूसरे घुन मराठा राज्य में लग गए और अपेक्षाकृत थोड़े समय में ही वह शक्ति शून्य हो गया।*

[३]

१७०८ तक शिवाजी के उत्तराधिकारी

उत्तराधिकार के लिए संघर्ष

अपने उत्तराधिकारी को नियुक्त किए बिना ही शिवाजी की मृत्यु हो गई थी। उसका ज्येष्ठ पुत्र सम्भाजी न केवल अयोग्य ही था किन्तु अपने पिता के साथ विश्वासघात कर वह उसके सबसे बुरे शत्रु के साथ मिल गया था। इस दुष्कृत्य के लिए शिवाजी ने उसे पनहल के किले में प्रायः बन्दी बनाकर रख छोड़ा था। कुछ लोगों का तो यह भी कहना है कि कुछ काल तक उसके पिता की मृत्यु की सूचना भी उस तक नहीं पहुँचने दी गई थी।

दूसरी ओर शिवाजी की जीवित पत्नी सोयरा बाई ने अष्ट प्रधानों को अपनी ओर कर लिया और अपना एक शक्तिशाली गुट बना कर सिंहासन पर अपने पुत्र राजाराम को बैठा दिया। राजाराम का राज्याभिषेक मराठों में फूट और विभाजन का कारण बन गया।

* सरकार, शिवाजी, परिच्छेद १६, खंड दो।

पाँचवाँ परिच्छेद

सम्भाजी का प्रभुत्व

उत्तराधिकार सम्बन्ध संकट के सामने सम्भाजी ने अप्रत्याशित शक्ति, तत्परता और क्रियाशीलता का परिचय दिया। उसने पनहल के किले पर अधिकार कर लिया, अपने अनुयायियों को सभी प्रकार के मनमाने आश्वासन और प्रलोभन दिए और रायगढ़ में उसने अपना राज्याभिषेक कराने में सफलता प्राप्त कर ली। राजाराम सिंहासन-च्युत हो गया, किन्तु उसे क्षमा प्रदान कर दी गई और उसके साथियों को बन्दी बना लिया गया। सम्भाजी के प्रारम्भिक कृत्यों में उसका सर्वाधिक बुरा व्यवहार सोयरा बाई के साथ था। उसने सोयरा बाई पर शिवाजी को विष देकर मार डालने का झूठा आरोप लगाया और जेल में डाल कर उसे भूखों मार डाला। इसी बीच उसने सन्त रामदास को भेंट करने के लिए एक पत्र लिखा, किन्तु सन्त रामदास ने भेंट करने से इन्कार कर दिया। न केवल इतना ही वरन् सन्त रामदास ने सम्भाजी को उसके कृत्यों की निंदा करते हुए पत्र लिखा और अनुरोध किया कि वह अपने प्रतिभाशाली पिता के पद-चिन्हों का अनुसरण करे।*

शाहजादा अकबर और सम्भाजी

जून १६८१ में सम्भाजी के दरबार में औरंगजेब का पुत्र शाहजादा अकबर, अपने पिता की क्रोधाग्नि से बचने तथा त्राण पाने के लिए, उपस्थित हुआ। औरंगजेब की तत्परता के कारण अकबर के विद्रोह का प्रयत्न, जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, विफल हो गया था। मराठा प्रदेश में शाहज़ादा अकबर के आगमन ने पुराने विरोधों को फिर से चेता दिया। राजाराम का दल सोयरा बाई की मृत्यु का बदला लेना चाहता था। इस दल के लोगों ने अकबर को अधिकांश महाराष्ट्र का शासक बनाने तथा राजाराम के लिए लघु-अंश रखने का आश्वासन देकर सम्भाजी के विरुद्ध षड्यन्त्र रचना चाहा। किन्तु शाहज़ादा अकबर इतने निम्नस्तर का आदमी नहीं

---

* इस पत्र के लिए देखिए किनकैड और परासनिस लिखित 'हिस्ट्री आफ दि मराठा पीपुल, खंड २, पृष्ठ ४-५।

था कि वह इन षड्यन्त्रकारियों के साथ मिल जाता। उसने न केवल इन्कार ही कर दिया, वरन् सम्भाजी को भी इस षड्यन्त्र की सूचना दे दी। सम्भाजी ने इसका भयानक प्रतिशोध लिया। कितने ही षड्यन्त्रकारियों को उसने हाथियों से रौंदवा कर मरवा डाला। जिस शरके कुल से अभागी सोयरा बाई सम्बन्ध रखती थी, उस कुल के जितने भी घर और लोग थे सबको खोज-खोज कर सम्भाजी ने मौत के घाट उतरवा दिया। इस भयानक कृत्य ने असन्तोष की जड़ों को और भी गहरा तथा सम्भाजी की स्थिति को और भी संकटपूर्ण बना दिया।

सम्भाजी की गलतियाँ

सम्भाजी ने अपने शासन के प्रथम वर्ष (१६८१-१६८६) विदेशी औपनिवेशिकों के किलों—जंजीर और गोआ—पर अधिकार करने में नष्ट कर दिये। उसका उद्देश्य अपने बाजू को सुरक्षित करना था जिससे वह मुगलों से, उस ओर से निश्चिंत होकर, युद्ध कर सके। इन प्रयत्नों में उसने शिवाजी द्वारा सञ्चित भारी खज़ाना खर्च कर दिया। सैनिकों का वेतन बढ़ गया था, इसलिए उन्हें आस-पास के इलाकों को लूटने की अनुमति प्रदान कर दी। परिणामतः सेना पर अनुशासन रखना कठिन हो गया। शिवाजी की सेना ने जो नाम और प्रतिष्ठा प्राप्त की थी, वह धूल में मिल गई। मराठा सैनिकों की इस अवस्था का मुगलों को शीघ्र ही पता चल गया और उन्होंने आघात पर आघात देने शुरू कर दिये। कितने ही अधिकारी और सरदार मुगलों से जा मिले। सम्भाजी के विरुद्ध षड्यन्त्रों की संख्या बढ़ गई और मराठा राज्य की प्रतिष्ठा जाती रही।

कवि कलश का प्रभाव

अव्यवस्था और अराजकता की इस कहानी को पूर्ण करने के लिए सम्भाजी ने, जो अब अपने प्रत्येक राज्याधिकारी को सन्देह की दृष्टि से देखता था, एक कनौजिया ब्राह्मण कवि कलश को अपना प्रमुख सलाहकार नियुक्त कर लिया। राज्य में उसका प्रवेश

घातक सिद्ध हुआ। कलश मूर्ख और अयोग्य विदेशी—बाहरी आदमी—था। उससे सब घृणा करते थे। उसने सम्भाजी को विदेशी बस्तियों पर अधिकार करने के प्रयत्नों को छोड़ देने का परामर्श दिया। "राज्य," उसने कहा—"अँगूठी में लगे हीरे की भाँति होना चाहिए जो सदा पहनने वाले की आँखों के सामने रहता है।"

सम्भाजी की निष्क्रियता

मुगलों के भारी आक्रमणों के दौरान में सम्भाजी, बजाय इसके कि खुद अकेले या अपने पिता की भाँति बीजापुर और गोलकुण्डा के साथ मिलकर कुछ क्रियाशीलता दिखाता, कलश की और उसके द्वारा लाई गई स्त्रियों की संगत में डूब गया। कभी-कभी वह इस गढ़े से उरबने का प्रयत्न करता भी तो उसका ध्यान गोआ पर अधिकार करने की पुरानी योजना की ओर ही दौड़ जाता। शाहज़ादा अकबर भी मराठों की इस अवस्था से उकता कर फारस के लिए रवाना हो गया। इसी बीच औरंगजेब ने बीजापुर और गोलकुण्डा दोनों पर अधिकार कर लिया था और अब वह सम्भाजी की खोज में था। सम्भाजी दुष्ट-प्रकृति कलश के साथ संगमेश्वर में विश्राम कर रहा था। मुगलों ने उसके विश्राम-स्थल का पता लगा लिया (जनवरी, १६८९) और अप्रत्याशित आक्रमण कर उसे तुरत बन्दी बना लिया। उसके स्वामिभक्त अनुयायियों ने जब उससे अनुरोध किया कि वह घोड़े पर सवार होकर किसी सुरक्षित स्थान में चला जाए तो नशे में मस्त सम्भाजी के मुँह से इतना ही निकल सका—कलश पूरा जादूगर है। अपने चमत्कार से वह शत्रु का नाश कर देगा।"

उसकी गिरफ्तारी और निर्मम मृत्यु

सम्भाजी को और उसके कु-मन्त्री को बन्दी बनाकर सम्राट के सम्मुख उपस्थित किया गया। लज्जा और पश्चाताप में डूबा हुआ सम्भाजी अब मृत्यु के सिवा और कुछ नहीं चाहता था। अपनी खीज उतारने के लिए उसने सम्राट और उसके धर्म पर बुरी-से-बुरी गालियों की बौछार कर दी। यह सब होने पर भो औरंगजेब, अपने

अमीरों की सलाह के अनुसार, मराठों के राजा का जीवन नहीं लेना चाहता था बशर्ते कि वह इसलाम को स्वीकार कर ले। "सम्राट को बता दो", सम्भाजी ने जवाब दिया—"अगर वह मुझे अपनी लड़की देने को प्रस्तुत हो तो मैं मुसलमान बन सकता हूँ।"

औरंगजेब इन उद्धत शब्दों को नहीं सह सका। उसने लोहे की गरम सलाख से उसकी आँखें बेधने, उसकी जिह्वा को काटने और उसके सिर को धड़ से अलग कर देने का आदेश दे दिया। इस आदेश का पूरी तरह पालन किया गया। सम्भाजी के मन्त्री कलश के साथ अधिक 'दया' दिखाई गई,—उसे साधारण ढंग से सूली पर चढ़ा दिया गया। सम्भाजी के परिवार की स्त्रियाँ और उसका जवान पुत्र साहू इसके शीघ्र बाद ही बन्दी बना लिया गया, किन्तु उनकी मान-मर्यादा और सुविधाओं का हर तरह से ध्यान रखा गया।

मराठों की उग्र प्रतिक्रिया

इस निर्मम और क्रूर दण्ड से औरंगजेब को आशा थी कि मराठा आतंकित हो जायेंगे! किन्तु औरंगजेब की यह धारणा गलत सिद्ध हुई। जातीय अपमान के सामने सम्भाजी की गलतियों को भूल कर उन्होंने उसे शहीद बना दिया और मुगलों के विरुद्ध अपने क्रोध की आग को चेताए रखा। रायगढ़ में मराठा सरदार जमा हुए और उन्होंने सम्भाजी के पुत्र साहू को अपना राजा स्वीकार करने का निश्चय किया तथा उसके चचा राजाराम को उसका रीजेण्ट नियुक्त कर दिया। सेना में सख्ती के साथ अनुशासन फिर जारी कर दिया गया, किले और किले बन्दियों की मरम्मत कर दी गई, बड़े पैमाने पर रसद का सामान जमा कर लिया गया। महाराष्ट्र में उत्साह और जोश की एक नयी लहर दौड़ गई। प्रत्येक मराठा अपने-आप अपना नेता बन गया और अपनी इच्छा के अनुसार उसने लूट-मार करना शुरू कर दिया। दक्षिण की राजनीति अब मराठों की राजनीति बन गई। उन्होंने एक ऐसे शत्रु का रूप धारण कर लिया जो समूचे प्रायद्वीप पर छाया था, हवा की भाँति

जो पकड़ कर बाँधा नहीं जा सकता था ; जिसने दिल्ली साम्राज्य के सभी विरोधियों जिसने अपने चारों ओर जमा कर लिया था और जिसका प्रभाव-क्षेत्र दक्षिण से बाहर मालवा, गोन्दवाना और बुन्देलखंड तक विस्तृत हो गया था।*

शिवाजी द्वितीय (साहू)

राजाराम की नयी सेना क्रियाशील हो उठी थी। उसने कई साहस पूर्ण कार्य किए जिनमें सम्राट की छावनी पर धावा मारना भी था। उनकी सफलतायें यद्यपि बड़ी नहीं थीं ; फिर भी उन्होंने मराठों की प्रतिष्ठा को स्थापित कर दिया। साथ ही अलग-अलग घूमने वाले मराठा दलों को एक सूत्र में बाँधने में भी सफलता प्राप्त की। इसी बीच औरंगजेब भी हाथ पर हाथ धर कर नहीं बैठा था। रायगढ़ के किले पर अधिकार करने का उसने निश्चय कर लिया था। एक विश्वनीय 'जेनरल इत्तिकाद खाँ के नेतृत्व में इस उद्देश्य के लिए उसने भारी सेना भेजी। विश्वासघाती सूर्य जी पीसल ने किले के द्वार खोल दिए। सम्भाजी की विधवा-पत्नी यशुबाई और उसका पुत्र शिवाजी द्वितीय बन्दी बनाकर दिल्ली भेज दिया गया। औरंगजेब की कन्या जीनत-उल-निसा ने उनके साथ अच्छा व्यवहार किया। उसके हृदय में मराठा राजकुमार के लिए विचित्र प्रेम जाग उठा था। खुद वृद्ध सम्राट ने भी अप्रत्याशित रूप से शिवाजी के प्रति स्नेह का प्रदर्शन किया। वह शिवाजी को साहू (भला आदमी) कहता था।

राजाराम का जिंजी को पलायन

रायगढ़ के किले के पतन (अक्टूबर, १६८९) के बाद कोंकण के किलों पर, एक के बाद एक, मुगलों का अधिकार होता गया। स्थिति को निराशाजनक मान राजाराम और उसके अनुयायियों ने देश को छोड़ देने का निश्चय किया और लिगांयत यात्रियों के भेष

---

* देखिए कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, खंड ४, पृष्ठ २९० (१९३७)।

में वे, अनेक मुसीबतों का सामना करते, बंगलोर पहुँच गए।* बंगलोर से राजाराम जिंजी पहुँच गया और वहीं उसने अपने राज्य का हैडक्वार्टर बनाया (अप्रेल, १६६०)।

जिंजी में राज्य का पुनर्संगठन

जिंजी में राजाराम ने मराठा राज्य की व्यवस्था का पुनर्संगठन किया। शिवाजी की शासन-प्रणाली को उसने फिर से स्थापित कर दिया। नये अष्ट प्रधान—मन्त्रियों की परिषद्—उसने निर्मित की। 'प्रतिनिधि' नाम से उसने एक नये पद का निर्माण किया और इस पद पर स्वामिभक्त प्रह्लाद नीराजी को नियुक्त कर उसके सहयोग से—शान्ताजी, घोड़पदे, धानाजी यादव और रामचन्द्र बावड़ेकर—राजाराम ने नयी सेना का निर्माण किया। इस सेना का आधार शिवाजी के पुराने परखे हुए योद्धा थे जो अपने-आप अपने नेता बन गए थे और अपनी लूट-मार से जिन्होंने मुगलों की नींद हराम कर दी थी। यशुबाई के निर्देश से, जो अब मुगलों के यहाँ कैद थी, साहू के आने तक राजाराम ने स्वयं मुकुट धारण कर लिया। मराठों ने समूचे देश पर अपना आतंक जमा लिया और मुगल सेनाओं की रसद के मार्गों को काट दिया।

राजाराम के दकन और कोंकण पर फिर आक्रमण

औरंगजेब मराठों की नयी राजधानी जिंजी पर अधिकार करने का निश्चय किया और इस काम के लिए, जुलफिकार खाँ के नेतृत्व में, भारी सेना जिंजी पर आक्रमण करने के लिए भेज दी। किन्तु मुगल सेनापति भ्रष्ट और किले पर अधिकार करने के सर्वथा अयोग्य था। उसने जिंजी की रक्षक सेनाओं से गुप्त समझौता तक कर लिया। इस स्थिति से लाभ उठा कर राजाराम ने दकन और कोंकण के प्रदेशों पर फिर से आधिपत्य करने के लिए अपनी सेनाएँ भेज दीं। उसने अपने सरदारों को शिवाजी द्वारा पहले अधिकृत इलाके जागीर के रूप में दिए जो अब सम्राट के अधिकार में थे। जागीरों के प्रलोभन ने मराठा सरदारों को काफी प्रोत्साहित

---

* इस रोमांचकारी यात्रा के विवरण के लिए देखिए किनकैड और पारसनिस लिखित 'ए हिस्ट्री आफ दि मराठा पीपुल', खंड २, पृष्ठ ७२-७४।

किया। अपने ही खर्च से उन्होंने अपने सैनिकों को सुसज्जित किया और उनकी मदद से मुगल इलाकों में अपने अड्डे बनाने का निश्चय कर लिया। १६९२ में मराठों ने रायगढ़ और पनहल पर फिर से अधिकार कर लिया। अन्य किले भी कालानुसार उनके अधिकार में आ गए। किन्तु अब हम जिंजी के घेरे और पतन का वर्णन करेंगे।

जिंजी का घेरा और पतन (१६९०-९८)

जिंजी का घेरा १६९० से १६९८ तक पड़ा रहा। १६९१-९२ तक जुलफिकार खाँ ने कुछ नहीं किया, घेरा डालने की दिखावटी कार्यवाही करता रहा। सम्राट के सबसे छोटे और प्रिय पुत्र कामबख्श ने राजाराम से गुप्त पत्र व्यवहार किया जिसमें मराठों की मदद से दिल्ली पर आक्रमण कर सिंहासन पर अधिकार की योजना थी। यह षड्यन्त्र सफल न हो सका और शाहज़ादा को लांछित कर उसके पिता के पास वापिस भेज दिया गया। १६९४ में जुलफिकार खाँ ने क्रियाशीलता दिखाई। किन्तु उसे सम्राट की तुरत मृत्यु और गृह युद्ध के उठ खड़े होने का भय था, इसलिए वह १६९५-९६ तक अधिकांशतः रक्षात्मक कार्यवाही से आगे नहीं बढ़ा। अन्त में भीतरी मतभेदों के कारण मराठों की शक्ति खुद क्षीण पड़ गई और सम्राट ने तेज़ आक्रमण करने पर ज़ोर दिया तो जुलफिकार को आक्रमण करने के लिए बाध्य होना पड़ा और उसने जनवरी १६९८ में जिंजी पर अधिकार कर लिया। अगर अब भी वह आक्रमण न करता तो सम्राट की दृष्टि में उसकी प्रतिष्ठा के गिर जाने का डर था। किन्तु फिर भी उसने समय रहते राजाराम को सूचना दे दी थी और राजाराम बच कर वेल्लोर चला गया था। वेल्लोर से वह सुरक्षित रूप में महाराष्ट्र पहुँच गया।

सम्राट मुगल सेनापतियों को आक्रमणों के दौरान में बहुधा बदलता रहता था। मराठा घेड़सवार नियमित रूप से मुगल छावनियों पर धावा कर उन्हें लूट लेते थे। यद्यपि १६९८ में जिंजी का पतन हो गया, किन्तु मुगल साधनों को इस लम्बे घेरे ने शून्य

कर दिया था। मुगल सैनिकों को भारी क्षति उठानी पड़ी थी और किले का पतन होने से पहले ही राजाराम बच कर निकल गया था।

राजाराम सतारा में

राजाराम ने सतारा में जाकर शरण ली। वहाँ से वह अपने सेनापतियों का निर्देशन तथा आक्रमणों का सञ्चालन करता रहा। उसका उद्देश्य दकन के किलों पर घेरा डालने वाली मुगल सेनाओं को धक्का मारना था और इसके साथ-साथ सम्राट के अधिकाधिक उत्तरी इलाकों पर धावे करना था। इस तरह मराठा प्रत्याक्रमण का प्रारम्भ हुआ। प्रत्याक्रमण को संघटित और प्रभाव पूर्ण ढंग से चलाने के लिए साठ हज़ार सैनिकों की भारी सेना को तीन भागों में बाँट कर धानाजी यादव, परशुराम त्र्यम्बक और शंकर नारायण के नायकत्व में दे दिया गया था।

मराठा सैनिकों के आक्रमणों का विस्तार

१६६६ में स्वयं राजाराम युद्ध-क्षेत्र में आ गया और गोदावरी की घाटी की ओर वह बढ़ा। पंढरपुर में मुगल पराजित हुए और मराठों की एक दूसरी सेना ने उन्हें पूना से बाहर निकाल दिया। मराठा सेनाएँ जहाँ-जहाँ से गुजरती थीं, चौथ और सरदेशमुखी उगाहती जाती थीं। इसके बाद मराठा सेनाओं ने खानदेश और बरार पर चढ़ाई की। इन ज़िलों पर साधारण कर ही नहीं लगाए गए, वरन् इनकी समुचित शासन-व्यवस्था के लिए भी हर सम्भव प्रबन्ध कर दिया गया। गुजरात का भार राजाराम ने खांडेराव को और बरार का परसोजी भोंसले को सौंप दिया। मराठों के इन प्रयत्नों ने बड़ोदा और नागपुर के मराठा राज्यों की नींव का काम किया।

मुगलों का महान आक्रमण—आजमशाह का विश्वासघात—सतारा का पतन—राजाराम की मृत्यु

औरंगज़ेब इस बीच मराठों के छोड़े हुए या बेकार किलों पर अधिकार करने के नीरस काम को बहुत ही वायदे से पूरा करने

में लगा हुआ था। उसने अपनी समूची शक्ति महाराष्ट्र में लगा दी थी। अक्टूबर १६९९ में उसने कृष्णा और कोमन नदी के बीच में स्थित भारी किले वसन्त गढ़ पर अधिकार कर लिया। इसके बाद सहसा उसने सतारा पर चढ़ाई कर दी। परशुराम त्र्यम्बक के नायकत्व में सतारा के किले का घेरा ६ मास तक पड़ा रहा। घेरा डालने वाली सेना की संख्या इतनी अधिक थी कि यदि स्वयं सम्राट के पुत्र आज़म शाह ने विश्वासघात करके गुप्त रूप से किले में रसद न ले जाने दी होती तो दो मास के भीतर ही किले का पतन हो जाता। अब १७०० में किले का पतन हुआ। इसी वर्ष राजाराम की भी मृत्यु हो गई। जो निरन्तर युद्धों ने उसे बेजान कर दिया था। अपनी मृत्युशैया से राजाराम ने मराठों को आदेश दिया कि वे मुगलों से अपने युद्ध को जारी रखें जब तक कि साहू मुगलों के चंगुल से मुक्त न हो जाए और मुगलों का महाराष्ट्र से निष्कासित न कर दिया जाय।

उत्तराधिकार का झगड़ा

राजाराम अपने पीछे दो पुत्र छोड़ गया था। बड़ा पुत्र शिवाजी उसकी पत्नी ताराबाई से उत्पन्न हुआ था और छोटा पुत्र सम्भाजी राजाबाई से उत्पन्न हुआ था। अपने पति की मृत्यु की सूचना पाकर ताराबाई ने तुरन्त अष्ट प्रधानों की परिषद् बुलाई और अपने पुत्र शिवाजी के सिंहासन पर बैठने के अधिकार पर उसने जोर दिया। एक दल था जो साहू को जायज़ उत्तराधिकारी मानता था। एक छोटा-सा गुट छोटे पुत्र सम्भाजी के भी पक्ष में था। इन भीतरी मतभेदों के कारण मराठा राज्य में फूट पड़ने और उसकी शक्ति के क्षीण होने की आशंका थी। अन्त में, कठिन संघर्ष के पश्चात, ताराबाई ने अपने पुत्र को सिंहासन पर बैठाने में सफलता प्राप्त कर ली। उसका पुत्र अभी दस वर्ष का था, अतः वह स्वयं उसकी रीजेण्ट बन गई।

ताराबाई और शिवाजी तृतीय

मराठा राज्य की बागडोर अब वस्तुतः ताराबाई के हाथों में थी। उसने राज्य का बहुत ही खूबी के साथ प्रबन्ध किया और मुगलों

के साथ युद्ध को चकित कर देने वाले साहस और पूर्णता के साथ जारी रखा। उसकी शासन करने की प्रतिभा और चरित्र की शक्ति ने राज्य और जाति को उस भारी संकट में डूबने से बचा लिया जो राजाराम की मृत्यु के बाद उत्पन्न हो गया था। यह संकट दोहरे रूप में प्रकट हुआ था—एक तो उत्तराधिकार को लेकर भीतर संघर्ष के रूप में, दूसरे १६९९ से १७०१ तक औरंगजेब की विजयों के अटूट सिलसिले के रूप में।* वह साधारण सैनिक की तरह रहती थी। अपने पुत्र का हाथ थामे इस कैम्प से उस कैम्प में जाती, सैनिकों से बातें करती, उन्हें बढ़ावा देती, उन्हें हँसाती और गुदगुदाती। मुस्लिम इतिहास लेखक खफी खाँ को भी यह स्वीकार करना पड़ा है कि उसकी कार्य-शक्ति और कौशल के कारण औरंगजेब ने अपने शासन के अन्त तक मराठों के विरुद्ध जितने भी प्रयत्न किए, वे सब विफल हुए।

ताराबाई की सफलताएँ

१७०२ और १७०७ के बीच ताराबाई और उसके सेना-नायकों ने कोंकण के अधिकांश किलों पर अधिकार कर लिया। सूरत और बुरहानपुर चौथ देते थे। १७०५ में एक भारी मराठा सेना ने दो बड़े डिवीज़नों में नर्मदा को पार कर मालवा को रौंद डाला। खानदेश और बरार को भी बराबर कर दिया। पन्द्रह हजार मराठा सैनिकों ने गुजरात में घुस कर शाही सेनाओं को पराजित कर दिया। सिंहगढ़ और रायगढ़ पर मराठा सेनाओं ने फिर से अधिकार कर लिया। दकन की बागडोर अब मराठों के हाथ में थी और मुगलों की अवस्था दयनीय हो गई थी। इन चोटों और क्षतियों से औरंगजेब का हृदय टूट गया और उसके रोग में और वृद्धि हो गई। मराठों का दमन करने में वह बुरी तरह असफल हुआ था। १७०७ में उसकी मृत्यु हो गई।

साहू की मुक्ति

सदा की भाँति इस बार भी सम्राट की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार के लिए सङ्घर्ष उठ खड़ा हुआ। इस स्थिति से लाभ उठा कर

* सरकार, हिस्ट्री आफ औरंगजेब, खंड ५' पृष्ट २००।

ताराबाई ने शाही इलाकों पर आक्रमण कर अन्य कई किलों पर आधिपत्य कर लिया। मुगल सिंहासन के लिए संघर्ष का अन्त शाह आलम के पक्ष में हुआ। बहादुर शाह के नाम से उसने सिंहासन पर पाँव रखा। दकन के सूबेदार जुलफिकार खाँ के परामर्श से नये सम्राट ने साहू को अपनी हिरासत से मुक्त कर दिया। मुक्त करने के पीछे भावना यह थी कि दकन की राजनीति में उसके प्रवेश से मराठों में फूट पड़ जाएगी।

जुलफिकार खाँ का अनुमान ठीक निकला। साहू के पहुँचते ही मराठों में कई दल हो गए। एक राष्ट्रीय दल था जो साहू का समर्थक था, दूसरा दल ताराबाई और उसके पुत्र के पक्ष में था। इस घरेलू संघर्ष ने मुगलों को चिरवांछित अवसर प्रदान कर दिया। साहू को सम्राट ने दकन के अपने सूबों में चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार दे दिया। यह सम्राट की ओर से साहू को भेंट थी। उसने अपने अष्ट प्रधानों की परिषद का निर्माण कर जनवरी, १७०८ में छत्रपति की उपाधि के साथ उसने सतारा में राजमुकुट धारण कर लिया।

गृहयुद्ध—साहू के पक्ष में मराठा सरदार

मराठा राज्य के प्रति ताराबाई की सेवाओं के बावजूद राज्य के कितने मराठा सरदार साहू के पक्ष में थे, जिसने, १७०८ में, सतारा में राजमुकुट धारण कर लिया था। ताराबाई १७१२ में अपने पुत्र शिवाजी तृतीय की मृत्यु के समय तक संघर्ष करती रही। उसके अनुयायियों ने, पुत्र की मृत्यु के बाद, राजाराम के दूसरे पुत्र सम्भाजी को, प्रतिद्वन्द्वी राजा के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। किन्तु अन्त में साहू की विजय हुई।

साहू का चरित्र

साहू का लालन-पालन शाही हरम में औरंगजेब की कन्या जीनत ने किया था। मराठा राजनीति से वह सर्वथा अनभिज्ञ था। जब वह अपने देश में लौटा तो गृहयुद्ध और अराजकता से देश घिरा हुआ था। लेकिन उसने अपने आकर्षक व्यक्तित्व और सहृदयता से कितने ही सरदारों को अपनी ओर कर लिया। उसके

पास शिवाजी महान् या राजाराम जैसी प्रतिभा नहीं थी, किन्तु साधारण समझ उसके पास काफी थी। देश के स्वभाव को समझने में उसे देर नहीं लगी। उसने इसी में भलाई समझी कि शासन का कार्य उन्हीं के हाथों में रहने दिया जाए जो इसमें दक्ष हैं और उसे इसमें दखल नहीं देना चाहिए। उदार प्रकृति के सहारे उसने कितने ही अपने मित्र बना लिए। किन्तु उसकी अन्यमनस्कता और आरामपसन्दी ने उसे मराठा जैसी क्रियाशील और लड़ाकू जाति का शासक बनने योग्य नहीं रहने दिया था। शासन के प्रारम्भ के वर्षों में कुछ ही बड़े मराठा सरदारों ने उसका साथ दिया और सेनापति चन्द्रसेन, धानाजी यादव का पुत्र, प्रतिद्वन्द्वी की ओर चला गया जिसका जोरदार समर्थन दकन का नया सूबेदार चिन-किलिच खाँ, जो बाद में निजाम-उल-मुल्क के नाम से प्रसिद्ध हुआ, कर रहा था।

प्रथम पेशवा बालाजी विश्वनाथ का उत्थान

साहू के शासन के प्रारम्भिक वर्षों में एक कोंकण ब्राह्मण बालाजी विश्वनाथ अपनी सेवादारी से प्रकाश में आ गया। चन्द्रसेन से झगड़ कर वह साहू के संरक्षण में आ गया। देखते-देखते उसने अपने-आपको अपने संरक्षक के लिए अनिवार्य बना लिया और साहू की दृष्टि में तेज़ी से ऊँचा उठता गया। वह अब पेशवा, प्रधान मन्त्री, बना दिया गया। मराठा ब्राह्मणों की सारी चतुरता और कूटनीतिज्ञता उसमें मौजूद थी। साहू की सत्ता को उसने छाया-मात्र बना दिया और स्वयं राज्य का वास्तविक शासक बन गया। किन्तु साहू के प्रति वह सदा अपनी भक्ति प्रदर्शित करता रहता था और आदर का भाव रखता था। उसने अपने पेशवा-पद को वंशगत बनाने का भी प्रयत्न किया। उसके साथ पेशवाओं का शासन आरम्भ होता है,—वह पहला पेशवा था (१७१४)।

—:०:—

छठा परिच्छेद

भारत से प्रारम्भिक युरोपियनों व्यापार
पुर्तगीज—उनका उत्थान और पतन

[१]

प्रारम्भिक व्यापार और वणिक्-पथ

जैसा हम पहले भी कह चुके हैं, प्रारम्भिक काल से ही भारत से कुछ चीज़ें युरोप में जाती थीं और वहाँ इन चीजों की काफी माँग थीं,—मसाले और सुगंधित द्रव्य, हीरे और मोती, रेशम और आबेरवाँ। पूर्व से मध्य सागरीय देशों को, सालोमन के काल से ही, सब चीजें भेजी जाती रही हैं। रोमन साम्राज्य में मसालों और सुगंधित द्रव्यों की भारी मात्रा में खपत होती थी। रोम के सम्पन्न और सम्भ्रान्त लोगों में मोती, रेशम और आबेरवाँ की बहुत माँग थी। हिन्द से अन्य कतिपय चीजें भी बाहर भेजी जाती थीं, जैसे—संगे सुलेमानी, हाथी दाँत, विभिन्न रंगों के सूती कपड़े, नील, खालें और कछुवे की ढाल। रोमन साम्राज्य से भारत में आने वाले माल में प्रमुखतः सोने और चाँदी की मुद्रायें होती थीं जो, भारी संख्या में, दक्षिण भारत के विभिन्न भागों की खोदाई में हाल ही में पाई गई हैं। इनके अलावा मदिरा, मूँगा, विभिन्न प्रकार के काँच के पात्र, पीतल, टिन, सीसा आदि भी वहाँ से मँगाया जाता था। विदेशी उत्पादकों का तैयार माल, आज की भाँति, अपने माल के बदले में उन दिनों भारत में नहीं आता था, —आता भी था तो बहुत कम मात्रा में था। अधिकांशतः सोने और चाँदी के बदले में युरोप को भारत से माल मँगाना पड़ता था। *

---

* यद्यपि रेशम का उत्पादन केवल चीन में होता था, किन्तु रेशम भारत के विभिन्न बन्दरगाहों से युरोप को भेजा जाता था। सम्राट औरेलियन के काल

रोमन साम्राज्य के पतन के बाद सारसेनों ने मिश्र और फारस पर अधिकार कर लिया। उन्होंने भी भारत से, फारस की खाड़ी और लाल सागर के मार्ग से, व्यापार जारी रखा।

मसालों का युरोप के लिए महत्व

आठवीं शती और इसके बाद के काल में इटली के लोगों, फ्रान्स के मार्साई तथा अन्य नगरों के निवासियों में भारत के मसालों और सुगंधित द्रव्यों के प्रति रुचि का उत्पन्न होना और फैलना शुरू हो गया था। † मिर्च तथा दूसरे मसालों से युरोप वासी अपने

में रेशम का महत्व और मूल्य बहुत अधिक माना जाता था। रेशम की यथार्थ प्रकृति और उसके उत्पादन का तरीका युरोपवासियों को केवल छठी शती में मालूम हो सका था। देखिए डब्ल्यु० राबर्टसन लिखित "एन हिस्टारिकल डिसक्रिजीशन आन दि ट्रेड विद इण्डिया (१७९१), कलकत्ता में १९०४ में पुनर्मुद्रित, पृष्ठ ४३-४५।

दक्षिण से ही रोम के साथ समूचा व्यापार होता था। देश में जो रोमन सिक्के मिले हैं, वे अपनी कहानी अपने-आप प्रकट करते हैं। देखिए आर० सिवेल लिखित "रोमन कोयन्स फाउण्ड इन इण्डिया' (जे० आर० ए० स, १९०४, पृष्ठ ५९१) एच० जी० रौलिन्स लिखित 'इन्टरकोर्स बिट्वीन इण्डिया एण्ड दि वेस्टर्न वर्ल्ड' (१९१६), परिच्छेद ६ और सात; ई० एच० वारमिंगटन लिखित 'दि कामर्स बिट्वीन रोमन एम्पायर एण्ड इण्डिया' (१९२८), पृष्ठ २०८।

†सारसेनी मुसलमान शासकों और ईसाई अभियानों—ग्यारहवीं शती से लेकर बाद तक जो मुसलमानों के पवित्र स्थान पर अधिकार करने के लिए किए जाते रहे—के बीच धर्म-युद्धों ने पूर्वी व्यापार को चेताने में सहायता दी। इस व्यापार से होने वाले मुनाफे ने युरोपवासियों को साहसिक यात्राएँ करने और जोखिम उठाने के लिए प्रेरित किया। कितने ही युरोपीय व्यक्तियों ने, खोज और आविष्कार की भावना से प्रेरित होकर, लम्बी-लम्बी यात्राएँ कीं। मार्कोपोलो तथा अन्य कई कैथोलिक जो चीन तथा दूसरे दूर-देशों तक पहुँचे, ऐसे ही यात्री थे। धर्म-युद्धों—क्रुसेडों—के काल से पूर्वी देशों के फल, मसाले, कपड़े आदि युरोपियों की दृष्टि से गुजरने और इनकी ओर आकर्षित होने शुरू हुए। इस प्रकार कहा जा सकता है कि युरोपवासियों ने सम्पन्न जीवन की विभूतियों का उपभोग पूर्व के सम्पर्क में आने के समय से—क्रूसेडों के काल से—शुरू किया।

मांस को सुस्वादु (मसालेदार) बनाते थे। इन मसालों की सहायता से वे मांस को, बिगड़ने से बचा कर, महीनों सुरक्षित रखते थे। लम्बे जाड़े के महीनों के लिए उन्हें मांस जमा करके रखना होता था और यह काम बिना भारतीय मसालों के नहीं हो सकता था। उनके रसोई घर में—पाक-विज्ञान में—भारतीय मसालों ने अच्छी तरह प्रवेश कर लिया था। जो भी चीज वे बनाते थे, उसमें ये मसाले पड़ते थे। सामूहिक उत्सवों में इन मसालों का प्रयोग सम्पन्नता का सूचक माना जाता था। डाक्टरों के हर नुस्खे में इन मसालों के अंश, किसी न किसी रूप, मौजूद थे।

तेरहवीं और चौदहवीं शती में वेनिस और जेनोआ नामक नगरों में मध्य सागर का समूचा व्यापार केन्द्रित हो गया। दूसरी प्रकार पूर्व से व्यापार का केन्द्र पूर्वी रोमन साम्राज्य की राजधानी कुस्तुनतुनिया बन गया। वे लौंग, जायफल, मोती, हीरे तथा अन्य बहुमूल्य पदार्थ कारवान के द्वारा मँगाते हुए, ये कारवाँ फारस की खाड़ी के सिरे से होकर मेसोपटामिया और सीरिया के मार्ग से जाते थे। भारी मात्रा में मँगायी जाने वाली चीजें—जैसे, मिर्च दारचीनी और अदरक आदि—अरब और लाल सागर में से होकर, समुद्री जहाजों के द्वारा, मिश्र के बन्दरगाह तक पहुँचती थीं। अधिक मूल्यवान और दुर्लभ चीजों का भेजा जाना कभी-कभी होता था, क्योंकि कारवानों की लम्बी यात्रा पर खर्च बहुत हो जाता था। किन्तु समुद्री मार्ग से जाने वाला सामान नियमित रूप से और भारी मात्रा में भेजा जा सकता था, इसलिए वह उचित दामों में बिक जाता था।

व्यापार के तीन प्रमुख मार्ग

भारत और मध्य सागर के तटवर्ती देशों के बीच व्यापार के तीन प्रमुख मार्ग प्रारम्भिक काल से प्रयोग में आने लगे थे। मध्य सागर तक पहुँचने वाले इन मार्गों पर जिस सम्राट का नियंत्रण होता था, वह भारी मुनाफे का अधिकारी होता था। उत्तर में स्थित मार्ग इन्दस की घाटी या इसके आस-पास से शुरू होते थे। यहाँ से अफगान तथा हिन्दूकुश पर्वत-शृङ्खलाओं को पार करके

आक्सस तक पहुँचते थे। फिर आक्सस के किनारे-किनारे उसके मुहाने तक जाते और वहाँ से अराल तथा कैस्पियन सागर को पार कर काकेशिया, वहाँ से फिर साइरस (कूर नदी) के चढ़ाव पर चल कर फासिस नदी के उतार के साथ कृष्ण सागर तक पहुँच जाते थे;—या फिर उत्तर फारस के पठार और आर्मीनिया के पहाड़ी छोरों को पार कर या तो त्रेबीजोन्द—कृष्ण सागर के दक्षिणी तट परस्थित—पहुँचते थे या मेसोपोटामिया के रेगिस्तान में से होकर सीरिया पहुँच जाते थे। यह मार्ग बहुत लम्बा और कठिन था, * किन्तु इसका बहुत बड़ा भौगोलिक महत्व इस बात में था कि यह चीन (चीनी तुर्किस्तान) का युरोप से सीधा सम्बन्ध जोड़ता था। इस मार्ग से कृष्ण सागर तक पहुँचने के बाद वहाँ से माल कुस्तुन-तुनिया और फिर इटली के बन्दरगाहों को भेज दिया जाता था—या दानूब के चढ़ाव तथा आस-पास की दूसरी नदियों के रास्ते मध्य युरोप और जर्मनी तक और सबसे अन्त में बल्टिक तथा उत्तरी सागर के तट पर स्थित नगरों तक भेज दिया जाता था।

कुस्तुनतुनिया, वेनिस और जेनोआ; और हनसिएटिक लीग

इस मार्ग से होने वाला व्यापार पूर्वी रोमन साम्राज्य की सम्पन्नता का दीर्घकाल तक प्रमुख आधार बना रहा,—विशेष रूप से सासेनी मुसलमानों के सीरिया तथा मिश्र पर अधिकार होने के बाद से। कुस्तुनतुनिया इस मार्ग में सबसे महत्वपूर्ण मंडी बन गया था। इटली के बड़े बन्दरगाहों—वेनिस और जेनोआ—को यहीं से माल लदता था। वेनिस में अनेक व्यापारिक स्टेशन और कारखाने थे जो अड्रियाटिक से बोसपोरस तक फैले हुए थे। कुस्तुनतुनिया के मार्ग से होने वाले समूचे व्यापार की इजारेदारी लेने के लिए वेनिस प्रयत्नशील रहता था। किन्तु तेरहवीं शती में इसके दो भारी प्रतिद्वन्द्वी पीसा और जेनोआ, खड़े हो गए। इन दोनों में जेनोआ विशेष रूप से जबर था जिसने अनेक किले बन्दी युक्त कारखाने—कृष्ण सागर के दक्षिणी और पश्चिमी तट के किनारे—खड़े कर लिए थे। वेनिस और जेनोआ के बीच बढ़ती हुई प्रतिद्वन्द्विता के कारण उत्तरी जर्मनी के नगरों ने—विदेशी व्यापार

की दृष्टि से जो एक लीग के रूप में संघटित हो गए थे—कुस्तुनतुनिया से सीधा व्यापार शुरू कर दिया। इन नगरों का संघटन हनसियटिक लीग कहलाता था। कृष्ण सागर से बाल्टिक और जर्मन सागर तक इस लीग ने व्यापारिक स्टेशनों की शृङ्खला स्थापित कर ली थी। पूर्वी माल के व्यापार से इस लीग के नगरों ने बहुत लाभ उठाया। कुस्तुनतुनिया पर तुर्कियों के आधिपत्य के कारण जब कृष्ण सागर के मार्ग से होने वाला व्यापार बन्द हो गया तो इस लीग की सम्पन्नता तेजी के साथ कम होने लगी। पूर्वी रोमन साम्राज्य पर उत्तरोत्तर बढ़ने वाले तर्कों के प्रभुत्व और १४५३ में उनके कुस्तुनतुनिया पर अन्तिम आधिपत्य तथा कृष्ण सागर और क्रीमियार पर उनके पहले से हुए अधिकार ने व्यापार के उत्तरी मार्ग के बन्दरगाहों को सदा के लिए बन्द कर दिया।

इण्डो सीरियन मार्ग

इण्डो-सीरियन मार्ग तिगरिस और यफ्रात के मुहाने से शुरू हो कर मेसोपोटामिया और सीरिया के रेगिस्तानों में से होता हुआ दमिश्क और वहाँ से या तो लेवन्टाइन तट या मिश्र तक पहुँचता था। इतिहास के उदय-काल से इस मार्ग से होने वाला व्यापार चलिडया और बेबीलोनिया के व्यापारियों के हाथ में था जो माल को मध्यसागर तक ले जाते थे और वहाँ से फोनीशियन नाविकों द्वारा मध्यसागरीय नगरों में वितरित कर देते थे। यहूदी सम्राट—डेविड और सोलोमन ने—ईसा पूर्व ग्यारहवीं शती में जो चूडिया पर शासन करते थे—इस मार्ग के मध्यसागरीय बहिद्वारों पर अपना अधिकार कर रखा था। अपनी राजधानी यरुशलम को जिन चीजों से सोलोमन ने अलंकृत किया था, उनका मूल स्थान भारत था, जैसे—सोलोमन का हाथीदाँत का सिंहासन, उसके महल के सन्दल के सतून, उसके क्रीड़ा उद्यान में घूमने वाले वनमानुष और मोर सम्भवतः भारत से ही उसने मँगाए थे।

इस मार्ग का क्रमागत प्रभुत्व

बाद में इस मार्ग पर रोमनों के मेडो-पर्शियन साम्राज्य का प्रभुत्व हो गया। ईसा से पूर्व पहली शती में सीरिया पर उनकी विजय

होने के बाद इस मार्ग पर उनका नियंत्रण स्थापित हुआ था। रोमनों के लिए यह मार्ग बहुत उपयोगी और लाभप्रद सिद्ध हुआ। पूर्व देश के बहुमूल्य पदार्थ और मसाले इसी मार्ग से रोमनों को मिलते थे। इन चीजों को वहाँ भारी खपत थी। सतवीं शती (ईसवी) के मध्य के लगभग से इसलाम के अनुयायी अरबों का युफ्रात और मध्यसागर के बीच के सभी प्रदेशों पर आधिपत्य हो गया। उन्होंने इस मार्ग से होने वाले व्यापार को सावधानी और तत्परता के साथ आगे बढ़ाया और फारस की खाड़ी के सिरे के निकट बसरा नामक बन्दरगाह का निर्माण किया जो, पूर्व के साथ उनके व्यापार का, प्रमुख केन्द्र बन गया। अरब भूगोल-पंडितों ने फारस की खाड़ी से चीन और सातों समुद्र तक मार्गों का नकशा तैयार किया और प्रत्येक मार्ग का अपना अलग नाम उन्होंने रखा।

धर्म-युद्धों—क्रूसेड़ों—का क्षेत्र प्रमुख रूप से सीरिया और फिलस्तीन रहा। इन युद्धों के कारण इस मार्ग के कारवानों की गति समय-समय पर अवरुद्ध हो जाती रही। किन्तु व्यापार पूर्णतया फिर भी बन्द नहीं हुआ। पूर्वी माल से अभिज्ञ जेहादियों के साथ अब व्यापार होने लगा। १०९९ में जेहादियों ने यरुशलम में जो ईसाई राज्य स्थापित किया, उसने भी इस मार्ग से होने वाले व्यापार को बढ़ावा दिया।

तुर्कों द्वारा मार्ग बन्द

तेरहवीं शती में मेसोपोटामिया में बर्बर मंगोल कबीलों ने घुस कर खलीफाओं की शक्ति को छिन्न-भिन्न कर दिया था। इसके बाद, चौदहवीं शती में, उसमानली तुर्कों के आक्रमण हुए और वे सीरिया तथा एशिया माइनर में घुस आए और १४०० के पहले तक उन्होंने समरना तक समूचे प्रदेश पर आधिपत्य कर लिया। इण्डो-सीरियन मार्ग से होने वाले मार्ग को उन्होंने पूर्णतया बन्द कर दिया और पूर्वी मध्यसागर के नगरों को भारी क्षति पहुँचाई।

इण्डो-मिश्र-मार्ग

तीसरा प्रमुख मार्ग इण्डो-मिश्र या दक्षिणी मार्ग था। यह अधिकांशतः समुद्री मार्ग था। मलाबार और बम्बई के तटों से शुरू

होकर लाल सागर के मुहाने तक, वहाँ से फिर मिश्र के तट तक और इसके बाद कारवाँ किश्तियों के द्वारा नील तक माल ले जाते थे। नील के पश्चिमी मुहाने पर स्थित सिकन्दरिया का बन्दरगाह, सिकन्दर महान ने जिसका निर्माण किया था, इस मार्ग का प्रमुख मध्यसागरीय बहिर्द्वार (आउट लेट) था। इब्नबतूता ने लिखा है कि उसके देखे हुए पाँच बड़े बन्दरगाहों में से यह एक था। मिश्र पर ग्रीकों का आधिपत्य और तोलेमियों के ग्रीकवंश के तीन सौ वर्षों तक—लगभग ३० ईसा पूर्व में रोमनों के मिश्र पर अधिकार होने से पहले यहाँ के दोनों मिश्री सम्राटों ने इस मार्ग से होने वाले व्यापार को बढ़ावा दिया था और लालसागर से नील तक जहाज़-रानी योग्य जल-मार्ग निकालने के अनेक प्रयत्न किये थे जिससे मिश्र के रेगिस्तान की कठिन यात्रा से कारवाँ बच सकें।*

रोमनों के काल में इस मार्ग का महत्व

रोमन साम्राज्य ने ३० ईसा पूर्व में मिश्र को अपना सूबा बना लिया था, समुद्री डाकुओं का दमन कर मध्यसागर और लालसागर के जल-मार्गों को सुरक्षित बना दिया था। ४५ ईसवी के लगभग हिप्पालस नामक एक नाविक ने हिन्द सागर पर से चलने वाली मानसून की गति-विधि के कालिक क्रम का पता लगा लिया था। इस आविष्कार के बाद व्यापारिक जहाज़ों को पहले की भाँति तटों के निकट रह कर रेंगने की आवश्यकता नहीं रही। मानसून की गतिविधि देख कर अरब ने, अनुकूल समय में, लाल सागर के मुहाने से सीधे अरब सागर को पार कर कुछ ही सप्ताह में मलाबार तट तक पहुँच जाते थे। उनकी वापिसी की यात्रा भी इतनी ही सुगम हो गई। वे तभी वापिस होते थे जब मानसून का बहाव उनके अनुकूल होने का समय होता था। भारी वजन के माल तथा

* ईसा पूर्व बीसवीं शती से लेकर अन्तिम शती तक मिश्री सम्राटों ने लाल-सागर से नील या मध्यसागर का सम्बन्ध जोड़ने के लिए अनेक प्रयत्न किए थे, किन्तु इस काम को पूरा करने में एम.द. लेसेप्स नामक फ्रान्सीसी इञ्जीनियर ही सफलता प्राप्त कर सका और उसने खाकहाए स्वेज़ के बीच से १८६६ में नहर काट कर निकाल दी।

बहुमूल्य हीरे आदि से लदे जहाज़ मानसून के सहारे चलते थे। परिणामतः इस मार्ग पर स्थित बन्दरगाह बहुत सम्पन्न हो गए और सिकन्दरिया का बन्दरगाह रोमन साम्राज्य का प्रमुख व्यापारिक केन्द्र बन गया। *

'पेरिप्लस आफ दि एरिथ्रियन सी' (लगभग ६० ईसवी) नामक गुमनाम ग्रंथ तथा ६ ठी ईसवी के ईसाई साधु कास्मस के वर्णनों—उसने लालसागर से भारत तक की यात्रा की थी—से हमें मलाबार तट और सिंहल की व्यापारिक सम्पन्नता का पर्याप्त परिचय मिल जाता है। पूर्व और पश्चिम के व्यापारियों का मिलन-केन्द्र होने के कारण सिंहल का महत्व काफी बढ़ गया था। कासमस ने चीन का भी उल्लेख किया है और मोटे रूप में उसकी भौगोलिक स्थित का भी वर्णन किया है। ६४०-६४१ ईसवी में मिश्र पर अरबों का आधिपत्य होने के बाद सिकन्दरिया का व्यापार अरबों के नियंत्रण में चला गया और जैसा हम बता चुके हैं, इण्डो-सीरियन मार्ग पर भी उनका प्रभुत्व स्थापित हो गया। युरोपीय व्यापारियों के लिए सिकन्दरिया बन्द कर दिया गया। हिन्द से लेवान्त तक जितना भी व्यापारिक यातायात होता था, वह सब अरबों के ही हाथ में था, युरोप के व्यापारियों को केवल युरोप में ही माल को वितरित करने की सुविधा प्राप्त थी।

व्यापार पर अरबों का नियंत्रण

फातिमावंशी खलीफाओं तथा ममलूक सुलतानों के नेतृत्व में अरबों का सोलहवीं शती के प्रारम्भ तक—जब ओटोमन तुर्कों ने उनका स्थान ले लिया—मिश्र पर प्रभुत्व बना रहा। उनके शासन-काल में इण्डो-मिश्र व्यापार फूलता-फलता रहा और सीरियन मार्ग जब धर्म-युद्धों के कारण अवरुद्ध हो जाता था तब यह मार्ग और भी अधिक महत्व धारण कर लेता था। अरब व्यापारी† मिश्र और चीन के बीच के समूचे समुद्र पर छाए थे और

---

* डबल्यू. डबल्यू. हण्टर—हिस्ट्री आफ ब्रिटिश इण्डिया, खण्ड १, पृष्ठ ४२।

† सुप्रसिद्ध मूर-यात्री इब्नबतूता (१३०४-७७ ईसवी) सिकन्दरिया से

हिन्द के पच्छिमी तट के विभिन्न भागों में उन्होंने अपने उपनिवेश बना लिए थे। मध्य काल के अरब भौगोलिक तत्कालीन व्यापारिक स्थिति का बहुमूल्य वर्णन छोड़ गए हैं।

तुर्कों के काल में व्यापार का ह्रास

ओटोमन तुर्कों ने, मिश्र पर विजय प्राप्त करने के बाद, अरबों के व्यापार के मध्य सागरीय बहिर्द्वारों को पूर्णतया बन्द कर दिया। उनके शासन में मिश्र की स्थिति के सभलने और व्यवस्थित होने पर व्यापार ने कुछ अंशों में फिर जीवन प्राप्त किया; तुर्कों के आधिपत्य में कुस्तुनतुनिया पूर्वी देशों के माल का व्यापारिक केन्द्र नहीं रहा। इसके व्यापार का ह्रास होने का प्रभाव वेनिस और जेनोआ पर भी पड़ा,—उनका व्यापार भी गिरने लगा। मिश्र, सीरिया और कुस्तुनतुनिया में जब तुर्कों ने युरोप के व्यापारियों का प्रवेश निषिद्ध कर दिया तो युरोप में एशिया के माल का अभाव होने लगा और अभाव के साथ-साथ दाम भी ऊँचे उठने लगे।

तुर्की बेड़ा अड्रियाटिक और इटली के तटों पर छाया हुआ था और इसके मुकाबले में, उत्तरी अफ्रीका के बारबरी कोर्सेयरों ने मध्य सागर में वेनेशियनों और जेओनासियों को पछाड़ कर अपना सिक्का जमा लिया था। राजनीतिक दृष्टि से कोर्सेयरों का समुद्री प्रभाव तुर्कों का स्थल-विजयों का जवाबी पहलू बन गया था। स्थल शक्ति के रूप में ओटोमन तुर्कों का उत्थान युरोपीयों के लिए इण्डो-सीरियन और कृष्ण सागरीय मार्गों के मध्य सागरीय बहिर्द्वारों तक पहुँचने में बाधक बन गया था। इसी प्रकार पूर्वी मध्य सागर में उनकी समुद्री शक्ति ने इण्डो-मिश्री व्यापार के बहिर्द्वारों को बन्द कर दिया था। इन बाधाओं का बुरा प्रभाव वेनिस और जेनोआ पर ही नहीं, वरन् युरोपीय तथा इनसिएटिक लीग को समूची

सुमात्रा तक के समूचे समुद्र और बन्दरगाहों से परिचित था। उसने अपने काल का रोचक वर्णन लिखा है जो पूर्व के साथ अरबों के—ओटोमन शक्ति के उत्थान से पूर्व—व्यापारिक सम्बन्धों पर अच्छा प्रकाश डालता है। ओटोमनों ने इस व्यापार को आंशिक क्षति पहुँचाई और जब पुर्तगीज़ों ने हिन्द के समुद्री मार्ग का आविष्कार कर लिया तो यह व्यापार पूर्णतया समाप्त हो गया।

व्यापारिक व्यवस्था पर पड़ा और युरोप के व्यापारियों में मध्य-सागर से अलग नये समुद्री मार्ग खोजने की भावना प्रबल हो उठी।* पुर्तगीज़ों को जब 'केप आफ गुड होप' का पता लग गया और जब उन्होंने अपना समूचा पूर्वी व्यापार इस मार्ग की ओर मोड़ दिया तो क्रुद्ध और विक्षुब्ध तुर्कों ने हिन्द सागर के आहत मूर-व्यापारियों के साथ मिल कर पुर्तगीज़ों का दमन करने के प्रयत्न किए। किन्तु उनके सभी प्रयत्न असफल हुए। पुराने मार्गों से होने वाला व्यापार—विशेष रूप से हिन्द-मिश्री मार्ग का व्यापार—क्षीण पड़ गया। स्वेज़ केनाल के खुलने पर ही मिश्र और लाल सागर के बीच व्यापार में फिर से जान पड़ी।

[२]

पुर्तगीज़ व्यापार और पुर्तगाल की स्थिति

पुर्तगीज़ों की क्रियाशीलता का प्रारम्भ

अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण जिस प्रकार पूर्वी रोमन साम्राज्य तुर्कों के विरुद्ध पूर्वी युरोप में प्रतिरोध-केन्द्र बन गया था, उसी तरह पुर्तगाल ईसाइयत का उत्तरी अफ्रीका के मूरों के विरुद्ध प्राकृतिक अड्डा—आउट पोस्ट—बन गया था। इसके पास कितने ही गहरे और सुरक्षित बन्दरगाह थे और इसके नाविकों में साहस-पूर्ण यात्राओं के प्रति रुचि बहुत पहले ही विकसित हो चुकी थी। कैस्टिले के (स्पेन के) प्रभुत्व से पुर्तगाल ने अपने को १३८५ में

* वास्को-द-गामा और कोलम्बस की समुद्री यात्राओं और जल-मार्गों के आविष्कारों के फलस्वरूप 'रेनासां' इतना व्यापक रूप धारण कर सका। पूर्व के केप-मार्ग के आविष्कार ने युरोपीयों के लिए विस्तृत प्रदेशों और बहु-संख्यक मानव-समाजों से सम्पर्क स्थापित करने का मार्ग खोल दिया जिनकी ख्याति प्लाइनी और तोलेमी के द्वारा वे सुन चुके थे, किन्तु कुछ व्यापारियों और धर्म-प्रचारकों के सिवा सभी को अपनी आँखों से उन्हें देखने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ था क्योंकि अरब और तुर्कों ने पूर्व और पश्चिम को एक-दूसरे से अलग कर दिया था और उनके निकट आने के मार्ग में वे बराबर बाधक बने रहे। देखिए जे. एल. मायर्स लिखित "दि इनफ्लुएन्स आफ एनथ्रापोलोजी आन दि कोर्स आफ पालीटिकल साइन्स" (केलीफोर्निया विश्वविद्यालय), पृष्ठ १३।

ही मुक्त कर लिया था और स्पेनिश प्रायद्वीप से मूरों को निष्कासित करने के संघर्ष में उसने सक्रिय भाग लिया था। मूरों के विरुद्ध संघर्ष के दौरान में जिस जेहादी भावना का पुर्तगीज़ों में विकास हो गया था, पन्द्रहवीं और सोलहवीं शती में उसी भावना के सहारे उन्होंने अनेक आविष्कार किये तथा विजय प्राप्त की। स्वतन्त्रता की नवजात राष्ट्रीय भावना ने उन्हें आगे बढ़ने तथा नयी सफलताएँ प्राप्त करने की प्रेरणा प्रदान की थी।

प्रारम्भिक समुद्री यात्राएँ

पुर्तगीज़ नाविकों ने सुविख्यात समुद्र-प्रेमी प्रिन्स हेनरी के निर्देशन में, उत्तर-पश्चिमी अफ्रीका के तटों का ज्ञान डाला और इस प्रदेश के समूचे व्यापार को, जो अब तक मूरों के हाथ में था, अपने अधिकार में कर लिया। उनकी समुद्री खोजों के साथ-साथ व्यापार और उपनिवेशीकरण भी चला। साग्रेस में पुर्तगीज़ों की समुद्री-एकेडेमी में चुम्बक का समुचित प्रयोग सिखाया जाता था। दिशा-ज्ञान का साधन हाथ में आने से पुर्तगीज़ नाविकों को काफी सुविधा हो गयी,—अब उन्हें जहाँ से शुरू किया था घूम-घाम कर फिर वहीं पहुँचने या न-मालूम दिशाओं में भटकने की ज़रूरत नहीं रही। शीघ्र ही पुर्तगीज़ों के लिए मदीरा और केप वर्दे द्वीप अफ्रीका में और आगे बढ़ कर गाइन तट तक पहुँचने का साधन बन गए। १४६० में प्रिन्स हेनरी की मृत्यु हो गई, किन्तु उसके कार्य को राजा अल्फैंज़ो ने जारी रखा। प्रिन्स हेनरी की मृत्यु के बीस वर्षों के भीतर पुर्तगीज़ जहाज़ों ने गाइना की खाड़ी और निगर के मुहाने को पार कर लिया और १४८७ से पहले तक, साहसी नाविक काओ के कमान में कांगो के मुहाने को पार कर केप क्रास तक वे पहुँच गए।

डाइस और वास्को द गामा

बार्थोलोम्यु डाइस, काओ का उत्तराधिकारी, महान् पुर्तगीज़ जहाज़ियों में सबसे अन्तिम था जिसने वास्को-द-गामा के आगे बढ़ने का मार्ग तैयार करने में योग दिया। १४८७ में भारी मुसीबत उठा कर उसने केप आफ गुड होप का चक्कर पूर्ण कर दिया, किन्तु अपने अन्य साथी-कर्मचारियों की ज़िद के कारण, जिन्होंने आगे बढ़ने

से इन्कार कर दिया था, उसे वापिस लौट आना पड़ा। पुर्तगीज़ों की इस यात्रा ने कोलम्बस को मुग्ध कर लिया और उसने उनकी प्रशंसा की। फैक्टरी-प्रणाली में भी पुर्तगीज़ों ने अगुवाई की थी और उनकी गाइना स्थित फैक्टरी के नमूने पर अन्य युरोपीय औपनिवेशियों ने भी अपनी फैक्टरियाँ चालू कीं। दासों के श्रम से उष्ण देशीय बगानों की स्थापना भी उन्होंने ही पहिले की थी। इसके साथ-साथ पुर्तगाल का शासक मिश्र, लाल सागर और हिन्द सागर होते हुए भारत पहुँचने के मार्ग का पता लगाने के प्रयत्न करता रहा। उसने पेड्रो कोविल्हम नामक एक जहाजी को इसके लिए प्रेषित किया जो लाल सागर होता हुआ मलाबार तट तक पहुँच गया। इस यात्रा में उसने अफ्रीका के उत्तर-पूर्वी तट और मदगास्कर के सम्बन्ध में जो जानकारी प्राप्त की थी, उसकी सूचना पुर्तगाल के शाह को दे दी। कोविल्हम ने निश्चयात्मक रूप से यह सलाह दी कि गाइना तट के उतार के सहारे चलने वाले पुर्तगीज़ जहाज़ अगर दक्षिण की ओर बराबर चलते रहेंगे तो कान्टीनेन्ट के छोर तक पहुँच जाएँगे; और जब वे पूर्वी सागर में आ जाएँ तो उन्हें पूछ-ताछ कर सोफाला और चन्द्र द्वीप (मदगास्कर) की ओर बढ़ना चाहिए।

कोलम्बस की समुद्री-यात्रा भी अतलान्तक सागर की छान-बीन करने की उस योजना का अविच्छिन्न अंग थी जिसका श्रीगणेश प्रिन्स हेनरी ने किया था। कोलम्बस ने अतलान्तक हवाओं और लहरों के उतार-चढ़ाव का ज्ञान पुर्तगीज़ जहाजों पर रह कर प्राप्त किया था।*

वास्को द-गामा की पहली यात्रा

डाइस ने पूर्व के समुद्री द्वारों को खोल दिया था। इनमें प्रवेश करने का कार्य वास्को-द-गामा ने किया। १४९७ के ग्रीष्म में पुर्तगाल के शाह ने भारत-यात्रा के लिए वास्को-द-गामा को चुना। घटना पूर्ण ऐतिहासिक यात्रा के बाद—उसके जहाज ने दक्षिणी अमरीका से ६०० मील के अन्तर्गत अतलान्तक को पार करने के

* जेन—वास्को-द-गामा एण्ड हिज़ सकसेस', पृष्ठ १५१।

बाद—वह केप आफ गुड होप पहुँचा और फिर घूम कर आगे बढ़ गया। नेटाल और डेलागोआ खाड़ी के किनारे होता हुआ वह मार्च १४९८ में मोज़ बीक पहुँचा। इसके बाद हाटेन्टो और नीग्रो लोगों की भूमि को पीछे छोड़ कर वह उस प्रदेश में पहुँचा जहाँ मुस्लिम अरब व्यापारियों ने अपनी बस्तियाँ बसा ली थीं। सोफाला से जंजीबार तक के तटवर्ती प्रदेश का व्यापार—हाथी-दाँत और स्वर्ण का—अरबों के हाथों में था। इस प्रदेश के भीतरी भागों से अरब व्यापारियों को हाथी दाँत और सोना मिलता था। जंजीबार के कुछ उत्तर में जब वास्को-द-गामा मुम्बासा पहुँचा तो उसे एक गुजराती पाइलट की सहायता मिल गई और अरब सागर को पार कर वह कालीकट पहुँच गया (मई १४९८)। कालीकट में वह अधिक दिन नहीं ठहरा और वह पुर्तगाल के लिए वापिस चल पड़ा और १४९९ के अन्तिम भाग में वहाँ पहुँच गया। इस प्रकार पुर्तगाल हिन्द के समुद्री मार्ग का स्वामी बन गया। *

---

* कोलम्बस और वास्को द गामा की खोजों का एक नतीजा यह हुआ कि स्पेन और पुर्तगाल के बीच का प्रदेश—जिसकी छानबीन नहीं हुई थी—१४९४ में पाप की घोषणा (आज्ञा-पत्र) के कारण निषिद्ध और असम्बद्ध प्रदेश बन गया। इस आशय की पुर्तगाल और स्पेन के बीच एक संधि भी हो गई और पोप ने (१५०४) में उसपर अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी। इस संधि के अनु. सार इन दोनों प्रभाव-क्षेत्रों की सीमा रेखा—विभाजन-रेखा—कैप वर्दे के पच्छिम में ३७० लीग दूर स्थल के उत्तर और दक्षिण की दिशा में खींची गई थी। इस प्रकार पूर्व और अफ्रीका पुर्तगाल के तथा पच्छिमी प्रदेश स्पेन के प्रभाव-क्षेत्र में आ गया। बलबोआ जैसे साहसी नाविकों के प्रयत्नों के फल स्वरूप जिन्होंने पैनामा के जल डमरू मध्य से प्रशान्त सागर का पता लगा और मैगेलन जो दक्षिण अमरीका की ओर से घूम कर उन स्ट्रेट्स में से होता हुआ जो उसके नाम से ही विख्यात है १५१९ में प्रशान्त सागर और फिर वहाँ से पूर्वी द्वीप समूहों तक पहुँच गया,—इन नाविकों के फल स्वरूप स्पेनवासियों को पच्छिम और प्रशान्त सागर के रास्ते पूर्वी समुद्रों तक पहुँचने में सफलता प्राप्त हुई। मैगेलन पहला व्यक्ति था जिसने दुनिया का चक्कर लगाने में सफलता प्राप्त की। उन दिनों सार्वजनिक मामलों में पोप के निर्णयों को सभी राज्य स्वीकार करते थे। अंग्रेजों

पुर्तगीज़ का भारत में आगमन

स्थान और समय दोनों ही दृष्टियों से पुर्तगीज़ों का भारत में आगमन उनके लिए शुभ सिद्ध हुआ। स्थान—मलाबार का तट जहाँ आकर वे उतरे—तुच्छ शासकों के संघर्ष का क्षेत्र बना हुआ था। कालीकट का शासक ज़मोरिन और कोचीन का राजा, दोनों ही इतने कमज़ोर थे कि पुर्तगीज़ों के सशस्त्र जहाजों से लोहा नहीं ले सकते थे। ज़मोरिन सभी मुसलमानों के प्रति बहुत सहनशील था और व्यापारियों को न्याय तथा उपयुक्त संरक्षण प्रदान करने में उसने काफ़ी ख्याति प्राप्त कर ली थी। इसके सिवा इन दोनों शासकों ने पहले तो पुर्तगीज व्यापारियों का स्वागत किया,—जैसा कि उनसे पहले अरब व्यापारियों का स्वागत वे कर चुके थे,—क्योंकि उनकी अधिकांश आय समुद्री व्यापार पर लगे कर से प्राप्त होती थी। इन्डो-युरोपीय व्यापार के लिए मलाबार का तट बहुत ही उपयुक्त था, कारण कि यह एक ओर मसाला उत्पन्न करने वाले सिंहल, मलाका, स्पाइस द्वीप-समूह और दूसरी ओर फारस की खाड़ी, लाल सागर और पूर्वी अफ्रीका के बन्दरगाहों के बीच में स्थित था। कृष्णा और तुङ्गभद्रा के दक्षिणी प्रदेश तक समूचे दक्षिणी भारत और कन्नड़ तट पर स्थित भटकल और होनावर के बन्दरगाहों पर विजय नगर का अधिकार स्थापित था। इसके सिवा विजय नगर के पास इतना अवकाश नहीं था कि मलाबार तट के मामले में हस्तक्षेप करता। पुर्तगीज़ों ने भी आते ही यह समझ लिया उनका हित विजय नगर के साथ शान्तिपूर्ण व्यापार और मित्रता रखने से अधिक सिद्ध होगा। बहमनी सल्तनत उन दिनों शिया और सुन्नियों

ने दीर्घकाल तक स्पेन और पुर्तगाल की समुद्री इजारेदारी में हस्तक्षेप नहीं किया और हेनरी सप्तम के काल से लेकर बाद तक अपनी समूची शक्ति नया जल-मार्ग खोजने में लगाते रहे जो केप आफ गुड होप और मैगेलन के मार्गों से अलग उत्तर-पूर्वी या उत्तर-पश्चिमी दिशा से होकर हिन्द पहुँचता हो। ऐसी स्थिति में पुर्तगीज और स्पेनवासी समूचे एशिया और अमरीका को एक तरह से अपनी बपौती समझते थे और दूसरे राष्ट्रों के नाविकों को, जो जरा भी निकट आने का साहस करता था, डाकू और लुटेरा कह कर सम्बोधित करते थे।

के भीतरी सङ्घर्ष में फँसी थी। साथ ही दक्षिणी तथा देशी अमीरों और शाह की सेवादारी में नियुक्त विदेशी साहसिकों और सैनिकों के बीच निरन्तर द्वन्द्व चलता रहता था। बहमनी सुलतानों की शक्ति बहुत कुछ उत्तर में गुजरात, खानदेश और मालवा के मुसलमान शासकों तथा दक्षिण में विजय नगर के साथ कभी न समाप्त होने वाली युद्धों में खत्म हो चुकी थी। १४८६ में ही बहमनी सलतनत का विघटन शुरू हो गया था और १५२५ तक वह पूर्णता को पहुँच गया और सलतनत अहमद नगर, बीदर, बरार और गोलकुण्डा जैसी छोटी-छोटी चार रियासतों में टुकड़े-टुकड़े होकर रह गई। इन रियासतों को भी मलाबार तट से कोई दिलचस्पी नहीं थी। बीजापुर के शासन में गोआ के निकट का प्रदेश था, किन्तु समुद्री शक्ति न होने तथा विजय नगर के साथ घातक युद्धों में अत्यधिक क्षीण हो जाने के कारण पुर्तगीजों के विरुद्ध वह भी कुछ नहीं कर सका। इसके सिवा पुर्तगीजों ने तिमोजा जैसे बड़े समुद्री डाकुओं को और होनोवर, बाँकापुर और भटकल के बन्दरगाहों के हिन्दू शासकों को अपनी ओर मिला लिया था जो विजय नगर के सामन्ती में थे।

उस काल में उत्तरी भारत की स्थिति

उत्तर भारत में भी दिल्ली का राज्य, लोदी वंश का उन दिनों शासन था, मजबूत नहीं था. और गुजरात, मालवा और बंगाल स्वतन्त्र मुस्लिम राज्य बन गये थे ; मुगल सलतनत का निर्माण पुर्तगीजों के उत्थान के कई पीढ़ी बाद बाबर और अकबर ने किया था। मुगलों की यह सलतनत पुराने हिन्दू-मुस्लिम राज्यों की नींव पर बनी थी। केवल गुजरात की ही एक ऐसी जबर शक्ति थी जिससे पुर्तगीजों को लोहा लेना था, किन्तु वह भी बिना मिश्र और ओटोमन साम्राज्य की बाहरी सहायता के पुर्तगीजों का गम्भीरता के साथ मुकाबला करने में असमर्थ थी। इस प्रकार न तो उत्तर में और न दक्षिण में ही ऐसी कोई शक्ति थी जो पुर्तगीजों के बढ़ाव को प्रभावपूर्ण ढंग से रोक सकती।*

* वास्को द गामा के कालीकट के तट पर उतरने के समय उत्तर और

मालाबार तट के बन्दरगाह

पुर्तगीज सबसे पहले कालीकट में आकर उतरे थे। यह बहुत ही सम्पन्न बन्दरगाह था। जमोरिन सभी राष्ट्रों और जातियों के व्यापारियों के साथ समान व्यवहार करता था और उन्हें किसी प्रकार का असुविधा नहीं होने देता था। सभी यात्रियों ने जमोरिन को सहृदय और न्याय प्रिय शासक के रूप में प्रशंसा की है। उसके उदार हृदय में सभो धर्मों के लिए स्थान था और उसके राज्य में जो आ जाता था उसे वह संरक्षण प्रदान करता था। किन्तु वह कोचीन के राजा का शत्रु था। कोचीन भी महत्वपूर्ण व्यापारिक स्थान था और मलाबार में उत्पन्न होने वाली मिर्च उसी से होकर जाती थी। क्विलोन, क्रङ्गानोर (प्राचीन मुजीरी) और कलानोर जैसे दूसरे बन्दरगाह में भी मिर्च और अदरक का खूब व्यापार होता था।

वास्को द गामा और मूर

भारत आते समय मार्ग में वास्को द गामा का उत्तरी अफ्रीका के बन्दरगाहों में अरबों से सम्पर्क हुआ जो अधिकतर भारत, फारस और अरब के बीच व्यापार करते थे। अरबों को उस पर सन्देह तथा ईर्ष्या हुई और उन्होंने इसकी सूचना मलाबार तट के अरब तथा मोपला व्यापारियों को तुरत भेज दी। कालीकट में वास्को द गामा को उनका खुला विरोध सहना पड़ा। अगर जमोरिन की गारद के सिपाहियों ने रक्षा न की होती तो उसे काफी अपमानित होना पड़ता। जो भी हो, उसकी मसालों की खोज सफल हो गई और पुर्तगाल हिन्द तक पहुँचने वाले समुद्री मार्ग का स्वामी बन गया।

कबराल की यात्रा

पुर्तगीजों का दूसरा बेड़ा १५०० ईसवी में, अलवरेज़ कबराल के कमान में, रवाना हुआ। कालीकट पहुँचने पर कबराल ने मूरों

दक्षिण भारत की पुरानी व्यवस्था ढह रही थी और नयी व्यवस्था का अभी उदय नहीं हुआ था। हण्टर लिखित "हिस्ट्री आफ ब्रिटिश इण्डिया", खंड १, पृष्ठ १६३।

से—मुसलमान व्यापारी मूर कहलाते थे—खुल कर झगड़ा किया और प्रत्युत्तर में उसने बमबारी करके उनके लकड़ी के घरों में आग लगा दी। इसके बाद कबराल जल-मार्ग से कोचीन और कन्नानोर चला गया और इनके शासकों से मित्र भाव स्थापित कर लिया। अब पुर्तगीज और अरब दोनों ने यह अच्छी तरह समझ लिया कि उनका संघर्ष मृत्यु और जीवन का संघर्ष है जिसका फल हिन्द सागर में व्यापार करने के सभी अवसरों को खो देना हो सकता है।

वास्को द गामा की दूसरी यात्रा

१५०२ में वास्को द गामा के कमान में अरब व्यापारियों को नष्ट करने के लिए पुर्तगीजों का एक और बेड़ा तैयार किया गया। इस बेड़े ने अफ्रीकन तट पर स्थित मोजम्बीक और किलवा के शासकों का समर्पण प्राप्त किया, फिर कालीकट पर बमबारी की, कोचीन और कन्नानोर में पहले से ही स्थापित फैक्टरियों को और अधिक सुरक्षित कर लिया और मलाबार तट की रखवाली के लिए कुछ जहाजों का एक स्क्वैड्रन छोड़ दिया। वास्को द गामा अब इस स्थिति में था कि हिन्द के तट और अरब सागर पर पुर्तगीजों का प्रभुत्व जमाने की योजना को आगे बढ़ाए। मुसलमान व्यापारियों का अन्त करने के लिए उसने खुला युद्ध छेड़ दिया। कोचीन का राजा पुर्तगीज़ों का साथी और मुसलमान व्यापारियों का शत्रु था। उसने मुसलमान व्यापारियों के विरुद्ध संघर्ष में भाग लिया और उन्हें किसी तरह भी उभरने न देने के इरादे से वह जमा रहा जब तक कि, १५०३ में, पुर्तगीजों के अगले बेड़े ने आकर उसके बोझ को हलका न कर दिया।

दुआरते पाचेको के कमान में मुट्ठी भर पुर्तगीज़ों ने १५०४ में जिस प्रकार जमोरिन की समूची शक्ति से लोहा लेकर कोचीन की रक्षा की, पुर्तगीजों की सैनिक शक्ति का वह एक अद्भुत कारनामा था। इस संघर्ष में अरबों और भारतीय राजाओं की शक्ति के विरुद्ध पुर्तगीज़ों के तोपखाने ने समुद्री युद्ध में अपनी श्रेष्ठता प्रदर्शित की। इस समुद्री युद्ध में यह भी स्पष्टतः दिखाई दिया कि

वह एक भारतीय शासक को दूसरे के विरुद्ध खड़ा करके अपनी सत्ता को अच्छी तरह बनाए रख सकते हैं और अपनी लघु संख्या के साथ भारतीय सैनिकों को मिलाकर, अपने कमान में, काफी अच्छा अनुशासन स्थापित कर सकते हैं। पुर्तगीज नामक दुआरते पाचेको और लोपो सोरेस ने किलोन, कालीकट और कन्नानोर के शत्रु-बन्दरगाहों को नष्ट तथा फारस की खाड़ी और लाल सागर के मलाबार तट से व्यापार का मार्ग अवरुद्ध कर दिया।

उनकी प्रारम्भिक सफलताएँ—१४९८-१५०५

अब तक (१५०३-५) पुर्तगीजों ने अनेक फैक्टरियाँ खड़ी कर ली थीं, उनको किले बन्दी भी कर ली थी और मलाबार तट पर अरबों के प्रभाव को पूर्णतया नष्ट कर दिया था। लेकिन अभी तक वे व्यवस्थित नहीं हो सके थे, उन्हें कोई ऐसा निश्चित आधार नहीं मिला था जिसे अपनाकर वे आगे बढ़ सकते,—अपनी सत्ता का विस्तार कर सकते। उनकी इधर-उधर बिखरी इक्की-दुक्की फैक्टरियों के लिए बराबर खतरा उत्पन्न हो जाता था। अगर मौसमी हवाओं के कारण जहाजरानी असम्भव हो जाती, या हिन्द सागर में उनका बेड़ा न रहता या दूसरे कामों में फँस जाता। इन कमियों को फ्रान्सिस्को द अलमीदा ने दूर कर दिया और विस्तार की आवश्यक जमीन उसने तैयार कर दी। उसके हाथ में पूरी सत्ता और शक्ति देकर उसे हिन्दुस्तान का वाइसराय नियुक्त कर दिया गया था। वह युद्ध घोषित कर सकता था, संधियाँ कर सकता था, व्यापार का नियमन कर सकता था। संक्षेप में यह केप आफ गुड होप के पूर्व में जहाँ कहीं भी पुर्तगीज झंडा फहराता था, उसका शब्द कानून बन गया था।

फ्रान्सिस्को द अलमीदा (१५०५-९)

अलमीदा पूर्व में पुर्तगीजों का पहला वाइसराय था। उसने अफ्रीकन तट, मलाबार के शेष बन्दरगाहों का दमन जिनमें मूर अभी तक संघर्ष कर रहे थे और पुर्तगीज फैक्टरियों को सघटित करने का निश्चित उद्देश्य अपने सामने रखा था। हिन्द और पूर्वी अफ्रीका समूचे व्यापार को वह केप-मार्ग की ओर मोड़ना चाहता

था जिससे हिन्द सागर के समूचे व्यापार पर पुर्तगाल की इजारे-दारी स्थापित हो जाए। अपने समुद्री बेड़े का उपयोग वह समुद्री व्यापार पर प्रभुत्व स्थापित करने में करना चाहता था। यही उसका उद्देश्य था और अन्य पुर्तगीज नेताओं की भाँति धर्म-प्रचार आदि की आदर्श भावनाएँ उसके मन में नहीं थीं। वह यह भी जानता था कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए तुर्की और मिश्र के शक्तिशाली बेड़े को हटाना आवश्यक है। उसकी सरकार का आधार समुद्री शक्ति थी, स्थल-भाग पर अधिकार करने के लिए वह उत्सुक नहीं था और आवश्यकता से अधिक किले बनाने के पक्ष में भी वह नहीं था। उसकी योजना मुसलमानों को हिन्द सागर से निष्का-सित करने और हिन्द के निर्यात-व्यापार का मार्ग केप की ओर मोड़ने की थी। उसने पूर्व अफ्रीका तट के आधार को प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय कर लिया था। फिर मलाबार के बन्दरगाहों का दमन करने के बाद मुसलमानों के समुद्री प्रभाव को अन्तिम रूप से वह खत्म करना चाहता था।

उसकी उपलब्धियाँ

अलमीदा ने महज ही पूर्वी अफ्रीका के बन्दरगाहों—किलवा, मुम्बासा, और मिलिन्द—पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। उसने होनावर के बन्दरगाह पर भी आक्रमण किया, समुद्री डाकू तिमोजा से मित्रता स्थापित की, कन्नानोर में एक किला बनाया और विजय नगर के राजा से मित्र-भाव स्थापित करने में सफलता प्राप्त की।* उसने अपने पुत्र को सिंहल छान-बीन करने और मलद्विवे के समुद्री मार्ग को, जिस पर अरबों ने अधिकार कर लिया था, अवरुद्ध करने के लिए भेजा जिससे वे मलाबार तट के निकट तक न पहुँच सकें। १५०६ में जमोरिन पर भी उसने अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित कर लिया और इस प्रकार मलाबार के सभी बन्दरगाहों तथा सिंहल पर पुर्तगीजों का एक छत्र अधिकार हो गया।

---

* इस संकटपूर्ण काल में विजय नगर ने इसलाम की आग को दूर कर दिया था,—जैन, वास्कों द गामा एण्ड हिज़ सक्सैसर्स, पृष्ठ ७४।

मिश्री सुलतान के साथ युद्ध

अलमीदा को अभी मिश्र की समुद्री शक्ति से लेना बाकी था। मिश्र का लाल सागर पर अधिकार था। तुर्की से भी उसे निबटना था। फारस की खाड़ी का प्रवेश मार्ग और बसरा पर तुर्की का प्रभुत्व था। १५०५ में पुर्तगाल से अल्फोंजो दि अलबुकर्क के कमान में, पूर्वी अफ्रीका के तट की सम्पर्क-रेखा को सुदृढ़ करने तथा लाल सागर के मुहाने पर स्थित सोकोत्रा पर अधिकार करने और फारस की खाड़ी के प्रवेश-मार्ग को अपने नियन्त्रण में लेने के लिये भेजा गया। अल्फोंजो जिस समय अपने इन उद्देश्यों की पूर्ति में लगा था, अल्मीदा को मिश्र के शक्तिशाली समुद्री बेड़े से लोहा लेना पड़ा जो १५०८ में बढ़ आया था और जिसने पुर्तगीज वाइस-राय के बहादुर पुत्र के कमान से युक्त एक छोटे-से स्क्वैडरन को, बम्बई तट पर चौल के निकट, खदेड़ दिया था। १५०६ में तेजी के साथ अलमीदा उत्तर की ओर बढ़ा ताकि मिश्र, जमोरिन और गुजरात के सुलतान के संयुक्त समुद्री बेड़े से प्रतिशोध ले सके। डियू में लम्बे और गहरे संघर्ष के बाद अलमीदा ने विजय प्राप्त की। इस युद्ध के फलस्वरूप "ईसारयत की एशिया में, समुद्री शक्ति का जहाँ तक सम्बन्ध है, प्रभुत्व स्थापित हो गया और अगली एक शती के लिए हिन्द सागर पुर्तगीज सागर बन गया।"*

अलबुकर्क की गवर्नरी (१५०९ १५)

अलमीदा के बाद अलबुकर्क पूर्व का पुर्तगीज गवर्नर बना (१५०६-१५) और उसके प्रयत्नों का ही यह फल था कि उसने पुर्तगाल को हिन्द में स्थल-शक्ति के स्तर तक पहुँचा दिया। औप-निवेशीकरण और विजयों के सहारे वह पूर्व में एक बड़े राज्य का निर्माण करना चहाता था। अंग्रेजों के आगमन से बहुत पहले ही उसके हृदय में साम्राज्य निर्माण की भावना उठी थी। वह सोचता

* हण्टर, खण्ड १, पृष्ठ ११८। इस विजय ने पुर्तगाल को हिन्द सागर का स्वामी बना दिया, मिश्र को नहीं।

था कि मजबूत समुद्री शक्ति के सहारे सुदूर स्थित पुर्तगाल जैसे देश के लिए हिन्दुस्तान पर अपना राज्य बनाए रखना कठिन नहीं है। अल्मीदा की भाँति समुद्र पर प्रभुत्व तथा दो-चार किले बन्द फैक्टरियाँ खड़ी करके ही उसने सन्तोष नहीं कर लिया। वह पुर्तगीज सत्ता को इतना शक्तिशाली बनाना चाहता था कि जिसका मुकाबला करने का मुसलमान या हिन्दू राजा साहस न कर सकें। इसके लिए वह अपने अस्त्र-शस्त्रों की श्रेष्ठता पर निर्भर करता था और अस्थिर चित्त हिन्दू राजाओं की मित्रता की सन्धियों और आश्वासनों पर नहीं।* वह मुसलमानों की संयुक्त शक्ति से युद्ध करके हिन्द सागर को पुर्तगीज झील के समान बना देना चाहता था। किन्तु उसकी यह महान योजना, बिना योग्य नेतृत्व और कुशल निर्देशन के, पूरी नहीं हो सकती थी। वह गोआ, मलक्का, अदन और उर्मुज पर अधिकार करना चाहता था। गोआ हिन्द में समुद्री अड्डे और उपनिवेश का काम दे सकता था, मलक्का से हिन्द द्वीप के मार्ग का नियन्त्रण किया जा सकता था और अदन तथा उर्मुज, क्रमशः, लाल सागर और फारस की खाड़ी के प्रवेश का कमान करते थे। इन विजयों के द्वारा उसने, पूर्ण रूपेण, मुसलमानों के प्रभाव को खत्म कर हिन्द सागर को ईसाइयों का व्यापार-क्षेत्र बना दिया।

उर्मुज और गोआ की विजय

सबसे पहले तो उसने फारस की खाड़ी और लाल सागर के मुहानों पर अपना अधिकार करके मुसलमानों के व्यापार को, नील

* इस नीति को अमल में लाने के लिए सैनिक महत्त्व के स्थलों में कुछ किलों का होना आवश्यक था जिनमें सैनिक शरण पा सकें और जहाजों को, मरम्मत के लिए, सुरक्षित रूप से लगाया जा सके। इसके सिवा अलबुकर्क के कल्पनाशील मस्तिष्क ने व्यापार और विजय की जो योजना बनाई थी, उसकी पूर्ति में जान और माल की भारी क्षति के लिए तैयारी करने की आवश्यकता थी। इसकी पूर्ति के लिए उपनिवेशों को वह अपना 'खाद्य' बनाना चाहता था और फैक्टरियाँ खड़ी करना चाहता था।—ह्वाइटवे, राइज आफ पुर्तगीज पावर इन इण्डिया, पृष्ठ १७०।

और गुफ़ात की वादियों में हो जो उनके व्यापारिक अड्डे थे, काट दिया। १५१५ में उसने उर्मुज पर अधिकार कर वहाँ अपना एक किला बनवाया। अदन को अवरुद्ध कर वह जेद्दाह तक घुस गया जो मक्का का बन्दरगाह था और अबीसीनिया के ईसाई शाह को उसने दक्षिण में मिश्र पर आक्रमण करने के लिए उत्साहित किया।

इसके बाद उसने मुस्लिम व्यापार को मलाबार बन्दरगाहों से बाहर करने का प्रयत्न किया। १५१० में उसने बीजापुर के मुसलमान राज से गोआ को छीन लिया और इसके दो वर्ष बाद शत्रुओं को यहाँ से निष्कासित कर दिया। कालीकट के बाद पश्चिमी भारत में गोआ मुसलमानों का प्रमुख बन्दरगाह था। यह मलाबार और गुजरात के तट के बीच में स्थित था—और इसकी स्थिति ऐसी थी कि यह एक ऐसे द्वीप पर बना हुआ था कि दो जहाज़ गामी योग्य नदियाँ इसे मुख्य भूमि से अलग करती थीं। इन नदियों को सम्बन्धित करने वाली तंग खाड़ी एक अच्छा रक्षा-पंक्ति बन गई थी। कैम्बे की खाड़ी से लेकर कन्या कुमारी तक पश्चिमी हिन्द की समूची तट-पंक्ति पर गोआ का रोब छाया था।* इस पर विजय पाने से पुर्तगीज़ों का हिन्दुस्तान के दक्षिण-पश्चिमी तट पर समुद्री प्रभुत्व स्थापित हो गया, साथ ही इसके स्थल-राज्य की भी ज़मीन तैयार हो गई, क्योंकि मुसलमानों के बार-बार होने वाले आक्रमणों से इसकी रक्षा करने के लिए गहरी किले बन्दी और रक्षा-प्रबन्धों का उपाय करना ज़रूरी था।

मलक्का पर आधिपत्य (१५११)

उर्मुज के बाद उसने सुदूर पूर्व में मुसलमानों के व्यापार को नष्ट करने का प्रयत्न किया। इसके लिए उसका ध्यान मलक्का और स्पाइस द्वीप समूह की ओर गया। १५११ में उसने मलक्का के महत्वपूर्ण बन्दरगाह पर अधिकार कर लिया और वहाँ पर एक किला बना कर उसे मलाया प्रायद्वीप और आर्कीपैलेगो

* मोर्स स्टीफेन्स, अलबुकर्क (रूलर्स आफ इण्डिया), पृष्ठ ७२।

पर पुर्तगीज प्रभुत्व का केन्द्र बना दिया। इस प्रकार उसने फारस की खाड़ी और लाल सागर के मुहानों पर आधिपत्य करके तुर्की और मिश्र के समुद्री व्यापार के फाटकों को बन्द कर दिया। गोआ से वह पश्चिमी भारत के सभी बन्दरगाहों का नियन्त्रण करता था, मलक्का से वह मसालों के व्यापार के स्रोत आर्कीपेलेगो—जो पूर्व में मुसलमानों के व्यापार और सम्पन्नता का आधार था—का नियन्त्रण करता था। यह सब उपलब्धियाँ उसने समुद्री संघर्षों के कुशल निर्देशन तथा कूटनीति से प्राप्त की थीं। मलक्का पर विजय प्राप्त करने के बाद उसने स्याम तक से अपने सम्बन्ध स्थापित किये और मोलुक्का की छान-बीन करने के लिए अपने जहाज भी भेजे।

अल्बुकर्क की उपलब्धियाँ

अलबुकर्क ने इस प्रकार अल्मीदा की योजना को विस्तृत कर कार्यान्वित किया। उसने पुर्तगीज शक्ति को हिन्द में स्थल-सत्ता के स्तर पर पहुँचा दिया। मुजम्बीक से लेकर मलक्का तक सभी महत्व पूर्ण सैनिक के स्थलों पर उसका अधिकार हो गया था। ये स्थल किलों और जहाजों की मरम्मत करने के अड्डों और रक्षा-स्थलों का काम देते थे। इनके अलावा अलबुकर्क ने अनेक फैक्टरियाँ भी खड़ी कीं और पुर्तगीज प्रवासियों को हिन्दुस्तानी स्त्रियों से विवाह सम्बन्ध स्थापित कर उनके साथ घुलने-मिलने की प्रेरणा प्रदान की। उसका कहना था कि पुर्तगीजों को विदेशी सैनिक न बने रह कर उपनिवेश का वासी बन जाना चाहिए। उसने पुर्तगीजों को पूर्व में स्थल-विस्तार की नीति पर आगे बढ़ने की प्रेरणा की, क्योंकि उसने ही यह सबसे पहले अनुभव किया कि युरोप से एक बेड़ा लाकर हिन्दुस्तान के व्यापार और समुद्री मार्गों पर स्थायी रूप से अधिकार नहीं रखा जा सकता। युरोप से व्यापार को उसने पुर्तगाल की शाही इजारेदारी में परिवर्तित कर दिया। किले बन्द फैक्टरियों से शाही जहाजों में माल लदता था। स्थानीय व्यापार को उसने हिन्दुस्तानियों के लिए छोड़ दिया था। भारतीय राजाओं

के झगड़ों से उसने पूरा लाभ उठाया और विजय नगर के प्रति तटस्थता पूर्ण मित्रता का भाव बनाए रखा। उसने हिन्दुस्तानियों को अपनी संस्थाएँ और सङ्गठन बनाने दिए। वह उनके प्रति न्यायोचित व्यवहार रखने का प्रयत्न करता था, बावजूद इसके कि युद्धकाल में क्रूरता-प्रदर्शन में वह किसी से पीछे नहीं रहा था। अल-कबुर्क महान् कहलाने का पूरा अधिकारी था क्योंकि वह एक बहादुर सैनिक, योग्य शासक और अपने उद्देश्यों तथा कृत्यों में सर्वथा स्वार्थ की भावना से मुक्त था। पुर्तगीजों के प्रभुत्व को इस प्रकार स्थापित करने के बाद उसने शान्ति और व्यापार की ओर कदम बढ़ाया, विजय नगर के प्रति मित्र-भाव रखने का प्रयत्न किया और बीजापुर तक से अच्छे सम्बन्ध बनाने की उसने कोशिश की। अपने इलाके में सभी लोगों और जातियों के साथ उसने न्यायोचित व्यवहार रखने की कोशिश की। इस प्रकार उसने अलमीदा की विशुद्ध रूप से समुद्र तक सीमित योजना का विस्तार तथा विकास किया। इस काम में तट पर स्थित कुछ किलों से उसे अच्छी मदद मिली। समुद्र पर पुर्तगीज स्वामित्व रखने का उसका आधार "तट पर स्थित बन्दरगाहों की श्रृङ्खला थी। इन अड्डों से वह चुङ्गी और कर के साथ-साथ रसद भी प्राप्त करता ...।"

पुर्तगीजों की परवर्ती सफलताएँ

अलबुकर्क के तुरत बाद जो उत्तराधिकारी हुआ। उसने अदन पर अधिकार करने का प्रयत्न किया, पर सफलता नहीं मिली। वह सिंहल गया और वहाँ उसने, कोलम्बो के निकट, किला बनवाया। नूनो-द्-कुन्हा ने, १५२९ से १५३८ तक जो वाइसराय रहा, अफ्रीकन तट पर स्थित मुम्बासा पर अधिकार किया और मद्रास के निकट सातथोम में तथा बंगाल में हुगली में पुर्तगीज बस्तियाँ स्थापित कर उसने बङ्गाल की खाड़ी में अपने व्यापार को विकसित किया। १५३८ में काठियाड़ में डियू के निकट भी उसने एक किले का निर्माण किया जहाँ से पुर्तगीज हिन्दुस्तान और तुर्की

---

* मोर्स स्टीफेन्स द्वारा उदधृत अलबुकर्क का अभिमत, पृष्ठ १४४।

के विरोध तथा हमलों का सफलतापूर्वक मुकाबला किया जा सकता था। १५३८ में तुर्की और गुजरात के संयुक्त आक्रमण को जिसमें डियू को जल और स्थल दोनों ओर से घेर लिया गया था, डियू से विफल कर दिया गया। इसी प्रकार दस वर्ष बाद गुजरात का एक अन्य आक्रमण भी विफल कर दिया गया। जोआदकैस्ट्रो ने (१५४५ से ४८ तक वाइसराय) जो कि अन्तिम पुर्तगीज हीरो माना जाता है, गोआ पर बीजापुर के एक आक्रमण को विफल करने में सफलता प्राप्त की और गुजरात के विरुद्ध डियू में उसकी उपर्युक्त विजय एशिया में पुर्तगीज शस्त्रों की अन्तिम बड़ी सफलता मानी जाती है। जोआदकैस्ट्रो के बाद जो वाइसराय हुए उन्होंने व्यापार को व्यवस्थित करने में ही योग दिया और कोई अन्य बड़ी खोज उन्होंने नहीं की, न विजय की किसी योजना को कार्यान्वित किया, एशिया में मुसलमानों के अन्य किसी व्यापारिक केन्द्र पर अधिकार की ओर भी वे आगे नहीं बढ़े।

पुर्तगीज साम्राज्य का संघटन

अपने सबसे अच्छे दिनों में पुर्तगीजों का अधिकार क्षेत्र पश्चिम से पूर्व की ओर मुम्बास के निकट अफ्रीकन तट एवं मुजम्बी से मुलक्का और उत्तर से दक्षिण की ओर केप आफ गुडहोप से फारस की खाड़ी के शिरोभाग और डियू तक फैला था। इसकी सीमा और दिशा का मार्ग जिगजैग (वक्र) रेखा के रूप नेटाल से मुजम्बीक तक और वहाँ से सोकोत्रा और उर्मुज तक और इसके बाद डियू, कन्या कुमारी और सिंहल तक चला गया था। सिंहल से दक्षिण पूर्व की ओर मलक्का, जावा और स्पाइस द्वीपों तक यह पहुँचता था। कोरोमण्डल तट और बंगाल में इसकी जड़ें कभी नहीं जम सकीं। इन प्रदेशों में पुर्तगीजों की स्थिति व्यापारियों और यात्रियों से आगे नहीं बढ़ सकी।

१५७१ में पुर्तगीज तीन स्वतन्त्र भागों में बाँट दिया गया,— एक मुजम्बीक की गवर्नरी जिसके अन्तर्गत अफ्रीका तट था;

इस सम्बन्ध में एफ० सी० डैनवर कृत 'दि पुर्तगीज इन इण्डिया', खंड १, पृष्ठ ३२८-३३१ भी देखिए।

दूसरा गोआ के वाइसराय का अधिकार क्षेत्र जिसके नियन्त्रण में हिन्दुस्तान और फारस का क्षेत्र था; तीसरी मलक्का की गवर्नरी जो अर्कीपेलेगो के व्यापार पर अपना अनुशासन और नियन्त्रण रखती थी। पुर्तगीज लाल सागर पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में कभी सफल नहीं हो सके और अदन उनके अधिकार-क्षेत्र में नहीं आ सका। अन्य सब जगह उनका राजनीतिक और व्यापारिक प्रभुत्व स्थापित हो गया था।* पुर्तगीजों ने हिन्द सागर में ईसाई शक्ति का तुर्कों के विरुद्ध सिक्का जमाया और उन्हें मध्य सागर से हट कर लाल सागर की शरण लेने के लिए बाध्य कर दिया।

[३]

पुर्तगीजों की नीति और उनका ह्रास

पुर्तगीजों की कार्य-प्रणाली एवं नीति

यह इच्छा तो आलफुकर्क की भी नहीं थी कि पुर्तगीज उन और द्वीपों का जो उनके व्यापार के केन्द्र थे, स्वयं सीधे नियन्त्रण और शासन करें। वे समुद्र पर प्रभुत्व रखना चाहते थे और इसके लिए तटवर्ती सैनिक प्रबन्ध के स्थलों के उनके अधिकार में रहना आवश्यक था, जिनसे वे रसद और मालगुजारी वसूल कर सकें। पुर्तगीजों का प्रमुख उद्देश्य इण्डो-युरोपीय व्यापार की इजारेदारी प्राप्त करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति वे कुछ तो अपने अस्त्र-शस्त्रों के बल पर कुछ देशी राजाओं से मेल-मिलाप और संधियाँ करके करना चाहते थे। स्थल-भागों पर आधिपत्य करना वे नहीं चाहते थे क्योंकि व्यापारिक दृष्टि से यह उनके लिए व्यर्थ था। जो प्रदेश उनके नियन्त्रण में थे, उनसे वे अपने प्रभुत्व की स्वीकृति, वार्षिक नजराना तथा फैक्टरी और किलेबन्दी के लिए उपयुक्त स्थान चाहते थे। अपने जहाजों और व्यापारिक माल को भी, निस्सन्देह, बिना किसी कर या चुङ्गी के ले आना और ले जाना चाहते थे। सभी

* १६वीं शती के अन्त में पुर्तगीज साम्राज्य की स्थिति का वर्णन समकालीन फारिया वाई सौसा ने किया है जिसे जे० डी० द ओर्से ने अपने ग्रन्थ "पुर्तगीज डिस्कवरीज" के भाग १ परिच्छेद ४ में उद्धृत किया है।

हिन्दुस्तानी ईसाइयों की स्वतन्त्रता को वे स्वीकार करते थे और उसकी रक्षा करते थे। समुद्री क्षेत्र में अपने सभी प्रतिद्वन्द्वियों के प्रति वे बहुत कटु और ईर्ष्यालु थे। अपने बेड़े की शक्ति के सहारे उन्हें अपने शत्रु पर आक्रमण करने के लिए उपयुक्त स्थल और समय चुनने में कठिनाई नहीं होती थी। अंग्रेज और डचों के आगमन से पहले हिन्दसागर में और कोई कारगार समद्री शक्ति नहीं थी। प्रायः प्रारम्भ से ही उन्होंने हिन्दुस्तानी सैनिकों को अपनी सेवादारी में रखा, उन्हें अपनी प्रणाली से अनुशासन सिखाया। इन हिन्दुस्तानी सैनिकों से उन्होंने अपने पुर्तगीज़ सैनिकों और नाविकों की कमी पूरी की। इस प्रकार हिन्दुस्तानी सेनाएँ न केवल हिन्दुस्तान में ही बल्कि सुदूर समुद्री आक्रमणों में भी पुर्तगीज शक्ति का अङ्ग बन कर काम करती थी। पुर्तगीज बस्तियों में दासों की आबादी तेजी से बढ़ने लगी। ये दास या तो युद्ध में पकड़े हुए होते थे, या खरीदे हुए। इनमें से अधिकांश सैनिक सेवादारी में रख लिए गए थे। शीघ्र ही पुर्तगीज़ सैनिक और उनके दोगले उत्तराधिकारी वंशज—गिर कर किराये पर उठने वाले सैनिकों की भीड़ में परिवर्तित हो गए। हिन्दुस्तानी राजाओं में से कोई भी उन्हें खरीद कर अपने यहाँ रख सकता था और किसी के भी हाथ बिकने के लिए वे तैयार रहते थे। पुर्तगीज उन राज्यों के भीतरी मामलों में भी जो उनके प्रभुत्व में हस्तक्षेप करते थे और राजसी षड्यन्त्रों में भी भाग लेते थे। अपनी बढ़ती और महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए हर चीज को ऊपर चढ़ने की सीढ़ी वे बनाना चाहते थे;—बनाने की कोशिश करते थे।

उनकी व्यापार-प्रणाली

एशियाई साम्राज्य को बनाए रखने का बोझ इतना भारी था कि उसे सँभालना पुर्तगीजों के बूते से बाहर था। उनके व्यापार के तरीके बहुधा लूट में परिवर्तित हो जाते थे। साधारण व्यापार से लेकर लूट के माल तक से वे अपने जेबें भरते थे। युरोप से समूचा आयात-व्यापार उनके हाथ में था और उसके लाभ का वे उपभोग करते थे। मलाबार तट पर बन्दरगाहों के बीच होने वाले व्यापार

पर भी उनका आधिपत्य था। हिन्दुस्तान का फारस की खाड़ी और साथ ही मलक्का से होने वाला व्यापार भी उनके हाथ में था। इस समूचे व्यापार पर पुर्तगाल के शाह ने अपनी इजारेदारी स्थापित कर ली थी। किन्तु पुर्तगीज अधिकारी अपना निजी व्यापार भी करते थे और धांधली तथा धोखाधड़ी का सहारा लेने से भी बाज नहीं आते थे। इनके निजी व्यापार से शाह के लाभ में कमी आती थी। पुर्तगीज अपनी हिन्दुस्तानी रियाया तथा शत्रुओं के साथ अत्यधिक क्रूर व्यवहार करते थे और कभी-कभी पूरी बर्बरता पर उतर आते थे। इससे असन्तोष उत्पन्न हुआ और इस असन्तोष ने अन्ततः पुर्तगीजों के शत्रु डच और अंग्रेजों के हाथ मजबूत कर दिये,—पुर्तगीजों के विरुद्ध उन्हें हिन्दुस्तानी साथी मिल गए। प्रायः सभी हिन्दुस्तानी राज्यों को पुर्तगीजों ने अपना विरोधी बना लिया था। उनके षड्यंत्रों ने उनके प्रति सभी के हृदय में सन्देह और अविश्वास के बीज बो दिए थे। अपने व्यवहार को सीधा और साफ रखना, ईमान्दारी बरतना, वे नहीं जानते थे। वे सभी गैर-ईसाइयों को धर्मद्रोही समझते थे—हिन्दुओं को भी, मुसलमानों को भी, और दूसरे लोगों को भी।

जेहादी उत्साह और मुसलमानों के प्रति शत्रुता की भावना से प्रेरित और अनुप्राणित होकर,—जैसा हम पहले वर्णन कर चुके हैं,—पुर्तगीज आगे बढ़े, उन्होंने साहस पूर्ण यात्राएँ कीं, अपने प्रभुत्व का विस्तार किया और शीघ्र ही अबुद्धि पूर्ण धर्मांधता में फँस कर समूची एशियाई जनता को ईसाई बनाने का सपना वे देखने लगे,—भले ही इस शुभ काय में उन्हें तलवार का प्रयोग करना पड़े। ईसाई धर्म का प्रचार और प्रसार उनका प्रमुख कर्तव्य हो गया और इसी की पूर्ति में वे अपनी अधिकांश शक्ति खर्च करने लगे। पोप ने अपनी विशेष घोषणा-द्वारा पुर्तगीजों का यह कर्तव्य निर्धारित कर दिया कि वे अपने सभी नव विजित प्रदेशों में ईसाइयत का—कैथोलिक धर्म का प्रचार करें। परिणामतः विभिन्न दर्जों के पादरी और धर्म प्रचारक भी पुर्तगीज बेड़ों के साथ आने लगे।

उनकी धार्मिक मदांधता और दमन

कालान्तर में पुर्तगीज धर्म-प्रचारकों और पादरियों की संख्या

पुर्तगीजों और हिन्दुस्तानी ईसाइयों की आबादी के अनुपात से बहुत बढ़ गई। मालगुजारी का काफी बड़ा अंश वे खा जाते थे,—उन पर खर्च हो जाता था। इसका प्रभाव फैक्टरियों और सैनिक संघटन पर पड़ा। अलबुकर्क के पूर्व ही पुर्तगीज धर्म प्रचारक और ईसाई साधु कतिपय संख्या में भारतवर्ष आ चुके थे। १५४० के बाद तो ऐसा मालूम होता था मानो पुर्तगीज सरकार पर उन्हीं का आधिपत्य हो। सभी कोट और छोंके पादरी—डोमीनिकन्स, फ्रान्सिस्कन और जैसूट—हर जगह छापे दिखाई देते थे। धर्मद्रोहियों के लिए उन्होंने हिन्दुस्तान में दण्डालयों का निर्माण किया। गोआ, कोचीन और मलक्का में बिशप घर खुल गए। गोआ आर्क बिशप का हेडक्वार्टर बना। पादरियों के केन्द्र चीन और जापान तक में खोल दिए गए। गोआ में धार्मिक खुफिया का दफ्तर—इनक्वीजीशन—१५६० में शुरू हुआ और इसने धर्मद्रोहियों को पकड़-पकड़ कर जलाना तथा दण्ड देना शुरू कर दिया। अपने सम्प्रदाय से भिन्न प्राचीन और शान्तिपूर्ण सीरियन ईसाइयों को जो मलाबार के तट पर बसते थे और दूसरे 'अविश्वासियों' (काफिरों) को इन्होंने अपनी धर्मान्धता का शिकार बनाया। पुर्तगाल और स्पेन के संयुक्तीकरण के बाद ईसाई बनाने का जोश और भी दुगुना हो गया। स्पेन ने इस मदांधता को और भी तेज कर असह्य बना दिया। १५९९ में दाइम्पर (उद्यमपुर) में एक 'साइनोद' ने मलाबार के सीरियन ईसाइयों और उनके सम्प्रदाय का पूर्णतया नाश करने का निश्चय किया। इस कट्टर नीति का मुख्य परिणाम यह हुआ कि जितने भी गैर-ईसाई थे सब अन्याय और अत्याचार के ही अधिकारी रह गए और गोआ तथा दूसरे नगर आबादी शून्य होने लगे। तलवार की नोक पर चलने वाले धर्म-परिवर्तन से आतंकित होकर वे दूसरी जगह पलायन करने लगे। कितनों ने लाठी और घूँसे के जोर से कैथोलिक धर्म को स्वीकार भी कर लिया।

सन्त फ्रान्सिस एक्सेवियर

सन्त फ्रान्सिस एक्सेवियर ने पुर्तगीज हिन्दुस्तानी चर्च का संघटन किया था। वह इण्डीज का महात्मा कहलाता था। १५४२

में वह गोआ आया था। ईसाई बनाने की प्रणाली को उसने व्यवस्थित तथा सङ्गठित किया था। व्यापारियों और अधिकारियों के भ्रष्टाचार को वह निन्दा करता था और निरन्तर उपदेश देता रहता था। कोरोमण्डल तट पर कन्याकुमारी और आदम के पुल के बीच बसने वाले पारव जाति के लोगों और मलाबार तट के मुक्कुवा जाति के लोगों को उसने ईसाई बना डाला था। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने मलक्का और जापान की भी यात्रा की थी। १५५२ में अपनी मृत्यु से पहले तक वह बड़ी संख्या में हिन्दुस्तानियों को ईसाई बना चुका था। हिन्दू धर्म के तथ्य को समझने की उसमें क्षमता नहीं थी और निम्न वर्ग के लोगों को ही वह ईसाई बना सका था, लेकिन चर्च का वह बहुत बड़ा भक्त था और वह एक ऐसा सन्त था जो अपने सम्पर्क में आने वाले लोगों के हृदयों को खींचता था। उसका आचरण पवित्र और अपनी लगन का वह पक्का था। उसकी बुद्धि गहरे में पैठ कर काम करती थी।* दस वर्षों में, कहा जाता है कि उसने सात लाख लोगों का धर्म-परिवर्तन कर उन्हें ईसाई बनाया। उसका व्यक्तित्व, जैसा ईसाइयों के वर्णनों से पता चलता है, मानवीय से कहीं, अधिक बड़ा था,—वह एक बड़े चर्च-भक्त और सन्त से भी महान् था।

हलकी कमर पर भारी बोझ

पुर्तगीजों की जाति और उनका राष्ट्र इतना छोटा था कि वह एशियाई साम्राज्य और व्यापारिक प्रभुत्व के बोझ को अधिक दिनों तक नहीं सम्भाल सकता था। न तो पुर्तगीज मुसलमानों के विरोध और युरोपीयों की प्रतिद्वन्द्विता का अधिक दिनों तक सामना कर सकते थे। आदमियों की कमी के कारण केप आफ गुड होप से लेकर मलक्का तक अपने स्टेशनों की लम्बी पंक्ति की रक्षा करने योग्य सेना वे नहीं रख सकते थे। दक्षिणी अतलान्तक और हिन्द सागर में व्यापारिक मार्गों पर अपनी इजारेदारी को बनाए रखना

* जे० डी० द ओर से—'पुर्तगीज डिसकवरीज, डिपेण्डेन्सीज एण्ड मिशन्स इन एशिया एण्ड अफ्रीका', परिच्छेद ६, पुस्तक दो।

भी उनके वश से बाहर की बात थी। युद्ध, समुद्री दुर्घटना, हैजा तथा अन्य रोगों ने पुर्तगीज सैनिकों और नाविकों की संख्या काफी कम कर दी थी। १५२५ तक में यह स्थिति हो गई थी कि विशुद्ध पुर्तगीजों के सहारे वे अपने बेड़े और सेना को खड़ा नहीं कर सकते थे। उनके लिए यह अनिवार्य हो गया, और अलबुकर्क ने इसे अनुभव भी किया कि बिना निम्न श्रेणी के हिन्दुस्तानी लोगों को भर्ती किए उनका काम नहीं चल सकता। आदमियों की इतनी कमी थी कि उन्होंने पक्के अपराधियों तथा कम उम्र लड़कों तक को भर्ती करना शुरू कर दिया। फिर अफ्रीकियों और हिन्दुस्तानियों से उनके अन्तर्विकार ने उनके राष्ट्रीय व्यक्तित्व और चरित्र, उनकी शारीरिक बनावट और शक्ति को भी प्रभावित किया जिससे उनकी प्रतिष्ठा और तेज में काफी कमी आ गई।

उनकी शासन-प्रणाली के दोष

हिन्दुस्तान में पुर्तगीज़ों के शासन में कोई क्रमिकता और स्थिरता नहीं थी। जो नया गवर्नर या वाइसराय आता था वह अपने पूर्वाधिकारी की शासन-प्रणाली को रद्द कर अपने मनोनीत अधिकारियों को रखता था। अधिक पैसा देने वाले को पद मिल जाते थे और इनमें से अधिकांश की पदाधिकारिता तीन वर्ष से अधिक नहीं चलती थी। इतने थोड़े समय में न तो ये शासन की पेचीदगियों से परिचित हो पाते थे, न जनता से ही सम्पर्क स्थापित कर पाते थे। ऊँचे पदाधिकारी घूस और नाजायज निजी व्यापार से खूब अपनी जेबें भरते थे। सैनिकों को नियमित रूप से वेतन नहीं मिलता था। उनका वेतन बराबर चढ़ा रहता था और उनमें से कितने ही बाकायदा चोर और डाकू बन गए थे। मुद्राओं में—सिक्कों में—खोट मिला दिया गया था और पदाधिकारी जिनका वेतन समुचित और पर्याप्त नहीं होता था, प्रभावशाली और बड़े अधिकारियों के सगे-सम्बन्धियों में से भरे जाते थे। पदों की संख्या काफी बड़ी थी और बिना श्रम किये वेतन मारने के अवसरों का अनुपात काफी बढ़ा-चढ़ा था। पुर्तगीजों के नैतिक पतन

और भ्रष्टाचार के अलावा उनमें एक बुनियादी दोष यह था कि उनकी आबादी और संख्या कम थी, उनका शासन सर्वथा निराशा-जनक और उनकी अर्थ-नीति, लूट-नीति बन गई थी। देशी लोगों के साथ उनका व्यवहार अच्छा नहीं था। उनके बाद में आने वाले सभी वाइसराय प्रायः अयोग्य होते थे। वे पहले के अधिकारियों की प्रतिष्ठा को कायम नहीं रख सके। बंगाल की खाड़ी पुर्तगीज समुद्री लुटेरों से भर गई थी। उनके कृत्यों से फिरंगी ईसाई का नाम आतंक का सूचक बन गया था।

उनकी निष्फल व्यापारिकता

यद्यपि पूर्व का समूचा व्यापार उनके हाथों में था, लाभ का अधिकांश युरोपीय बाजारों में चला जाता था जिनमें माल वितरित होकर बिकता था। पुर्तगीजों को अपने व्यापार से सोना और चांदी मिलता था जो कुछ लोगों के पास जमा हो गया था और वह शाह तथा अन्य कुलीनों द्वारा युद्ध और व्यसनों में खर्च होता था। तथापि पुर्तगाल जनशून्य होता गया और बदले में सोना मिला जिससे आबादी की कमी की पूर्ति नहीं हो सकती थी। अपने को—देश को—जनशून्य करके पुर्तगाल शाह और अमीरों ने बंजर घर सोना बटोरा था।

१५९५ से उनकी सत्ता का निश्चित ह्रास

१५६५ तक हिन्द सागर पर पुर्तगीजों के प्रभुत्व और इजारेदारी में कोई दरार नहीं पड़ी। स्पेन के साथ अपना भाग्य नत्थी करने के बाद पन्द्रह वर्ष तक उनकी इजारेदारी अखंडित रही, किन्तु उनकी सत्ता के ह्रास के चिन्ह प्रकट होने लगे थे। लुईद अथाइदे के बाद जो १५६८-७१ तक और १५७८-८१ तक वाइसराय रहा और जिसने बीजापुर, कालीकट और आचीन के संयुक्त आक्रमण को गोआ से विफल कर दिया था,—उसके बाद से पुर्तगीजों की सत्ता का पतन शुरू हो गया था। स्पेन से गठबन्धन करने का नतीजा यह हुआ कि पूर्व में पुर्तगीजों के हितों की उपेक्षा होने लगी और पुर्तगाल उन महँगे और घातक युद्धों में फँस गया जो फिलिप द्वितीय ने हालैंड और इंगलैण्ड की प्रोटेस्टेण्ट शक्तियों से छेड़ दिए

थे। हालैंड और इंगलैंड ने फिलिप द्वितीय की प्रतिरोध शक्ति से झल्ला कर पुर्तगाल और स्पेन की समुद्री मार्गों की इजारेदारी को मानने से इन्कार कर दिया और उनके व्यापार पर खुले रूप से हाथ साफ करने लगे। स्पेन की इजारेदारी की उपेक्षा कर ड्रेक ने समुद्री यात्रा द्वारा दुनिया का चक्कर लगाया। १५८८ में उसके भारी जंगी जहाज को मात खानी पड़ी। इसके तीन वर्ष बाद कप्तान लैंकस्टर ने पुर्तगीजों की इजारेदारी को अलग रख केप आफ गुड होप का चक्कर लगा कर कन्या कुमारी और मलाया प्रायद्वीप की यात्रा की। युरोपीय स्थिति के विकट हो जाने के कारण पुर्तगीजों ने, १५८० से १६४२ तक, बहुत ही कम जहाज पूर्व की ओर भेजे। इससे उनके व्यापार में बहुत कमी आ गई। १५९६ में स्पेन का दिवाला निकल गया जिसके फलस्वरूप पुर्तगाल को भी क्षति उठानी पड़ी। अन्ततोगत्व १६४० में जब पुर्तगाल को अपने पाँव पर स्वतंत्र रूप से खड़े होने का अवसर मिला, तब तक एशियाई सागर में उनका प्रभुत्व नष्ट हो चुका था।

डचों की पूर्व में विजय

१५७५-६ तक मोलुक्का में पुर्तगीजों की शक्ति ढीली पड़ने लगी थी। इसके कुछ वर्ष बाद सिंहल विद्रोह कर उनसे अलग हो गया। १५९५ में डचों ने केप आफ गुड होप तक आने में सफलता प्राप्त करली और इसके कुछ वर्ष बाद सुमात्रा में बैन्टम में पुर्तगीजों को पराजित कर उन्होंने सुमात्रा और जावा के बीच स्थित सुन्दा द्वीप और मोलुक्का तथा स्पाइस द्वीपों के समुद्री मार्गों पर अपना अधिकार कर लिया। इसके शीघ्र बाद ही, तेज गति से, डच जावा के स्वामी हो गए, सिंहल द्वीप से उन्होंने पुर्तगीजों को अन्तिम रूप से निकाल बाहर किया (१६३८-५८), मलक्का के बड़े बन्दरगाह पर अधिकार कर लिया और मलक्का के जल मार्गों को डचों के जलमार्गों में परिवर्तित कर दिया। १६५१ में केप आफ गुड होप पर अधिकार करने के फलस्वरूप हिन्दुस्तान के जल-मार्ग पर स्थित अन्तिम महत्व पूर्ण स्थल पुर्तगीजों के हाथ से निकल गया।

अंग्रेजों की विजय

पुर्तगीज सत्ता और प्रभुत्व को नष्ट करने में अंग्रेजों ने डचों का पूरी तत्परता के साथ योग दिया। १६११ में कैम्बे से दूर उन्होंने एक पुर्तगीज बेड़े को पराजित किया। इसके चार वर्ष बाद उन्होंने पुर्तगीजों पर स्मरणीय विजय प्राप्त की और उन्हें सूरत-सेड्स में स्थित स्वाली में पराजित किया। १६१६ में उन्होंने कालीकट के जमोरिन से सीधा व्यापारिक सम्बंध स्थापित कर लिया। फारस की खाड़ी से भी उन्होंने व्यापार शुरू किया, १६२२ में पुर्तगीजों से छीन कर उर्मुज पर अधिकार कर लिया और इस प्रकार, इस इलाके में, उनके प्रभाव को पूर्णतया नष्ट कर दिया। १६५४ की संधि में पुर्तगीजों को अपनी स्थिति की अनिवार्यता को स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ा कि अंग्रेजों को उनके सभी पूर्वी इलाकों में रहने तथा व्यापार करने का अधिकार है।

हुगली का विनाश

बंगाल की खाड़ी में भी पुर्तगीजों की बुरी दशा हुई। सैन थोम को अनेक कडुवे घूँट पीने पड़े। हुगली में उनका सारा तापक्रम सम्राट शाहजहाँ के आदेश से १६२९ में नष्ट कर दिया गया। चटगाँव के पुर्तगीज समुद्री डाकुओं को, जो दीर्घ काल से बंगाल के बन्दरगाह और अराकान को अपनी लूट का क्षेत्र बनाए हुए थे, बंगाल के मुगल वाइसराय ने १६२५ के लगभग बिलकुल साफ कर दिया। १६७० के लगभग डियू के भारी किले को मुस्काट के अरबों ने लूट लिया। इसके साथ-साथ बम्बई तट के इलाके में मराठों और मुगलों की बढ़ती हुई शक्ति पुर्तगीजों के लिए बाधक बन गई थी।

परिणाम

गोआ जो अब, डियू और दमन के साथ, पुर्तगीजों के हिन्दुस्तानी प्रभुत्व का प्रतीक रह गया था, शान्दार अतीत की दुःखद याद दिलाता था।* पुराना गोआ दौराद (स्वर्णिम गोआ)

* जे० एन० दा फोनेस्का लिखित 'एन हिस्टोरिकल एण्ड आर्केलियाजीकल स्कैच आफ दि सिटी आफ" (१८७८) के भाग दो, परिच्छेद पाँच में इसका वर्णन मिलता है।

जिसकी शान के गीत पुर्तगीज कवि कैमोएन्स ने अपने महाकाव्य 'लुसियाद' में गाए थे और युरोप तथा एशिया में अपनी जाति की उपलब्धियों का बखान किया था, अब वह गोआ नहीं रहा था। कैमोएन्स ने गोआ तथा पूर्व में कुछ वर्ष बिताए थे। उसके मित्रों में एक गार्सिया द ओर्ता था, जो बनस्पति-विज्ञान का जानकार तथा ख्याति-प्राप्त चिकित्सक था। अपने काव्य में कैमोएन्स ने पुर्तगीजों के इतिहास का परिचय देते हुए उनकी प्रथम भारत-यात्रा का वर्णन किया है और पुर्तगीजों के साहस का बखान करने वाली किसी भी घटना या नाटकीय प्रसंग को उसने नहीं छोड़ा है। पूरा काव्य साहसी कृत्य करने वाले नायकों से भरा हुआ है, जिनके बीच में सबसे बड़ा नायक वास्को द गामा स्थित है। समुद्री साहस का चित्रण इस काव्य में खूब हुआ है और इस दृष्टि से यह एक महान ग्रंथ बन गया है।* कैथोलिक स्पेन और पुर्तगाल का पतन और इंगलैण्ड तथा हालैण्ड की प्रोटेस्टेण्ट शक्तियों के सम्मुख उनकी पराजय यह दिखाती है कि किस प्रकार एशिया पर वे अपना अधिकार नहीं रख सके और नव प्राप्त राष्ट्रीय स्वतंत्रता के जोश और दम्भ ने किस प्रकार और किस हद तक उन्हें अंधा और पतित बना दिया था।

—:o:—

* देखिए आर० एफ बर्टन कृत "कैमोएन्स—हिज लाइफ एण्ड दि लुसियाद, ए कमेण्टरी (२ खण्ड, १८८१)।

सातवाँ परिच्छेद

मुगल साम्राज्य का पतन

१७६१ ईसवी तक मराठा और सिखों का इतिहास

[१]

बहादुरशाह से सैयद वंश के पतन तक

उत्तराधिकार के लिए गृह-युद्ध

औरंगजेब की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार के लिए संघर्ष अनिवार्य हो उठा था। इसका कारण उसके पुत्रों का चरित्र, उनका पद और स्वयं औरंगजेब का अपने पुत्रों के प्रति व्यवहार था। ज्येष्ठ पुत्र जो जीवित था, पहले मुअज्जम कहलाया, फिर शाह आलम, इसके बाद बहादुरशाह। औरंगज़ेब ने अनेक बार उसके साथ बुरा व्यवहार किया, उसे कैद तक कर लिया, मगर उसने अपने सन्तुलन को नहीं छोड़ा। अन्त में उसने फिर अपने पिता का विश्वास प्राप्त कर लिया। औरंगजेब की मृत्यु के समय वह काबुल और पेशावर का गवर्नर था। दूसरा पुत्र जो जीवित था—आजमशाह कुछ काल तक अपने पिता का बहुत प्रिय रहा, इस हद तक कि उसके हृदय में अपने बड़े भाई का स्थानापन्न बनने की आकांक्षा जाग्रत हो उठी थी। अपने शासन के अन्तिम काल में औरंगजेब का झुकाव कामबख्श की ओर हो गया जो कि उसके बुढ़ापे की प्यारी सन्तान था। औरंगजेब के व्यवहार ने उसके हृदय में अगर अधिक नहीं तो साम्राज्य के एक अंश का शासक बनने की भावना उत्पन्न कर दी। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि औरंगजेब ने अपनी वसीयत का कोई मसविदा तैयार किया था या नहीं जिसमें उसने अपने साम्राज्य को अपने पुत्रों में बाँट दिया था। जो भी हो, शाहआलम इस तरह के शान्तिपूर्ण विभाजन और समझौते

को स्वीकार करने के लिए तैयार था, किन्तु अन्य भाई इसके लिए कतई तैयार नहीं थे। अन्त में शाहआलम बहादुरशाह के नाम से सिंहासन पर बैठा और अपने भाइयों की हरकतों का सामना करने का उसने निश्चय कर लिया। इसमें उसे अपने पुत्र अज़ीम-उल-शान से बहुत मदद मिली। वह कई वर्ष तक बंगाल का सूबेदार रह चुका था। आगरा के निकट एक युद्ध में उसने शाहज़ादा आजम को पराजित कर उसे कत्ल करा दिया। आजम ने अपने उद्धत स्वभाव के कारण पुराने शाही अधिकारियों को अपना विरोधी बना लिया था। इन पुराने अफसरों में एक असदखाँ और उसका शक्तिशाली पुत्र जुलफिकारखाँ था जो युद्ध के दौरान में (१७०७) तटस्थ और निष्क्रिय रहा था। वह अब विजेता की ओर आगया और शाहआजम ने उसे ऊँचे पद पर पहुँचा दिया। शाहज़ादा कामबख्श ने दक्षिण में विद्रोह कर दिया। उसने बहादुरशाह को मानने से इन्कार कर दिया था। बहादुरशाह ने उसके विरुद्ध चढ़ाई की और हैदराबाद के निकट युद्ध में उसे पराजित कर दिया। इसके शीघ्र बाद ही, युद्ध में लगे घावों के कारण शाहज़ादा की मृत्यु हो गई और बहादुरशाह का अब कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं रहा (१७०६)।

मराठों से समझौता

दक्षिण में सम्राट की उपस्थिति का एक फल यह हुआ कि उसने सम्भाजी के पुत्र साहू को मान्यता प्रदान कर दी। औरंगजेब की मृत्यु के तुरत बाद, जुलफिकारखाँ के परामर्श और इस उद्देश्य से कि उसके छूटने पर मराठों में फूट पड़ जायगी, उसे शाही कैद से मुक्त कर दिया गया था। दक्षिण में मुगल प्रतिनिधि ने एक संधि के द्वारा साहू को दक्षिण के ६ सूबों से सरदेशमुखी और चौथ वसूल करने का अधिकार प्रदान कर दिया, किन्तु इसके साथ शर्त यह रखी कि उगाही का काम मुगल अधिकारी करेंगे, मराठों का इसमें कोई दखल नहीं होगा। इस संधि के अनुसार शासन के अन्तिम काल तक दक्षिण में शान्ति बनी रही, यद्यपि राजाराम की विधवा ताराबाई ने अपने पुत्र की ओर से—जो कोल्हापुर का राजा था और जिसके साथ उसका वजीर मुनीमखाँ तथा दूसरे सरदार

थे—सिंहासन के लिए अपना अधिकार प्रस्तुत किया और उसके लिए उसने संघर्ष भी किया।

राजपूतों से समझौता

बहादुरशाह ने, जिसकी उदार हृदयता और सीमा हीन भले स्वभाव का इतिहास-लेखक खफीखाँ ने बहुत बखान किया है, राजपूतों से भी समझौता करने का प्रयत्न किया—विशेष रूप से जयपुर के शक्तिशाली राजा जयसिंह द्वितीय और जोधपुर के राणा-अजितसिंह से। उदयपुर (मेवाड़) के महाराणा का समूचा प्रदेश लौटा दिया गया और उसकी स्वतंत्रता को, व्यावहारिक दृष्टि से, स्वीकार कर लिया। यद्यपि नाम का जहाँ तक सम्बन्ध था, उदयपुर सम्राट के स्वामित्व में ही था।* इसी प्रकार की सुविधाएँ जोधपुर के राणा को भी दे दी गई, किन्तु जयपुर के साथ शर्तें कुछ कड़ी रखी गई क्योंकि उसने शाहजादा आजम का साथ दिया था। किन्तु यह सब सुविधाएँ देने पर भी जयसिंह और अजितसिंह मुगल सत्ता के विरुद्ध मिल गए। इससे पहले कि सम्राट राजपूताना की ओर ध्यान देता, उसे सिरहिन्द में सिखों के शक्तिशाली विद्रोह का सामना करना पड़ गया। फलतः उसने राजपूतों की सभी माँगों को स्वीकार कर लिया और सम्भवतः इन दो राजाओं को भी उसने वही सुविधाएँ प्रदान कर दीं जो कि उसने उदयपुर के राणा को दी थीं।

बन्दा के नेतृत्व में सिखों का विद्रोह

बन्दा युद्ध प्रिय स्वभाव का बैरागी था। गुरु गोविन्द सिंह के बाद वही उनकी गद्दी का अधिकारी हुआ था। वह बहुत ही तेजस्वी और दुर्दमनीय था। सिखों के विद्रोह का उसी ने नेतृत्व किया। क्रूरता और कठोरता इस विद्रोह की घुट्टी में मिली हुई थी। सिरहिन्द से पूर्व की ओर सतलज और यमुना तक यह विद्रोह तेजी के साथ फैल गया। सच तो यह है कि सिखों ने लाहौर से लेकर दिल्ली तक

---

* कर्नल जे टाड—एनेल्स एण्ड एण्टीक्विटीज आफ राजस्थान (पाप्युलर संस्करण) खण्ड १, पृष्ठ ३१७।

के समूचे प्रदेश को रौंद और कुचल डाला। उन्होंने बहुत ही घातक रूप धारण कर लिया था और दिल्ली से उत्तर-पश्चिम को जाने वाली सड़क उनके कारण सर्वथा अरक्षित हो गई थी। उनके इस विद्रोह से क्षुब्ध होकर स्वयं सम्राट उनका दमन करने के लिए आगे बढ़ा और कुछ संघर्ष के बाद, विद्रोहियों को पहाड़ियों में खदेड़ दिया। सम्राट ने बन्दा के लोहगढ़ पर भी आक्रमण किया (१७१०)। बन्दा किसी प्रकार बच कर निकल गया और सम्राट की परेशानी का कारण बना रहा। कुछ काल बाद शासन के पाँचवें वर्ष में लाहौर में बहादुरशाह की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के बाद ही उसके पुत्रों में उत्तराधिकार के लिए संघर्ष छिड़ गये। बन्दा ने इस संघर्ष से लाभ उठा कर लोहगढ़ पर अधिकार कर अपनी पुरानी शक्ति और सत्ता को फिर से प्रतिष्ठित कर लिया।।

बहादुरशाह का व्यक्तित्व

"यद्यपि बहादुरशाह महान सम्राट नहीं था, फिर भी अपने उत्तराधिकारी की तुलना में उसे सफल शासक कहा जा सकता है। उसके शासन-काल में साम्राज्य की प्रतिष्ठा काफी हद तक सुरक्षित रही।" * अति की सीमा तक वह उदार था,—बड़ी उदारता के साथ, काफी संख्या में, उसने खिताब बाँटे थे,—यहाँ तक कि स्वयं उसका यह कथन कहावत बन गया था कि "हर घर खान और हर बाजार में रईस।" उसका स्वभाव विनम्र था। वह स्वाभिमानी और सुशिक्षित था और अपने पिता की तुलना में धर्मांधता से बहुत कुछ मुक्त था। उसके शासन में भी, कुछ हद तक, औरंगजेब वाली असहनशीलता के अवशेष पाये जाते थे। हिन्दुओं को ऊँचे पदों तक वह भी नहीं पहुँचने देता था। अपने

* डब्ल्यू इर्विन—दि लेटर—मुगल्स—खंड १, पृष्ठ १३७। इर्विन ने लिखा है कि वह अधिकारियों को अपने कर्तव्यों का पालन करने की पूरी छूट देता था और उनके विरुद्ध षड़यंत्रों का ताना बाना बुनने में न स्वयं योग देता था, न दूसरों को करने देता था। सार्वजनिक मामलों में अनधिकृत हस्तक्षेप को वह सहन नहीं करता था।

सम्बंधियों और अमीरों के प्रति उसका व्यवहार सहृदयतापूर्ण था। घरेलू विद्रोहों की वह चिन्ता नहीं करता था। तूरानी अमीरों को उसने आगे नहीं बढ़ने दिया, उन्हें पीछे ही रखा।

जहाँदार शाह का शासन (१७१२ १३)

असमर्थ होते हुए भी बहादुर शाह का ज्येष्ठ पुत्र अपने शक्तिशाली भाई अज़ीम-उल-शान की बाधा को जुलफिकार खाँ की सहायता से पार करने में सफल हो गया और सिंहासन पर उसने अधिकार प्राप्त कर लिया। दूसरे भाइयों की प्रतिद्वन्द्विता पर भी उसने शीघ्र ही विजय पा ली। किन्तु उसका ग्यारह मास का अल्पकालिक शासन, खफी खाँ के अनुसार, बहुत ही बेढंगा, निन्दनीय और विस्मृति के गर्भ में डाल देने योग्य था। जहाँदार शाह छिछला, बदकार, कायर और तैमूर, बाबर तथा अकबर के वंश का सर्वथा पतित प्रतिनिधि था। एक रखैल के हाथों में उसने अपने-आप को सौंप दिया था और उसके सभी सगे-सम्बंधियों को ऊँचे पदों पर उसने नियुक्त कर दिया था। राज्य के अधिकारियों और अमीरों के क्षोभ की उसने चिन्ता नहीं की। उसका वजीर जुलफिकारखाँ भी उसके ही पदचिन्हों का अनुयायी हो गया। दरबार नाचने-गाने की महफिल बन गया। रात को जाग कर दरबारी नाच देखते थे, दिन में सोते थे। कोई आश्चर्य नहीं अगर अजीम-उल-शान के पुत्र फारूक सियार ने सैयद वंश के दो उल्लेखनीय अमीर बन्धुओं—पटना के सूबेदार हुसेन अली और इलाहाबाद के सूबेदार अब्दुल्ला की मदद से जहाँदार शाह के विरुद्ध विद्रोह का झंडा ऊँचा उठा लिया। सैयद-बंधु भारत में उत्पन्न मुसलमान थे और उनकी बिरादरी के लोग शाही युद्धों में काफी ख्याति प्राप्त कर चुके थे। कितने ही अमीरों ने—जैसे भावी निजाम-उल-मुल्क चिन किलिच खाँ ने—जहाँदार शाह का साथ छोड़ दिया और इस प्रकार उसकी पराजय निश्चित हो गई। बहुत ही बुरे ढंग से युद्ध क्षेत्र को छोड़ कर भागने में उसने कायरों को भी मात कर दिया। लेकिन पकड़ा गया और दिल्ली के किले में कमान की डोरी से गला घोट कर उसे मार डाला गया। साथ ही उसका प्रमुख सहायक

जुलफिकार खाँ और उसका वृद्ध पिता भी मौत के घाट उतार दिया गया।

फारुख़ सियार का शासन (१७१३-१९)

फारुख़ सियार का लगभग ६ वर्ष का शासन हलचलों और अस्थिरता से घिरा रहा। सैयद उस पर अपना अंकुश रखना चाहते और वह बार-बार उनके प्रभाव से मुक्त अपने स्वतंत्र अस्तित्व को उभारना चाहता। इस कशमकश से उसका पीछा नहीं छूटा और अन्त में उसे पदच्युत होकर हत्या का शिकार होना पड़ा।

सैयद बन्धु दोआब में बसने वाले एक बहादुर कबीले के वंशज थे। इस कबीले के लोग शाही सेनाओं का पुश्तैनी नेतृत्व करते आ रहे थे,—इसका उन्हें परम्परागत अधिकार प्राप्त था। उनके पक्ष में उनके कबीले की प्रतिष्ठा और स्वयं उनकी अपनी बहादुरी की ख्याति थी। वे शिया थे, अतः सुन्नी, जो कि बहुसंख्या में थे, उनसे घृणा करते थे। दरबार में उन्हीं का प्रभुत्व था और औरंगजेब की प्रतिक्रियावादी दमन* नीति से वे बहुत असन्तुष्ट थे और उसका सख्त विरोध करते थे। अब्दुल्ला वजीर के पद तक पहुँच गया था और हुसेन अली को अमीर-उल-उमरा तथा प्रमुख बख्शी का दर्जा प्रदान कर दिया गया था। शासन की समूची मशीनरी उनके हाथ में थी। उनकी सहनशील और हिन्दू-पक्षी नीति से अधिकांश पुराने अमीर असन्तुष्ट हो गए और उन्हें लगा कि सैयद—

---

* सैयद इसी देश की उपज थे और उन्हें अपने हिन्दुस्तानी होने पर गर्व था। उनकी सहानुभूति, स्वभावतः, विदेशी मुगलों की विजयी जाति के मुकाबले में देशी लोगों के प्रति अधिक थी। अकबर की सहनशीलता और राजनीतिक समानता पर आधारित नीति के झंडे के नीचे राष्ट्रीय भावना के लोगों को जमा करने की सम्भावना उनकी सबसे बड़ी शक्ति थी।—ओवन,—दि फाल आफ दि मुगल एम्पायर, पृष्ठ १३८।

सैयदों के उद्देश्य—ओवन के ही शब्दों में—"पहले से ही सम्राट को न-कुछ बना कर उसके नाम से अपने हाथ में सत्ता करने क उन्होने निश्चय कर लिया था जैसा कि बाद में महादाजी सिंधिया ने किया या यह बात उन्हें बाद में सूझी .. शाही वंश को पीछे कर गैर-मुगल और अनगढ़ राष्ट्रीयता के आधार

बंधु अकबर की घृणित नीति को फिर से जीवित करना चाहते थे। दरबार में कत्लों की स्थिति भी ऐसी थी कि इस नीति के सिवा और कोई उपयुक्त मार्ग नहीं दिखाई देता था। हिन्दूकुश के उधर से जितने भी साहसिक और लड़ाकू लोग इधर चले आए थे वे सब अपने को मुगल कहते थे। उनमें आक्सस के दक्षिणी प्रदेश से आने वाले ईरानी भी थे और उत्तरी प्रदेश से आने वाले तूरानी भी। तूरानियों की संख्या अधिक थी और वे सुन्नी थे। ईरानी शिया थे। इन दोनों में निरन्तर प्रतिद्वन्द्विता चलती रहती थी और दरबार में एक दूसरे पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए वे प्रयत्नशील रहते थे। यह प्रतिद्वन्द्विता इस काल की प्रमुख विशेषता बन गई और साम्राज्य के ह्रास की अधिकांश जिम्मेदारी थी इसी प्रतिद्वन्द्विता पर थी। काबुल और कंधार से आने वाले लोग अफगान और रोहिल्ला (पहाड़ी लोग) कहलाते थे। विदेशियों में अरब, हब्शी (अधिकांश अफ्रीकी नीग्रो), रूमी (तुर्की साम्राज्य के निवासी) और फिरंगी (युरोपीय) थे जिनकी संख्या कम थी। ये सब मुगल या विदेशियों के दल में शामिल थे। इनके विरुद्ध हिन्दुस्तानी लोगों का दल था जिसमें हिन्दुस्तान में जन्म लेने वाले मुसलमान, राजपूत, जाट सरदार और अन्य शक्तिशाली भू-स्वामी सम्मिलित थे। सारे हिन्दू मुन्शी और छोटे पदाधिकारी इनका समर्थन करते थे। औरंगजेब की असहनशील दमन-नीति के ये सख्त विरोधी थे और औरंगजेब की नीति को फिर से चालू करने के पक्ष में नहीं थे। इन दोनों दलों के अलावा सम्राट के मित्रों और सैयदों के मित्रों का भी एक दल था और यही दल, फिलहाल, सबसे अधिक निर्णयात्मक प्रभाव रखता था।

पर राजतंत्र स्थापित किया जाए......इस सम्बंध में साफ साफ कुछ नहीं मालूम होता। लेकिन उनके मूल इरादे चाहे जो भी रहे हों, जैसे-जैसे प्रतिद्वन्द्विता और कशमकश बढ़ती गई, उनके प्रयत्नों की दिशा भी—जान बूझ कर या अन जाने में—गैर-मुगल राजतंत्र की ओर बढ़ती गई। सम्भवतः पहले अपने आप, अनायास ही इस ओर वे ब और बाद में अपने हाथ और जमीन मजबूत करने के लिए इस नीति को उन्होंने अपना आधार और लक्ष्य बना लिया।

सातवाँ परिच्छेद

निजाम-उल-मुल्क

फार्रुक सियार के पास अपना कोई निश्चय या परख नहीं थी और राज-काज में वह अनुभव हीन था। मुगल या विदेशी दल सैयदों के उत्थान से जलता था। मुगल दल में सबसे प्रमुख निजाम-उल-मुल्क था जो एक परखा हुआ और ख्याति-प्राप्त योद्धा था और औरंगजेब के काल में सूबेदार भी रह चुका था। वह अब दक्षिण का सूबेदार बन गया था (१७१३)। वह और उसका पिता गाज़ी उद्दीन खाँ और उसका चचाज़ाद भाई मुहम्मद अमीन खाँ मुगल अमीरों में सबसे बड़े थे। किन्तु उसने दरबार के गंदे षड्यंत्रों में कभी भाग नहीं लिया। दरबार में अब शाह के एक नये प्रिय-पात्र अमीर का बोल बाला था। शाह के प्रभाव को अपने साथ लेकर उसने सैयदों को वजारत के विरुद्ध मोर्चा जमा दिया। सम्राट के पास अपना दिमाग नहीं था और उसका चित अस्थिर रहता था। अपने वजीरों के प्रति सहज ही वह सन्देह-शील हो उठता था और उन्हें उखाड़ फेंकने के लिए षड्यंत्रों में सम्मिलित हो जाता था।

शासन का हिन्दुईकरण

अमीर जुमला के इस षड्यंत्र के विरुद्ध वजीर ने अनाज के एक हिन्दू व्यापारी रतनचन्द को अपना दीवान नियुक्त कर लिया और उसे वजारत सम्बन्धी सभी मामलों का अधिकार प्रदान कर दिया। सम्राट और सैयदों के बीच अविश्वास और शत्रुता के भाव गहरे होते गए। सैयदों ने अतिरिक्त सेनाएँ खड़ी कर लीं और दरबार में आने से इन्कार कर दिया। इस पर सम्राट सशंक हो उठा। आखिर किसी प्रकार समझौता कराया गया। अमीर-जुमला को सूबेदार बना कर बिहार भेज दिया गया, और सैयद हुसेन को तुरत दक्षिण जाने का अधिकार-पत्र दे दिया गया और उसका भाई पूर्ववत वजीर के पद पर ही बना रहा। हुसेन अली ने मारवाड़ के विरुद्ध युद्ध में सफलता प्राप्त कर अजितसिंह को झुकने के लिए बाध्य किया। अजितसिंह की कन्या का सम्राट के साथ विवाह बहुत धूम-धाम के साथ मनाया गया (१७१५)। हिन्दुओं और दूसरे देशी लोगों को पद और तरक्की मिली। जज़िया रद्द कर दिया

गया और शासन के हिन्दुईकरण का काम तेजी से आगे बढ़ चला।

हुसेन अली का मराठों से समझौता (१७१७)

हुसेन अली ने सम्राट द्वारा उभारे गए विरोधी तत्वों को अपने वश में कर लिया और दक्षिण में शाही प्रभुत्व को स्थापित कर वहाँ की व्यवस्था को ठीक करने के प्रयत्नों में पूरे जोश और लगन के साथ जुट गया। किन्तु मराठा उससे कहीं अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुए और अन्ततोगत्वा उसने उनसे समझौता करने में अधिक भलाई समझी। इस समझौते के अनुसार दक्षिण के सूबों में मराठों के सरदेशमुखी और चौथ के अधिकार को मान लिया गया। राजा साहू के महान शिवाजी द्वारा अधिकृत इलाकों तथा अन्य बाद के विजित प्रदेशों पर अधिकार को स्वीकार कर लिया गया। इसके बदले में साहू ने नजराना तथा १,००० घोड़ सवारों की सेना बन्दोबस्त करने का वचन दिया जिन्हें देश में शान्ति स्थापित करने के काम में लगाया जा सके। हुसेन अली का उद्देश्य अपने दल और मराठों में सम्बन्ध स्थापित करने का था। इस संधि के अनुसार वह दकन से अपनी सेनाओं को वापिस बुलाने में समर्थ हो सका, साथ ही दिल्ली पर चढ़ाई करने के लिए पेशवा बालाजी विश्वनाथ के नायकत्व में मराठों की सेना का सहयोग भी उसे मिल गया। जब सम्राट ने इस संधि पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगाने से इन्कार कर दिया और अपने एक निम्नश्रेणी के प्रिय-पात्र के परामर्श से निजाम-उल-मुल्क को, जिसे हुसेन अली ने दक्षिण से निष्कासित कर दिया था, अपनी ओर करने का प्रयत्न किया तो उसके और सैयदों के बीच की खाई और भी चौड़ी हो गई। वजीर ने तेजी के साथ सभी कबीलों के सैनिकों को जमा कर और मुगल-दल के विरुद्ध हिन्दुस्तानी दल को खड़ा कर अपनी शक्ति तथा प्रभाव में काफी विस्तार कर लिया। सम्राट के ढुलमुल-पन ने फिर एक बार खोखले समझौते को जन्म दिया और संघर्ष आगे बढ़ने से रह गया। किन्तु वजीर के सशंक होने में अब कोई कसर नहीं रह गई थी। उसने दकन से

अपने भाई को वापिस बुला लिया। फार्रुक सियार से केवल जयसिंह अब तक चिपका हुआ था। उसने निर्णयात्मक कार्यवाही करने पर जोर दिया, किन्तु कोई फल नहीं निकला। दिल्ली आने पर हुसेन अली ने माँग की कि राजा जयसिंह को उसके अपने राज्य में वापिस भेज दिया जाए। इसके बाद उसने नगर में प्रवेश किया और उस पर अधिकार कर लिया। फार्रुक सियार हरम में छिपा हुआ था। वहाँ से उसे घसीट कर बाहर निकाला गया और उसकी हत्या कर दी गई (फरवरी, १७१९)।

सम्राट-निर्माता सैयद-बंधु

सैयदों का अब पूर्ण प्रभुत्व हो गया था। उनकी तथा उनके साथी राजाओं—अजितसिंह और साहू—की सेनाओं की शक्ति राजधानी में सर्वोपरि थी। निजाम-उल-मुल्क तथा मुगल दल के अन्य अमीर-उमरा फार्रुक सियार के व्यवहार से क्षुब्ध हो कर निष्क्रिय तथा तटस्थ हो गए थे। सैयदों को किसी प्रकार के संघटित विरोध का सामना नहीं करना पड़ा। सिंहासन पर दो छाया-सम्राट प्रतिष्ठित किए गए और दोनों ही, क्रमशः, शीघ्रता के साथ मारे गए। उनके बाद बहादुर शाह का पोता मुहम्मद शाह, अठारह वर्ष का युवक, सिंहासन पर बैठाया गया। सैयदों के अपने रक्षक सम्राट को घेरे रहते थे और उस पर अपनी निगाह रखते थे। नगर का शासन पूर्णतया दीवान रतनचन्द के हाथ में था। दरबार की शान-शौकत बहुत कुछ फीकी पड़ गई थी। मुगल अभिजात वर्ग की प्रतिष्ठा और गौरव को अनेक अवसरों पर अनेक प्रकार से नीचा देखना पड़ता था। जयसिंह और अजितसिंह दोनों ही ऊँचे सूबेदार बन गए थे। सैयद-बंधु ही अब सर्वशक्ति मान थे। किन्तु तूरानी अमीर उनके सख्त विरुद्ध थे और बड़े सूबे नाम मात्र को ही साम्राज्य के आधीन थे। बंगाल जफर खाँ के हाथ में था, अजित-सिंह गुजरात और अजमेर का सूबेदार था, दक्षिण के सूबे हुसेनअली के शासन में थे और मालवा पर तूरानी दल के नेता और सैयदों के कट्टर शत्रु निजाम-उल-मुल्क का अधिकार था। जजिया को रद्द करने की एक बार फिर घोषणा की गई और खफी खाँ के

शब्दों में,—"सम्राट का शासन में कोई हाथ नहीं था''' हर काम रतनचन्द और दूसरे कुचक्री काफ़िरों के इशारों पर होता था। दोनों सैयद-बंधु असली शासक थे। वे अपने को कलम और तलवार दोनों का धनी समझते थे। उनकी राय में ईरान और तूरान के मुगलों की तलवार का कोई मूल्य नहीं रहा था।"*

मुगलों की प्रति-क्रान्ति

मुगल-दल ने प्रति-क्रान्ति के लिए प्रयत्न किया। उनका स्वाभाविक नेता निजाम-उल-मुल्क "पक्का साम्राज्यवादी, कट्टर मुसलमान और देशी लोगों के प्रभुत्व और मराठों की स्वतंत्रता का जाती दुश्मन था।" वह स्पष्ट-दर्शी और सतर्क था। सैयदों के अन्तिम उद्देश्य—मुगल राज्य-तंत्र और जाति का नाश करना—उसकी दृष्टि से छिपा न रहा। मालवा में, जहाँ का वह शासक था, उसने अपने दल की शक्तियों को संघटित करना शुरू कर दिया। उसने अनुभव किया कि दक्षिण पर अधिकार किए बिना सैयदों और मराठों के गठ-बन्धन का नहीं तोड़ा जा सकता। हुसेन अली के प्रतिनिधि-शासक डेप्युटी, के विरुद्ध उसने चढ़ाई कर दी और उसे पराजित कर पहले बुरहानपुर की ओर फिर औरंगाबाद में अपनी सत्ता प्रतिष्ठित कर ली। सैयदों ने अब संकट की गम्भीरता को पहचाना। हुसेन-अली दक्षिण पर चढ़ाई करने के लिए तैयारी करने लगा। किन्तु सम्राट और उसकी माता के सहयोग से एक नया गुट्ट तेजी के साथ इसी बीच बन गया था। ईरानी और तूरानी, दोनों ही सम्प्रदायों के मुगल, सैयदों के प्रभुत्व से तंग आ चुके थे। उनके नेताओं ने हुसेन अली को हटाने का षड्यंत्र रचा और हुसेन अली को जाल में फँसा कर मार डाला गया। उसकी सेना तितर-बितर हो गई। अब्दुल्ला ने नयी सेना जमा की, किन्तु आगरा के निकट पराजित होकर वह भी बन्दी बन गया। मुहम्मद शाह ने अविलम्ब सम्राट-निर्माताओं के कठोर चंगुल से अपनी मुक्ति की घोषणा कर दी।

---

* देखिये इलियट कृत 'हिस्ट्री आफ इण्डिया', खण्ड ७, पृष्ठ ५०४। इस ग्रंथ में खफी खाँ लिखित मुन्तखाब-उल-बाब का उपर्युक्त उदाहरण दिया हुआ है।

सातवाँ परिच्छेद

सैयदों की क्रान्ति का महत्व

इस प्रकार मुगलों की प्रति क्रान्ति सम्पूर्ण हुई। इस प्रतिक्रान्ति का भारत के भविष्य पर भारी प्रभाव पड़ा। सैयद सहनशीलता के आधार पर दृढ़ राष्ट्रीय सत्ता की स्थापना कर सकते थे। इस काम के लिए उन्हें हिन्दुस्तानी मुसलमानों और हिंदू राजाओं दोनों का सहयोग प्राप्त था। वे उस घातक आलस्य और लापरवाही से भारत को बचा सकते थे, जिसने नादिरशाह और अहमदशाह के लिए भारत के दरवाज़े खोल दिए। शाही प्रतिष्ठा और सत्ता का भाव, किसी न किसी रूप में, वे कायम रख सकते थे और मराठों का खतरा तथा अंग्रेजों के रूप में आनेवाली मुसीबत से भारत को बहुत कुछ बचा सकते थे।*

साम्राज्य पर प्रतिक्रान्ति का प्रभाव

मुगल दल की सफलता से साम्राज्य में शन्ति का संचार नहीं हुआ। इससे सम्राट को व्यक्तिगत स्वतंत्रता अवश्य फिर से मिल गई। मुहम्मदशाह अब निजाम-उल-मुल्क का जो कि अब वजीर बन गया था अनुसरण कर तत्परता और लगन के साथ एक स्थिर नीति का पालन कर सकता था। बुरे परामर्शदाताओं के फेर में पड़ कर वह अपने पद से भटक गया था और निजाम क्षोभ में अपने पद को छोड़ कर दक्षिण चला गया था जहाँ उसने प्रायः स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर ली थी (१७२४)। वह स्वामि भक्त मुगल था और तैमूर के वंश को उलटने की बात सोचना उसको

---

* मराठों की लूटमार की व्यवस्था निस्सन्देह एक कठिन समस्या थी किन्तु उन्हें दकन देकर उनसे कुछ समझौता किया जा सकता था। मराठा भी इसे अनुभव करते कि उनके लिए सब से सुरक्षित मार्ग दिल्ली से समझौता कर लेना है, क्योंकि ऐसे समय में जब कि अंग्रेजों का खतरा उत्पन्न हो गया था और देशी भारत की समूची राजनीतिक व्यवस्था के खण्ड-खण्ड हो जाने की सम्भावना आँखों के सामने मूर्त हो उठी थी। ऐसे समय में मुगलों का साथ न देने और एक नई प्रति-क्रान्ति का आवाहन करने का सिवा इसके और कोई नतीजा नहीं हो सकता था। ओवन, (पृष्ठ, १७८)

कल्पना से परे था। साथ ही वह यह भी जानता था कि निष्क्रिय सम्राट को चैतन्य कर क्रियाशील बनाना असम्भव है। अतः उसने बदबख्त गिरते हुए साम्राज्य को उसके भाग्य के भरोसे छोड़ देना अधिक ठीक समझा। मार्ग में ईर्ष्यालु साम्राट ने जो विरोध खड़ा कर दिया था उसे निजाम ने खत्म कर दिया। शखर खेलडा में मुबारिक खाँ पर विजय (१७२४) पाने के बाद दक्षिण में उसने अपना खान्दानी राज्य बना लिया। किन्तु इस राज्य का वस्तुतः स्वामी वह सैयदों के पतन के बाद ही हुआ। १७२५ में उसने हैदराबाद को अपनी राजधानी बना लिया। और भीरु सम्राट से जो उसे अपने अनुकूल बनाना चाहता था 'आसफ़ जाह' का खिताब मिल गया।

[२]

प्रारम्भिक पेशवों के काल में मराठा-शक्ति

[१७१४-४८]

साहू की शक्ति का विकास

यह हम देख ही चुके हैं कि साहू औरंगजेब की मृत्यु के शीघ्र बाद ही सिंहासन पर बैठ गया था, यद्यपि एक प्रतिद्वन्द्वी दल ताराबाई के पुत्र के दावे को लेकर उसे परेशान करता रहा। सतारा को साहू ने अपनी राजधानी बनाया, क्योंकि राजाराम के काल से सतारा मराठों का प्रमुख केन्द्र बन गया था। उसने सन्त रामदास के अनुयायियों को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न किया और कट्टर हिंदुओं की जो मुगल-दरबार में उसके दीर्घकालीन निवास के कारण उससे विमुख हो गये थे सहानुभूति प्राप्त करने का प्रयत्न किया। अमीरों में से अधिकांश को उसने शीघ्र ही अपनी ओर कर लिया। एक चित्तपावन ब्राह्मण बालाजी विश्वनाथ के कौसल से उसे अपने उद्देश्यों की पूर्ति में बहुत मदद मिली। पहले वह धानाजी यादव के आधीन था। फिर सम्भाजी के शासन काल में या इसके शीघ्र बाद ही शाही सेवादारी उसने स्वीकार कर ली थी। उसी ने अपने स्वामी को यह बहुमूल्य सलाह दी थी कि साहू को मदद देकर ताराबाई के विरुद्ध उसके "अपने हथियार-चालबीज और षडयंत्र का प्रयोग किया जाय।" उसने राजाराम की युवा पत्नी

को अपनी ओर कर लिया और उसकी सहायता से ताराबाई और उसके निकम्मे पुत्र शिवाजी को गिरफ्तार कर बन्दीघर में डलवा दिया (१७१२) । शक्तिशाली समुद्री सरदार कान्होजी आंग्रे को भी, तटवर्ती किलों पर जिसका अधिकार था, और जो उत्पातों का केन्द्र बन गया था उसने अपनी ओर कर लिया था और उसकी मदद लेकर उसने अबीसीनिया के सिद्दियों के प्रदेशों पर आक्रमण किया और उनमें से कुछ पर अधिकार कर लिया । साहू ने नवम्बर १७१३ में पेशवा नियुक्त कर दिया और इस पद पर शीघ्र ही उसका खान्दानी अधिकार हो गया ।

उसका कृतित्व

बालाजी पेशवा ने तेजी के साथ लूट के माल पर जीने वालों का अन्त कर दिया । उसने अष्ट प्रधानों की भी फिर से स्थापना की, किन्तु वास्तविक सत्ता उसने अपने ही हाथों में केन्द्रित रखी । उसका प्रमुख कार्य दूरस्थित प्रदेशों के मराठा सरदारों को अपने नियंत्रण में लाना था ।

उन दिनों मराठों का सम्बन्ध मुगल राजनीति के साथ हो गया था । जब फार्रुक सियार सम्राट हो गया तो उसने निजाम उल-मुल्क को जुलफिकार खाँ के बाद दक्षिण का वाइसराय नियुक्त कर दिया । जुलफिकार खाँ ने साहू से अनुरोध किया कि शाही मान्यता के बदल में वह सम्राट को घोड़सवार सेना प्रदान करके मदद करे । साहू को इसके लिए उसने तैयार कर लिया । बाद में जब हुसेन अली दकन का वाइसराय हुआ तो उसे दाऊद खाँ के विरोध का दमन करने के लिए नेमाजी सिंधियाँ की मदद लेनी पड़ी । औरंगाबाद के समूचे साधनों पर नेमाजी का अधिकार हो गया था, इसलिए उसके बिना दाऊदखाँ का दमन करना कठिन था । फिर जब उसने देखा कि खांडेराव दाभड़े के नेतृत्व में मराठा गुजरात में—जहाँ चौथ लेना वे अपना अधिकार मानते थे—इतने शक्तिशाली हो गए हैं कि उनका सीधा मुकाबला नहीं किया जा सकता तो उसने बालाजी विश्वनाथ से संधि की । दक्षिण के सूबों से

चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का मराठों का अधिकार स्वीकार कर लिया गया। साथ ही खानदेश को छोड़ कर शिवाजी द्वारा अधिकृत सभी प्रदेशों पर भी उनका प्रभुत्व मान लिया गया। इसके बदले में बालाजी ने नजराना और हुसेन अली को सेवादारी में १५००० घोड़ सवार प्रदान करना स्वीकार किया (१७२६)। इस संधि को विक्षोभ के साथ सम्राट ने अस्वीकार कर दिया और हुसेन अली ने अपनी दकनी सेनाओं के साथ दिल्ली पर चढ़ाई कर दी। इस चढ़ाई में पेशवा और खांडेराव दामड़े के नायकत्व में १६००० मराठा घोड़सवार भी थे। इसके बाद किस प्रकार फारूक सियार की हत्या और सैयद-बंधुओं का उत्थान हुआ, यह हम पहले बता चुके हैं। बालाजी विश्वनाथ और उसके मराठा घोड़-सवार दिल्ली में ही रह गए, यद्यपि दिल्ली की जनता उन्हें पसन्द नहीं करती थी। क्रान्ति के बाद संधि पर शाही स्वीकृति की मुहर लग गई और कुछ अन्य छोटी सुविधाएँ भी उन्हें मिल गईं।* इस महान सफलता के बाद बालाजी विश्वनाथ सतारा लौट आया (१७१९)।

निजाम का दकन में आगमन (१७२०-२४)

निजाम-उल-मुल्क ने, जो खुले रूप में सैयदों के विरुद्ध और नये सम्राट मुहम्मद शाह के पक्ष में हो गया था, अब सहसा अपने सूबे मालवा से दक्षिण पर आक्रमण कर दिया। वह अपनी शक्ति को सैयदों के विरुद्ध अपने आगामी संघर्ष में इस्तेमाल करना चाहता था। खण्डवा और बालापुर के दो युद्धों में (१७२०) उसने सैयदों के सेना-नायकों को पराजित कर दिया। दक्षिण में उसकी विजयों ने ही, वस्तुतः, सैयदों की सत्ता को खण्डित कर उनका पतन करने में योग दिया था। महम्मद शाह ने अब उसे मालवा और दक्षिण का स्वामी स्वीकार कर लिया और, इसके अलावा, उसे साम्राज्य का वजीर भी बना लिया (१७२१-२२)। किन्तु दिल्ली में उसे अपना कार्य रुचिकर और लाभ-जनक नहीं प्रतीत हुआ, इसलिए वजारत

* नये सम्राट ने क्रमशः तीन स्वीकृति पत्र जारी किए थे—(१) चौथ के लिए, दूसरा सरदेशमुखी, और तीसरा सरदेशमुखी के लिए।

से त्याग पत्र देकर वह दक्षिण चला गया। सम्राट ने उसे 'आसफजाह' और वकीले मुल्क के खिताबों से विभूषित कर दिया था। इसके बाद से आगे तक यद्यपि वह नाम-मात्र को सम्राट का प्रभुत्व स्वीकार करता रहा, किन्तु वास्तव में वह दक्षिण का स्वतंत्र शासक बन गया (१७२३-२४)।

बालाजी विश्वनाथ की मृत्यु (१७२०)

दक्षिण में जबकि उपर्युक्त घटनाएँ हो रही थीं, १७२० में बालाजी विश्वनाथ की मृत्यु हो गई। उसके पुत्र बाजीराव प्रथम की उपलब्धियाँ अपने पिता से कहीं बढ़ी-चढ़ी थीं, किन्तु उसने प्रारम्भ वहीं से किया, जहाँ से उसके पिता ने सूत्र छोड़ा था। बालाजी को मराठा साम्राज्य का द्वितीय निर्माता माना जाता है। उसने आंग्रों से समझौता कर उनका सहयोग प्राप्त कर लिया था। मराठा-साम्राज्य-सम्बन्धी सभी अधिकारों को भी उसने दिल्ली से स्वीकृत करा लिया था। सबसे बढ़कर उसने मालगुजारी वसूल करने की नयी प्रणाली जारी की थी जिसके फलस्वरूप मराठों की शक्ति और प्रभुत्व में काफी वृद्धि हो गई। बालाजी ने साहू की कमजोरियों को समझ कर राजा की निरंकुशता की जगह "सरदारों के संघ" की रचना की थी। वह इस तरह के संघ के दोषों से भी अवगत था और जानता था कि इस तरह के संघटन में उसके ह्रास के बीज भी छिपे हुए होते हैं। अतः उसने संघटन के नये सूत्रों की ओर भी ध्यान दिया जिससे राष्ट्र की सम्बद्धता बनी रहे।*

---

* इस प्रकार उसने शिवाजी की परम्परा को सुदृढ़ बना दिया और साहू के प्रति जनता में जो श्रद्धा का भाव था उससे भी लाभ उठाया। मराठा संघ के विभिन्न सदस्यों में बुद्धिमत्ता-पूर्वक साहू का आधार लेकर उसने सन्तुलन स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने सनदों और खिताबों से भी लाभ उठाया। बड़े सरदारों को महाराष्ट्र खास में उसने इनाम और जागीरें प्रदान कीं और इस प्रकार उन्हें केन्द्रीय सत्ता का भक्त बनाये रखा। साहू के शासन के बड़े सरदारों को उसने हिसाब-किताब की जाँच के काम में नियुक्त कर दिया। इस प्रकार राज के कोष-विभाग की स्थिति का उसको पूरा पता रहता था।

मराठा संघ का विकास

चौथ की वसूली की जटिल प्रणाली का आविष्कार बालाजी ने किया था जो कि आदर्श बन्दोबस्त पर आधारित था। इस प्रणाली में तथा कथित दोषों और न वसूल हुई चौथ को वसूल करने का ध्यान रखा गया था। इस प्रणाली के अनुसार सारी मालगुजारी वसूल करने का अधिकार ब्राह्मणों और उनके प्रतिनिधियों के हाथ में चला गया था जो स्वभावतः, पेशवाओं के हाथ की कठपुतली बन गए थे। मराठों की द्रुतगति के साथ विस्तार का श्रेय इस प्रणाली को और उनकी सैनिक विजयों को प्राप्त था। सबसे अन्त में बालाजी के प्रयत्नों ने मराठा सरदारों को संयुक्त कर उन्हें एक सम्बद्ध जाति—राष्ट्र—का रूप दे दिया था। लूट और विजयों में विभिन्न सरदारों का सामूहिक हित केन्द्रित करके बालाजी ने यह सफलता प्राप्त की थी। उसने अपने स्वामी की उपाधि 'साहू' के लिए वैधानिक मान्यता और स्वीकृति प्राप्त कर ली थी।* संघ में सम्मिलित विभिन्न मराठा सरदारों को उसने दृढ़ सूत्र में बाँध कर उन्हें एक बना दिया था। साहू के दरबार में ब्राह्मणों का प्रभुत्व स्थापित करने का श्रेय भी उसी को प्राप्त था। बालाजी विश्वनाथ की प्रतिभा, उसका प्रभाव, और शक्ति, साहू का व्यक्तित्व और चरित्र तथा बाजीराव की योग्यता—इन सबने संयुक्तरूप में अन्य तत्वों के साथ मराठा राज्य पर धीरे-धीरे ब्राह्मणों के प्रभुत्व की जमीन तैयार कर दी और राज्य की बागडोर पेशवाओं के हाथ में चली गई,—बल्कि कहना चाहिए कि पेशवाओं ने उस पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

---

* देखिए साहू जी देसाई का भाषण नम्बर चार, 'मेन करेण्ट्स आफ मराठा हिस्ट्री' (१६२६), पृष्ठ १०२-४।

मराठा सरदारों की क्रियाशीलता, तेज और मुसीबतें उठाने की क्षमता के साथ उसने कोंकणी ब्राह्मणों के सुसंस्कृत व्यवहार, बुद्धिमत्ता, और संयमशीलता का संयोग स्थापित कर दिया। उसके पास अब योजनाशील मस्तिष्क भी थे और योजनाओं को कार्यान्वित करने वाले हाथ भी।

सातवाँ परिच्छेद

बाजीराव का उद्देश्य और व्यक्तित्व

दूसरा और महानतम पेशवा बाजीराव का जन्म १६९८ में हुआ था। उसका बचपन और युवावस्था स्कीमों और युद्धों में बीती थी। उसका मानव-सम्बंधी ज्ञान व्यापक था और कठिन-से-कठिन कामों को उठाने की उसमें क्षमता थी। प्रारम्भ से ही उसका उद्देश्य दक्षिण के संकुचित क्षेत्र को छोड़ कर मुगल साम्राज्य के हृदय पर अपनी सेनाओं के साथ आक्रमण करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सभी मराठों को एक सूत्र में बांध कर पहले अपना आधार—जड़—मजबूत करना आवश्यक था। यह आक्रमणात्मक योजना मराठों के लड़ाकू स्वभाव के अनुकूल थी और इसके फलस्वरूप उनकी शक्ति और राज्य के विस्तार की पूरी सम्भावना थी। सबसे पहले उसे प्रतिनिधि श्रीपतराव की प्रतिद्वन्द्विता का अन्त करना पड़ा, जो चाहता था कि साहू अपनी आन्तरिक स्थिति और आर्थिक अवस्था को दृढ़ कर अपने अलग राज्य का निर्माण करे। उसका कहना था कि पेशवा की योजना असंयत और अबुद्धि पूर्ण है और इसके फलस्वरूप मुगल सेनाओं का देश पर फिर आक्रमण हो सकता था,—यह योजना एक तरह से, इस बार निज़ाम-उल-मुल्क के नायकत्व में, आक्रमण का आवाहन करती है। बाला जी ने इसके उत्तर में यह कहा कि अपनी आर्थिक स्थिति को ठीक करने का सबसे अच्छा उपाय मुगल प्रदेशों को लूटना है। और अपने उत्साह, भाषण-शक्ति, और प्रभावपूर्ण तर्कों से उसने साहू को अपने पक्ष में कर लिया।*

---

* ऊँचे संभाषण के बाद, अन्त में, वज़ीर ने अपनी प्रखर दृष्टि साहू पर स्थिर करते हुए कहा—"आक्रमण करो, किन्तु जड़ पर आक्रमण करो, शाखाएँ अपने-आप धूल में मिल जाएँगी। इधर-उधर न भटक कर मेरी सलाह तुम मानो और फिर देखो मराठा पताका को किस प्रकार मैं अटक की दीवारों पर फहराता हूँ। तर्क जहाँ सफल न हो सके वहाँ भावावेश और वक्तृत्व शक्ति सफल हो गई। साहू पूर्ण रूपेण आवेश में बह गया। चमकती हुई आँखों से उसने भी आवेश में आकर कहा—"सचमुच, तुम में वह शक्ति है कि मराठा पताका को तुम आसमान पर फहरा सकते हो,—सर्व शक्ति मान के

मालवा पर आधिपत्य

१७२४ में, अपनी स्थिति को दृढ़ करने तथा आन्तरिक विरोध का अन्त करने के बाद बाजीराव ने मालवा पर आक्रमण किया और मुगल सूबेदार को पराजित कर वहाँ, साहू के प्रतिनिधियों के रूप में उदय जी पवार, मल्हार राव होल्कर और रानोजी सिंधिया को, जो कि क्रमशः धार, इन्दौर और ग्वालियर के राज्य के संस्थापक थे, और खाण्डेराव तथा उसके उपनायक पीला जी गायकवाड़ को छोड़ दिया और गुजरात के सिर पर नियमित नजराना लगा दिया।

निजाम से संघर्ष

बाजीराव ने साहस के साथ कुचक्री निजाम की योजनाओं पर पानी फेरने का निश्चय कर लिया। निजाम ने दक्षिण पर पूरा दखल जमा लिया था और साहू तथा पेशवाओं के अस्तित्व तक से इन्कार करने लगा था। निजाम ने पहले बाजीराव के प्रतिद्वन्द्वी प्रतिनिधि को मराठा मन्त्रि-मण्डल में प्रभुत्व स्थापित करने में सहायता दी, फिर उसने इस प्रकार व्यवहार किया मानो साहू और सम्भा जी के सिंहासन पर अधिकार के सम्बन्ध में वह कुछ जानता ही न हो, जैसे उसे निर्णय करने का अधिकार हो कि मराठा सिंहासन पर कौन बैठेगा। किन्तु कुचक्री निजाम बाजीराव का मुकाबला नहीं कर सकता था। बाजीराव ने सहसा उस पर आक्रमण कर उसे पालखण्ड के युद्ध में पराजित कर दिया और अन्त में उसे साहू को मराठों का एक मात्र राजा स्वीकार करने के लिए बाध्य कर दिया। न केवल इतना ही, वरन् उसने निजाम को चौथ और सरदेश मुखी की रकम जो इतने दिनों से वसूल नहीं हो सकी थी, उसे भी देने के लिए बाध्य कर दिया। (१७२८) (मुंगी

सिंहासन पर उसे स्थापित कर सकते हो!'—किनकैड और परासनिस, हिस्ट्री आफ मराठा पीपुल, खंड २, पृष्ठ १८४।

साहू के काल में महाराष्ट्र के सभी लोगों को वास्तव में स्वराज्य मिल गया था और उनकी साम्राज्यवादी भावना आधार पाकर तेज हो उठी थी।—सरदेसाई पृष्ठ ११०-१४।

शिवगांव की संधि)। साहू इस प्रकार मराठा स्वराज्य का प्रतिद्वन्द्वी हीन राजा हो गया और साहू के दरबार में बाजीराव सबसे आगे बढ़ गया। अगले वर्ष पेशवा ने गुजरात प्रान्त के मुगल सूबेदार से उसके सूबे से भी चौथ वसूल करने का अधिकार प्राप्त कर लिया।

निज़ाम ने पेशवा पर अंतिम चोट करने का प्रयत्न किया। उसने अब सेनापति अम्बक राव दाभड़े को, जो गुजरात में अपनी जड़ें जमाए था, अपने साथ लेकर साहू पर चढ़ाई करने तथा सतारा के सिंहासन के लिए प्रतिद्वन्द्वी दावेदार खड़ा करने की योजना बनाई। किन्तु इसमें वह सफल नहीं हो सका और युद्ध में उसे मात खानी पड़ी। इस युद्ध का एक ही नतीजा निकला। वह यह कि दाभड़े की सत्ता उसके उपनायक पीलाजी गायकवाड़ के हाथों में चली गई जिसने बड़ौदा के राज्य की स्थापना की। अपनी हर योजना में मुँह की खाने के बाद निज़ाम ने अन्त में बाजीराव के लिए अपने मालवा में प्रवेश करने का मार्ग मुक्त करने का प्रस्ताव किया। किसी न किसी प्रकार वह दक्षिण में अपनी स्थिति को दृढ़ बनाए रखना चाहता था। दिल्ली पर अब उसे कोई भरोसा नहीं रहा था। मराठों के खतरे से वह बचना चाहता था, इस लिए उसने पेशवा के लिए अपनी उत्तरी आकांक्षा पूर्ण करने का मार्ग मुक्त कर दिया। १७३१ में बाजीराव और निज़ाम में एक आपसी समझौता हो गया जिसका आगे की घटनाओं पर भारी प्रभाव पड़ा। मल्हार राव होलकर ने मालवा पर आक्रमण कर दिया और वहाँ के सूबेदार को उसने हरा दिया और पेशवा बाजीराव ने तेज गति से बुन्देलखण्ड के मुसलमान शासक को खदेड़ कर अपना आधिपत्य जमा लिया (१७३१-३३)। इस देश के बड़े-बड़े राजपूत सरदार अधिकाधिक संख्या में मराठों की ओर हो गए। दिल्ली के सम्राट ने भारी सेना जमा की, किन्तु फुर्तीले मराठा उसकी पकड़ में नहीं आ सके। सन्धि के लिए उन्होंने इतनी गहरी शर्तें प्रस्तुत कीं कि भयभीत सम्राट भी उन्हें स्वीकार नहीं कर सका। अन्त में स्वयं बाजीराव दिल्ली के निकट तक पहुँच गया और होलकर ने यमुना को पार कर दो-आब पर धावे शुरू कर दिये। सआदत अली, जो सैयद-विरोधी

षड्यंत्रकारियों में था, अब अवध का नवाब वजीर बना हुआ था। उसने प्रत्याक्रमण कर होल्कर को दोआब से बाहर कर दिया और इसके बाद दिल्ली के निकट शाही जेनरल के साथ जाकर मिल गया। अजमेर रोड पर दोनों शत्रु की प्रतीक्षा करने लगे। इस बीच बाजीराव ने, अत्यधिक द्रुत गति से आगे बढ़ कर, दिल्ली और मुगल सेना के बीच के प्रदेश में घुस वहाँ लूट-मार शुरू कर दी। सम्राट के सम्मुख यह मांग रख कर कि मालवा का शासन उसे सौंप दिया जाए, फिलहाल, वह दक्षिण लौट आया (१७३६)। अब सम्राट ने निजाम उल-मुल्क को अपनी मदद के लिए आवाहन किया। निजाम-उल-मुल्क भी मराठों के भारी विस्तार और उनके इरादों से बहुत आतङ्कित हो गया था। बुरहानपुर से वह उत्तर की ओर बढ़ा, सेना जमा करके उसने जमना पार की और बुन्देलखण्ड में उसने प्रवेश किया। किन्तु उसकी आयु और क्षीण सेना मराठा घोड़ सवारों का मुकाबला नहीं कर सकते थे। उसका रास्ता रोक दिया गया, उसकी पांत में दरार डाल दी गई और, अन्त में, भोपाल के निकट बाजीराव ने उससे दुगुनी सेना लेकर उसे अवरुद्ध कर दिया और, साथ ही, एक अपमान जनक सन्धि पर हस्ताक्षर करने के लिए उसे बाध्य कर दिया। इस सन्धि के अनुसार बाजीराव का समूचे मालवा और चम्बल तथा नर्मदा के बीच के प्रदेश पर स्वामित्व स्थापित हो गया। लूट का माल भी भारी मात्रा में उसके हाथ लगा। अन्त में सम्राट को भी इस सन्धि को स्वीकार करना पड़ा (१६३८)। निजाम और सम्राट दोनों को ही इसमें काफी नीचा देखना पड़ा और बाजीराव ने "भारी विजय" प्राप्त की।

इस प्रकार मराठों की सत्ता हिन्दुस्तान में भी स्थापित हो गई और ऐसे प्रदेशों पर उनका आधिपत्य हो गया जहां से वे सहज ही दिल्ली और आगरा पर आक्रमण कर सकते थे। मुगल साम्राज्य नादिरशाह के घातक आक्रमण से और भी खण्डित हो गया था। सआदत खाँ मर चुका था और निजाम फारस के विरुद्ध युद्ध में पराजित होकर और भी नीचे गिर गया था। बाजीराव अपनी पूरी ऊँचाई पर खड़ा था। यद्यपि निजाम के राज्य पर अपने आक्रमण में,

उस समय जबकि निजाम दिल्ली में था, बाला जी सफल नहीं हो सका था, लेकिन इस विफलता को उसने दूसरे रूप में पूरा कर लिया। बरार के प्रमुख रघुजी भोंसले के नायकत्व में उसने करनाटक पर आक्रमण करने की भारी योजना बनाई। इस योजना में उसने सफलता प्राप्त की और मैसूर के दूर स्थित राजा को नजराना देने के लिए बाध्य कर दिया। बेसीन तथा उसके पास के इलाके में पुर्तगीजों के विरुद्ध भी उसने सेना भेजी और पेशवा के भाई चिमना जी ने न केवल बेसीन के सुदृढ़ किले पर ही अधिकार कर लिया वरन् स्वयं गोआ के अस्तित्व के लिए भी खतरा उत्पन्न कर दिया। पुर्तगीज़ों ने बेसीन की रक्षा के लिए बहादुरी के साथ युद्ध किया, किन्तु सफल नहीं हो सके। इसके पतन ने बम्बई के अंग्रेज़ों को भी सशंक कर दिया कि कहीं उनकी गति भी ऐसी न हो। किन्तु इन सफलताओं के बीच में ही, १७४० में, बयालीस वर्ष की आयु में बाजीराव की मृत्यु हो गई। वह सच्चे अर्थ में बड़ा आदमी था,—योद्धा की हैसियत से भी और नीतिज्ञ की हैसियत से भी। मराठा घोड़सवारों के रण-कौशल को उसने पूर्णता तक पहुँचा दिया था। निजाम के विरुद्ध उसके युद्ध उसकी रण-नीतिज्ञता के परिचायक थे। युद्ध के क्षेत्र में भी, और युद्ध के बाद विजयी होने पर भी, वह अपनी उदार हृदयता को नहीं छोड़ता था। अपने पिता की ऊँची राजनीतिक आकांक्षाएँ उसे विरासत में मिली थीं और उन्हीं को उसने अपना आदर्श बना लिया था। अपने जीवन काल में हो उसने मराठा-साम्राज्य को समूचे हिन्दुस्तान में फैलते हुए देखा...दिल्ली से तञ्जोर तक। वह बहुत ही अच्छा और प्रभावपूर्ण वक्ता था और जो हृदय से उसका साथ देते थे, उनका वह उदार-हृदय स्वामी था।*

बाला जी बाजीराव का शासन (१७४०)

नया पेशवा बाला जी बाजीराव सैनिक योग्यता और क्षमता में अपने पिता से कम था, किन्तु उसने लूट और मार का क्षेत्र अत्य-

* कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, खंड ४, पृष्ठ ४०७।

धिक विस्तृत कर दिया। उसके काल में राष्ट्रीय (जातीय) भावना के लिए लूट-मार का पर्यायवाची बनाने का खतरा उत्पन्न हो गया। रघुजी भोंसले के नेतृत्व में सरदारों का एक दल उसके पेशवा बनाए जाने के विरुद्ध था ; किन्तु साहू ने उसका समर्थन किया और अपने पिता की आकांक्षा को पूर्ण करने के लिए प्रोत्साहित किया। रघुजी भोंसले उस समय देश से दूर करनाटक पर चढ़ाई करने में व्यस्त था। इसमें सफलता प्राप्त करने के बाद वह प्रायः प्रति वर्ष बंगाल के नवाब अलीवरदी खाँ के विरुद्ध आक्रमणों में फँसा रहा। अपने सुप्रसिद्ध सेना नायक भास्कर पण्डित की सहायता से वह कटक और उड़ीसा का स्वामी बन गया (१७४३-४५) और फिर सीधे राजधानी, मुर्शीदाबाद, पर उसने आक्रमण कर दिया। अनेक बार कलकत्ता तक को उसने कँपा दिया। अन्त में पेशवा और रघुजी भोंसले में एक गुप्त समझौता हो गया कि वे एक-दूसरे के भावी कार्यों में दखल नहीं देंगे। १७५१ में भोंसले को अलीवर्दी खाँ ने उड़ीसा का स्वामी मान लिया और बिहार तथा बंगाल की चौथ के रूप में बारह लाख नजराने में भेंट किए।

मराठा संघ का विस्तार

पेशवा के छोटे भाई रघुनाथ राव ने—जो बाद में काफी बदनाम हो गया—राजपूताना, यहाँ तक कि जाटों को भी, नजराने और कर देने के लिए बाध्य कर दिया। जयप्पा सिंधिया ने रोहिल्लों के प्रदेश को रौंद डाला और अवध में सआदत खाँ के उत्तराधिकारी के विरुद्ध चढ़ाई कर दी। बाला जी के काल में मराठा-सङ्घ, उसके कितने ही सदस्यों की महत्त्वाकांक्षाओं के फलस्वरूप, पहले से कहीं अधिक बड़ा और मजबूत हो गया। उसने, असंदिग्ध रूप से, अपने पद के खान्दानी रूप को सुरक्षित रखा और अपने उपनायकों के मतभेदों तथा प्रतिद्वन्द्विताओं को अपने नियंत्रण से बाहर नहीं होने दिया। अब उसके लिए राजा के पद पर अधिकार करना भर शेष रह गया था।

सातवाँ परिच्छेद

साहू का शासन

साहू धीरे-धीरे मृत्यु की ओर अग्रसर हो रहा था। काफी दिनों से वह बीमार था और सारा राज-काज उसने पेशवा के हाथों में छोड़ दिया था। वह आलसी और अनुदार विचारों का भी था। किन्तु वह निरी कठपुतली नहीं था और अपना मान तथा मर्यादा का रक्षा करना जानता था। वह सैनिक मुहिमों का नियंत्रण करता था, सेना-नायकों को निर्देश देता था और महत्वाकांक्षी पेशवा तक को सँभल कर चलने के लिए बाध्य कर देता था। किन्तु मृत्यु के समय तक वह अपने को मुगल साम्राज्य का अंग ही मानता और समझता रहा और औरंगज़ेब के प्रति उसका श्रद्धा-भाव बराबर बना रहा जिसके घराने में रह कर उसने परवरिश पाई थी। अन्तिम वर्षों में अपनी दो पत्नियों के झगड़ों से वह बहुत परेशान रहा। अपने उत्तराधिकारी का चुनाव न कर सकने के कारण भी वह चिन्तित था। साहू निस्सन्तान था और उसका चचाजाद भाई, कोल्हापुर का प्रतिद्वन्द्वी राजा, भी निस्सन्तान था। साहू की पत्नी सुकवर बाई अपने एक सम्बन्धी को गोद ले लेने पर जोर दे रही थी। बड़ी रानी ताराबाई ने, जो सदा की भाँति अब भी दुर्दमनीय थी, एक लड़के को खड़ा करते हुए कहा कि यह मेरा पोता है। अपने इस पोते के रीजेन्ट के रूप में वह स्वयं शासन करना चाहती थी। देश में ताराबाई की ख्याति थी। वह देश की बड़ी सेवा कर चुकी थी। पेशवा के उत्थान से क्षुब्ध और असन्तुष्ट सभी लोगों का समर्थन उसे प्राप्त हो गया। किन्तु बाला जी ने अपने कौशल से सुकवर बाई और ताराबाई की सभी योजनाओं पर पानी फेर दिया। उसने एक दस्तावेज प्रकाशित किया जिसके सम्बन्ध में घोषित किया गया कि स्वयं साहू ने उसे तैयार किया था। इस दस्तावेज में राजवंश के नाम और शिवा जी की प्रतिष्ठा तथा परम्परा को सुरक्षित रखते हुए शासन का सारा कार्य पेशवा को सौंप दिया गया था। इस दस्तावेज़ के अनुसार, पेशवा को अब ताराबाई के पोते के नाम पर शासन-भार सँभालना था,—अर्थात् शासन-कार्य

पूर्ववत जारी रखना था।* साहू के इस दस्तावेज में बालाजी के पेशवा-पद को स्वामित्व प्रदान करते हुए कहा गया था कि 'मेरे उत्तराधिकारियों को पेशवा के पद में दखल देने का कोई अधिकार नहीं होगा।'' इस दस्तावेज़ ने ताराबाई की महत्त्वाकांक्षा पूर्ण योजना को खटाई में डाल दिया। अपने पोते से सम्बंध-विच्छेद कर उसने गायकवाड़ को पेशवा के विरुद्ध खड़ा करके एक अन्तिम प्रयत्न और किया। किन्तु जब इसमें भी वह विफल हो गई तो सतारा में जाकर उसने अपने को, अपने पोते के साथ, बंद कर दिया और, १७६१ में, वहीं उसकी मृत्यु हो गई।

पेशवा का राजसत्ता पर अधिकार

इस प्रकार पेशवा ने अपने प्रभुत्व और स्वामित्व के लिए वैधानिक जमीन तैयार कर ली। राजवंश की सन्देहास्पद परम्परा ने उसके हाथ और भी मजबूत कर दिए। राजा दुर्बल व्यक्तित्व का था और फिर उसे ताराबाई ने कैद भी कर लिया था क्योंकि उसने एक समझौते पर हस्ताक्षर (संगोला समझौता) कर दिए थे जिसके अनुसार राज्य के सभी प्रमुख पद पेशवा के अनुयायियों को दे दिए गए थे। पूना, जहाँ पेशवा रहता था, इसके बाद से सतारा की जगह महाराष्ट्र का राजनीतिक और सैनिक केन्द्र बन गया। मराठा राज्य का भी अब, खुले रूप में, मराठों सरदारों का संघ बन गया था जिसका प्रधान पेशवा था। इस प्रकार पेशवा का पद राज-पद हो गया। सभी उसकी आज्ञा मानते थे और उसके पद की प्रतिष्ठा करते थे। अपने पद के कारण पहले से कहीं अधिक सत्ता-धारी वह बन गया।

परिवर्तन अनिवार्य

साहू ने पेशवा के हाथों में सत्ता हस्तान्तरित करने के लाभों को समझ लिया था और उसने अपने उत्तराधिकारी को पेशवा के आधीन छोड़ने का निश्चय कर लिया था। पेशवा के हाथों में "सत्ता

---

* इस प्रसंग का सुस्पष्ट विवरण किनकैड और पारसनिस ने दिया है। देखिए खंड २, पृष्ठ ३०६-३११।

सहज, स्वाभाविक और प्रगतिशील" ढंग से पहुँच गई। इस परिवर्तन की ज़िम्मेदारी मराठा सरदारों और ताराबाई के सिर पर अधिक थी। इस परिवर्तन का सबसे बड़ा दोष यह था कि इसने मराठा सत्ता का अत्यधिक विकेन्द्री-करण कर दिया और ब्राह्मणों तथा मराठों का द्वन्द्व और भी तेज हो गया। भोंसले वंश के हाथ में जब तक वास्तविक सत्ता रही तब तक ब्राह्मण-मराठों का संघर्ष नियंत्रित रहा, किन्तु अब उसने उग्र रूप धारण कर लिया और पानीपत के युद्ध में पेशवा की पराजय के बाद से तो इस विच्छिन्नता की गति और भी तेज हो गई। किन्तु पेशवा भी सावधान थे और अन्त तक वे राजवंश के सेवक के रूप में ही काम करते रहे। सभी दस्तावेजों पर वे राजा के ही हस्ताक्षर कराते थे।

परिवर्तन का महत्व

मराठा राज्य में यह परिवर्तन—जो क्रान्तिकारी परिवर्तन था—अधिकांशतः पेशवा के प्रयत्नों का ही फल था, किन्तु इसकी जिम्मेदारी, निश्चयात्मक रूप से, अधिकांशतः साहू-वंश के सिर पर ही थी। "साहू और ताराबाई के संघर्ष ने ही बाला जी विश्वनाथ को उभरने का अवसर प्रदान किया था। सम्भा जी की राजद्रोही भावनाओं और कृत्यों ने ही बाजीराव के उत्थान की जमीन तैयार कर दी थी। साहू की पत्नियों के द्वन्द्व और ताराबाई की महत्वाकांक्षा ने ही बाला जी के हाथ में राजसत्ता पहुँचा कर शिवाजी वंश का महत्व कम करने में सहायता दी थी......लेकिन जिम्मेदारी चाहे जिसको भी हो, जो कुछ हुआ उसके सिवा और कुछ हो भी नहीं सकता था। रामराजा की गिरफ्तारी के साथ भोंसले वंश की महान् गाथा का अन्त हो गया। उसके बाद चितपावन गाथा का प्रारम्भ हुआ और, १८१८ में, उसका भी अन्त हो गया।*

---

* किनकैड और परासनिस, खंड दो, पृष्ठ ३१७।

[३]

सिखों का उत्थान

सिखों का उत्थान, जिसने मुगल साम्राज्य के पतन में काफी योग दिया, ध्यान देने योग्य है। बाबा (या गुरु) नानक, सिखों के संस्थापक (१४६९-१५३९), मध्यकालीन भारतीयों सुधारकों में सबसे अधिक कोमल और रहस्यवादी थे। जब से उन्होंने धार्मिक सुधारक का अपना जीवन शुरू किया तब से वह 'एक महान् और सच्ची आत्मा' का उपदेश देते रहे। तीर्थ-यात्राओं के वे विरोधी थे, पूजा-पाठ और मन्दिरों में जाने की निन्दा करते थे। इनकी जगह वे "विशुद्ध प्रार्थना, सच्चे प्रेम और पुण्य-कार्यों" का प्रचार करते थे। आचार-व्यवहार की शुद्धता और नैतिकता पर वे जोर देते थे। अपने अनुयायियों का पहला और प्रमुख कर्तव्य वे व्यवहार की श्रेष्ठता बताते थे। उनके सुधार, जो अपने तुरत प्रभाव में आध्यात्मिकता और नैतिकता की भावना का पोषण करने वाले थे, आगे चल कर बहुत महत्वपूर्ण फलप्रद सिद्ध हुए। "वे यह नहीं चाहते थे कि उनके अनुयायी किसी सम्प्रदाय की रचना करें और उनके व्यापक सिद्धान्त संकुचित मठों वाली सीमाओं में बँध कर रह जाएँ।"*

गुरु नानक के उपदेश

नानक पहला हिन्दू सुधारक था जिसने मस्तिष्क को धार्मिक अंध-विश्वासों और कल्पनाओं से पूर्णतया मुक्त करने का प्रयत्न किया था। हृदय-द्रावक भाषा में वह उस एक सर्वशक्तिमान का उपदेश देता था जो "विष्णु से बड़ा था, ब्रह्म से ऊपर था, शिव से श्रेष्ठ और राम तथा कृष्ण का जन्म दाता था।" ब्राह्मण पुजारियों और पुरोहितों पर, मुल्लाओं पर, वह पूरी शक्ति से आक्रमण करता था। वह पहला हिन्दू था जिसने निरंकुशता, अत्याचार और दमन के विरुद्ध आवाज ऊँची की। मुसलमानों से वह मुक्त हृदय से मिलता था और उसका यह वचन कि "न कोई हिन्दू है, न मुसल-

* जे० डी० कनिंघम—ए हिस्ट्री आफ दि सिख (१९०४), पृष्ठ ६९।

मान" लोगों की ज़ुबान पर चढ़ गया। उसका पंथ और अन्य सुधार-आन्दोलनों से भिन्न था। उसकी पहली विशेषता यह थी कि वह साम्प्रदायिक भावनाओं से मुक्त था। उसकी दूसरी विशेषता यह थी कि वह ऐहिक, दुनियावी, (सिक्युलर) था। "उसने पंजाब की समूची हिन्दू विचार धारा को प्रभावित किया और सभी लोगों का आध्यात्मिक तथा नैतिक स्तर ऊँचा करने में उसने योग दिया। यह उसकी विशेषता थी कि उसने ऊँची से ऊँची दुनियावी आकांक्षा और पवित्रतम दैवी जीवन का एक दूसरे का विरोधी न घोषित कर उन्हें एक-दूसरे का पूरक बनाने में योग दिया।"*

गुरु अंगद, अमरदास, रामदास

अपने किसी एक पुत्र को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करने के बजाय गुरु नानक ने अपने शिष्य लेहना को, जिसे उसने अंगद का नाम दिया, अपना उत्तराधिकारी चुना। सिख जाति के विकास में अंगद का नियुक्त होना बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। उसने पूरी भक्ति के साथ अपने गुरु के पंथ का अनुसरण किया और पंथ को खान्दानी गुरुओं के हाथ में पड़ने से बचा लिया। अपढ़ होने पर भी अंगद गुरु ने गुरुमुखी वर्णमाला का आविष्कार किया। सिखों के सभी धर्म-ग्रंथ इसी लिपि में लिखे हुए हैं। उसने अपने गुरु के संस्मरण संकलित किए और लंगर की स्थापना कर उसने पंथ को जनप्रिय बनाने में योग दिया। उसके काल में सिख अनुदार हिन्दुओं की पांत से अलग होने लगे और उन्होंने अपनी अलग एक बिरादरी बना ली। तीसरे गुरु अमरदास को (१५५२-७४) उदासियों के सम्प्रदाय का विरोध सहना पड़ा। उदासी निरे वैराग्य का प्रचार करते थे। गुरु अमरदास अपने अनुयायियों से बसे प्रदेशों को जिलों में विभाजित कर प्रत्येक जिले का एक सिख मुखिया नियुक्त कर दिया। इस मुखिया के जिम्मे पंथ का प्रचार करना होता था। इस

* गोकुल चन्द नारंग—दि ट्रान्सफार्मेशन आफ सिखिज्म (१९१२) पृष्ठ १३ और १४; और इन्दु भूषण बनर्जी—इवोल्यूशन आफ दि खालसा, खंड १;—दि फाउन्डेशन आफ दि सिख पन्थ (११-३९), परिच्छेद चार और पाँच।

प्रकार पंथ के अनेक स्थानिक केन्द्र बन गए। चौथे गुरु रामदास ने (१५७४-८१) अपने अनुयायियों की स्वेच्छा-प्रदत्त भेंटों को एक व्यवस्थित रूप दे दिया और इस प्रकार भेंटों का दिया जाना नियमों के अनुसार होने लगा। सहानुभूतिशील सम्राट अकबर से उसे अमृतसर नगर भेंट में मिल गया और वहाँ उसने एक पुराने ताल का पुनर्निर्माण कर उसका नया नाम अमृत सागर रख दिया। इस अमृत सागर के बीच में उसने एक गुरु द्वारा भी बनवाया। इस प्रकार अमृतसर सिखों का प्रमुख केन्द्र हो गया। अमृतसर की स्थिति भी अच्छी थी। मुगल सम्राट की सहानुभूति पाकर पंथ जाटों तथा दूसरे लोगों में अधिकाधिक प्रिय हो गया था।

गुरु अर्जुन सिंह (१५६१ १६०६)

गुरु अर्जुन सिंह (१५८१-१६०६) ने अमृतसर में हर मन्दिर का निर्माण पूरा कर दिया। अमृतसर नगर अब आबादी और सम्पन्नता में तेजी के साथ आगे बढ़ रहा था। गुरु अर्जुन सिंह ने आदि ग्रंथ का संकलन किया जिसमें उसके पहले के गुरुओं के बनाए हुए बोल संग्रहीत हैं। इस आदि ग्रंथ में उसके अपने बोल, पद्य, भी संग्रहीत हैं। कबीर, मीराबाई जैसे अन्य धार्मिक सुधारकों के पद्य भी इसमें पाए जाते हैं। इसकी एक प्रति हर मन्दिर में रखी रहती थी और यात्रियों के सम्मुख उसका पाठ होता था (१६०४)। गुरु ने कर का एक नियमित व्यवस्था संघटित की और प्रति वर्ष सभी अनुयायियों की जातीय सभा का आयोजन शुरू कर दिया। इस प्रकार उसने सिखों को एक नियमित व्यवस्था के सूत्र में बांध दिया। उसने अपने पंथ में भारी संख्या में लोगों को दीक्षित किया। वह पहला गुरु था जिसने राजसी जीवन का श्री गणेश किया। शाहजादा खुसरो के विद्रोह का साथ देने के कारण सम्राट जहाँगीर ने उसे बन्दी घर में यातनाएँ देकर मार डाला। इस घटना के बाद से सिखों के हृदय में मुगलों के प्रति गहरी घृणा घर कर गई और उनके धार्मिक जोश में तीखी राजनीतिक मदांधता का भी प्रवेश हो गया। गुरु की शहादत के बाद सिख-धर्म के विकास का एक नया दौर शुरू हुआ और सिख सैनिकता की ओर,

लड़ाकूपन की ओर, अग्रसर होने लगे। अब सिखों ने मुगल सत्ता के विरुद्ध लड़ाकू राजनीतिक दल का रूप धारण कर लिया जिसके हाथ में कट्टर शत्रुता का अस्त्र था।

सिख सम्प्रदाय का सैनिक करण

अर्जुन सिंह की हत्या का तुरत प्रभाव पड़ा। उसके उत्तराधिकारी हर गोविन्द ने नानक के कोमल उपदेशों का पथ छोड़ कर साहसिकता का पथ अपनाया। "उसने अपने अनुयायियों को मांस खाने का उपदेश दिया जिससे उनके शरीर शक्ति-सम्पन्न हो सके। सन्तपन की जगह जीवन को सार्थक करने के लिए उसने जोश और लगन को प्रश्रय दिया और अर्जुन की अनुशासन-प्रणाली को उसने व्यवहार में लाकर और भी पूर्ण बना दिया। उसके तुरत बाद के दो उत्तराधिकारियों ने भी उसी के पथ और नीति का अनुसरण किया और महान गुरु गोविन्द सिंह के लिए उन्होंने जमीन तैयार कर दी।'*

हर गोविन्द सिंह ने नियमित ढंग से सैनिक व्यवस्था का संघटन किया, अपने अनुयायियों को शस्त्रों से सुसज्जित कर उन्हें युद्ध के लिए तैयार कर दिया। जहाँगीर और शाहजहाँ की सेवादारी में वह युद्ध के मैदान सर कर चुका था। बाद में असन्तुष्ट होकर उसने शाही सेवादारी के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और भाग कर ऊपर सतलज की पहाड़ियों में छिप गया। मजबूत काठी वाले जाट किसान काफी संख्या में उसके अनुयायी हो गए थे। जब उसकी मृत्यु हुई तो उसे 'राष्ट्रीय दुर्घटना' कह कर सभी ने शोक मनाया।

गुरु तेग बहादुर

अगले दो गुरुओं ने विशेष ख्याति नहीं प्राप्त की। नौवां गुरु तेग बहादुर (१६६४-७५) उल्लेखनीय सिद्ध हुआ। उसने पंथ में उत्पन्न प्रतिद्वन्द्विता का अन्त कर दिया और एक तरह के शाही दरबार की स्थापना की और हिन्दुस्तान के विभिन्न भागों को,

---

* सर डॉ० इब्बटसन की "सेन्सस रिपोर्ट आफ दि पंजाब," १८९१।

प्रचार के लिए, उसने यात्रा की और स्थानिक सिखों का संघटन किया। यह उसी का प्रभाव था जो औरंगजेब अपनी इसलामी करण की योजना और जोश को अधिक आगे नहीं बढ़ा सका। औरंगजेब ने राजद्रोह का अभियोग लगाकर उसे गिरफ्तार कर लिए और, मुक्ति के लिए, इसलाम कबूल करने की शर्त रखी। किन्तु धर्म बदलने से अधिक अच्छा उसने मृत्यु को अपनाना समझा। फलतः औरंगजेब के आदेश से उसका सिर धड़ से अलग कर दिया गया, उसके शव का अंग भंग कर उसे अपमानित किया गया। इस घटना ने सिखों के सैनिक जोश में और भी तेजी उत्पन्न कर दी। अब गुरु गोविन्द सिंह के लिए पूरी तरह जमीन तैयार हो गई थी जिसने मुसलमानों से प्रतिशोध लेने की शपथ ग्रहण की और अपने अनुयायियों को धार्मिक तथा सैनिक बिरादरी—कामन वैल्थ—के रूप में संघबद्ध करने का निश्चय कर लिया।

गुरु गोविन्द सिंह (१६७५-१७०८)

दसवें और अन्तिम गुरु गोविन्द सिंह (१६७५-१७०८) ने पंथ के बाह्यरूप और परिपाटी में सम्पूर्ण परिवर्तन कर दिया। बीस वर्षों तक (१६९५ तक) वह हिमालय की शान्त पहाड़ियों में छिप कर अपनी जाति के संघटन और सुधार-कार्य में लगा रहा। औरंगजेब की धर्मान्धता और दक्षिण के युद्धों में उसके फँसे रहने से गुरु को अपने कार्य-साधन में और भी प्रोत्साहन तथा प्रेरणा मिली। "वर्ण-व्यवस्था और जाति-भेद का नाश, आपस में एक-दूसरे के तथा गुरु के बीच हितों और सुविधाओं की समानता, समान उपासना, समान तीर्थ-स्थल, सभी जातियों के लिए समान दीक्षा-पद्धति और सबसे अन्त में समान बाह्य रूप, समान नेतृत्व और समान जातीय आकांक्षा इन सब साधनों से गुरु गोविन्द सिंह अपने अनुयायियों में एकता स्थापित करना चाहता था।"*

पन्थ का पुनर्संघटन

गुरु गोविन्द सिंह ने अपने आततायियों पर पलट कर आक्रमण करने और पीछा करने वाले भेड़ियों को दुम दबा कर भगाने के

* नारंग—ट्रान्सफार्मेशन आफ सिखिज्म, पृष्ठ ८२।

लिए बाध्य करने की शिक्षा सिखों को दी और इसके लिए उन्हें तैयार किया। वह अपने अनुयायियों में यह भाव भरता था कि विजय करने के लिए ही तुमने जन्म लिया है, खालसा के साथ ईश्वर सदा रहता है, और जहाँ भी पाँच सिख जमा हो जाएँगे, गुरु की आत्मा को वे अपने साथ पाएँगे। वह अनुभव करता था कि स्वयं काल की गति ने उसे नेतृत्व करने के लिए उत्पन्न किया है जैसा स्वयं उसने अपनी जीवन-कथा विचित्र नाटक में वर्णन किया है। अपने अनुयायियों में वीर-भावना जाग्रत करने के लिए उसने उनके नामों में सिख के स्थान पर बदल कर सिंह कर दिया। इस प्रकार उसने सिखों को सिंहों के—राजपूतों के—स्तर पर पहुँचा दिया। सभी वर्गों और श्रेणी के लोगों में से वह अपने अनुयायी भर्ती करता था और उन्हें सैनिक जीवन की कठोरताओं से अभ्यस्त होने तथा गोरिल्ला-युद्ध की शिक्षा देता था।*

उसका जीवन वृत्त

इस प्रकार लड़ाकू (सैनिक) जातीयता की रचना करने के बाद पंजाब की पहाड़ी रियासतों के राजाओं पर उसका प्रभाव बहुत बढ़ गया और स्वयं अपने लिए उसने एक पहाड़ी प्रदेश में अपना राज्य स्थापित कर लिया। यह राज्य उसका प्रमुख आधार, अड्डा, था जहाँ से वह मुगलों के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही कर सकता था। कांगड़ा के शासक दिलावर खाँ के नेतृत्व में शाही मुगल सेनाओं को उसने पराजित किया और, १७०१ में, उसे अपने आनन्दपुर के किले में बन्द रहना पड़ा और फिर वहाँ से अपने मुट्ठी-भर अनुयायियों के साथ भाग कर पटियाला में शरण लेने के लिए बाध्य होना पड़ा।

---

* उसके अनुयायी केवल तलवार के भक्त होते थे और उन्हें और धार्मिक कृत्य नहीं करना होता था। तलवार के प्रति भक्त होने से ही वे कृतनाश, कुलनाश और कर्मनाश—सभी बंधनों से मुक्त हो जाते थे। तलवार की भक्ति सबसे ऊँची भक्ति थी जो इस और उस लोक में सुखी तथा सम्पन्न बनाने वाली थी।

इसके कुछ काल बाद वह बहादुरशाह की सेवादारी में दाखिल हो गया और अपने सम्राट के साथ उसके दक्षिणी अभियान में उसने योग दिया जहाँ उसे दो पठानों ने छुरा भोंककर मार डाला। मृत्यु के समय उसने अपने अनुयायियों को स्थिर और दृढ़ रहने का संदेश दिया था। उसने अपने अनुयायियों को विश्वास दिलाया कि जहाँ भी पाँच सिख जमा होंगे, उसकी आत्मा उनके बीच मौजूद रहेगी। उसने कहा—"सर्व शक्तिमान के आदेश से मैंने पंथ की स्थापना की। सभी सिख ग्रंथ को अपना गुरु मानें। ग्रंथ को ही अपने गुरु का मूर्तिमान रूप समझें। जिनके हृदय शुद्ध हैं, वे गुरु के दर्शन उसके वचनों में करेंगे।" उसने पंथ को अनुयायियों की सम्मिलित बुद्धि के अनुसार चलाने का आदेश दिया, किसी एक शिष्य और उत्तराधिकारी की शक्ति और भक्ति के सहारे नहीं।

उसकी सेवाएँ

गुरु ने अपने अनुयायियों में स्वतन्त्रता और उत्थान की भावनाएँ जाग्रत कर दी थीं। "दिल्ली के स्वामी के मोह-जाल को (ईश्वरोवा दिल्लीश्वरो वा) उसने भंग कर दिया था। मुस्लिम शासन का भय और आतंक अब अपना प्रभाव खो चुका था। गोविन्द सिंह ने हिन्दू जाति के जीवन तत्वों को पहचाना था। उन्हें फिर से अपने अग्निमय तेज से उसने संयुक्त कर दिया था।"* उसने गुरु पद के लिए अपना कोई उत्तराधिकारी नियुक्त नहीं किया। वह नहीं चाहता था कि किसी अयोग्य व्यक्ति के हाथों में पड़ कर यह पद भ्रष्ट हो। इसलिए उसने व्यक्ति की जगह ग्रंथ को ही अपना गुरु मानने का सिद्धान्त अपने शिष्यों के सामने रखा। उसने उन्हें जनतन्त्रीय सिद्धान्तों की शिक्षा दी। इन्हीं सिद्धान्तों की नींव पर सिखों का राजनीतिक और सैनिक संघटन बाद में खड़ा हुआ। उसके सिद्धान्तों के अनुसार प्रत्येक सिख भाई था और सब भाई मिल कर गुरुमाता (जातीय सभा) के निर्णयों के अनुसार कार्य करते थे।

---

* गोकुल चन्द नारंग पृष्ठ १०१।

सातवाँ परिच्छेद

मुगलों के विरुद्ध बन्दा वैरागी का विद्रोह

[१७०८-१६]

बन्दा वैरागी अपने को गुरु का प्रतिनिधि कहता था। उसकी मान्यता थी कि गुरु ने सिखों का नेतृत्व करने के लिए उसे निर्देश दिया है। वेतन भोगी तथा अन्य अस्थायी सैनिकों और अपने भक्त सिखों का एक दल उसने अपने चारों ओर जमा कर लिया। उसने सिरहिन्द के शासक के विरुद्ध सशस्त्र मोर्चा लिया और उसे युद्ध में पराजित कर नगर को लूट लिया। अपनी इस विजय से उत्साहित होकर उसने अपने-आप को हिन्दुत्व का प्रवर्तक घोषित कर दिया और दिल्ली के सूबे तक में उसने अपने कृत्यों से भीषण हलचल उत्पन्न कर दी। जैसा हम पहले वर्णन कर चुके हैं, सम्राट ने उसके विद्रोह का क्रूरतापूर्वक दमन कर दिया, यद्यपि इसमें सम्राट को काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। बन्दा को पकड़ने के सभी प्रयत्न (वह निकल भागा था) विफल सिद्ध हुए। सिखों को मुगल सैनिकों ने खोज-खोज कर खत्म करना शुरू किया। १७१४ में बन्दा फिर पहाड़ियों में से निकल कर बटाला और कलानौर पर टूट पड़ा। उसके विरुद्ध भारी सेना सम्राट ने भेजी। वह पराजित होकर भागा और गुरुदासपुर के किले में उसने शरण ली। यहाँ दीर्घ घेरे के बाद उसने आत्मसर्पण किया। भयानक यातनाओं के बाद उसे मार डाला गया।

अपनी जाति की भक्ति और स्वतंत्रता के लिए बन्दा ने भारी परिश्रम किया था। वह त्याग और निस्वार्थ भावना की साकार मूर्ति था।* उसने सिखों को नयी शक्ति और प्रतिष्ठा प्रदान करने में सफलता प्राप्त की थी और मुगलों की दुर्जेयता की रही-सही कल्पना को चोट देकर उसने गुरु गोविन्द सिंह का कार्य पूरा किया

* वह अपने सिद्धान्तों के अनुसार जीवन बिताने का सदा प्रयत्न करता था। पंथ का उत्थान उसकी एक मात्र आकांक्षा थी। धर्म के पथ पर वह चलता था, पाप से बचता था और सत्य को सदा अपने सामने रखता था। (देखिए गण्डासिंह लिखित "लाइफ आफ बन्दासिंह बहादुर (१९३५), पृष्ठ २५१।

था। उसने हिन्दुओं में आत्मविश्वास की यह भावना भर दी थी कि उनमें लड़ने जीतने की शक्ति मौजूद है। यद्यपि वह सफल नहीं हो सका, खालसा की स्वतंत्रता और श्रेष्ठता की भावना को उसने आगे बढ़ाने में अवश्य सफलता प्राप्त की।

बन्दा के बाद सिखों की स्थिति

१७१६ में बन्दा के पतन के बाद से लेकर १७६८ में उनके लाहौर पर स्थायी आधिपत्य करने तक सिख जाति का जीवन-क्रम काफी रंग-बिरंगा और उतार-चढ़ाव से पूर्ण रहा। कुछ काल तक—वर्षों तक—फार्रुख सियार के दमन का उन्हें शिकार होना पड़ा जो कि उसकी मृत्यु के बाद भी जारी रहा। पंजाब के सूबेदार अब्दुस्समद, खान दौरन ने १७३७ में अपनी मृत्यु के समय तक सिखों का बिना सांस लिए क्रूर दमन किया। उसके बाद उसके पुत्र और उत्तराधिकारी जकरिया खान ने दृढ़ किन्तु सहृदयता-मिश्रित नीति का पालन किया। लेकिन १७२५ तक खालसा सैनिकों के छोटे-छोटे लड़ाकू दल प्रकट होना शुरू हो गए थे। वे लूट-मार और गोरिल्ला-युद्ध में दक्ष थे। १७३१ तक उनके धावों का विस्तार लाहौर तक हो गया और अमृतसर के आस-पास उन्होंने अपनी स्थिति को मजबूत बना लिया। उन्होंने नादिरशाह की माल-लदी गाड़ियों को लूट लिया और दिल्ली तथा लाहौर की अराजकतापूर्ण स्थिति से पूरा लाभ उठाया। नादिरशाह और भारत पर अहमदशाह के प्रथम आक्रमण के बीच के काल में उन्होंने तेजी के साथ अपनी शक्ति को संघटित कर लिया। १७५० तक वे बारी और जालंधर दोआबा के अधिकांश इलाके के स्वामी हो गए। इसके बाद की उनकी गति, बहुत कुछ, मुगल-साम्राज्य के ह्रास की गति के साथ कदम से कदम मिला कर चली।

[४

मुगल साम्राज्य के पतन से पानीपत के युद्ध तक

१७२३-२४ के बाद साम्राज्य की स्थिति

मुहम्मदशाह के पंगुत्व और क्रियाशील शासन-व्यवस्था के निर्माण की सम्भावना को असम्भव अनुभव करके निजाम-उल-

मुल्क के दक्षिण के लिए बिदा हो जाने के बाद दिल्ली में कोई महत्व-पूर्ण घटना नहीं घटी सिवा इसके कि जयसिंह द्वितीय के कृत्य से असन्तुष्ट हो कर जाट, राजपूतों से अलग हो गए और गुजरात, मालवा तथा बुन्देलखण्ड के सूबों पर द्रुत-गति से मराठों का आधिपत्य और स्वामित्व स्थापित हो गया। मराठों के प्रभाव और उपस्थिति से अपने इलाकों को मुक्त करने के लिए निजाम-उल-मुल्क ने भारी प्रयत्न किए थे और उसने चौथ और सरदेशमुखी के आश्वासन के साथ साहू के प्रतिद्वन्द्वी को सिंहासन पर प्रतिष्ठित करने में मदद करने का वचन देकर मराठों से समझौता करने की भी उसने कोशिश की थी। अन्त में उसे बाजीराव की सभी शर्तें स्वीकार करनी पड़ीं और १७३१ में उसने मराठों के धावों का मुँह मालवा की ओर मोड़ने का भी परामर्श दिया। लगभग १००,००० मराठों का गुरिल्ला दल मालवा पर १७३१ में टूट पड़ा और समूचे प्रदेश को उसने रौंद डाला। १७३४ तक वह आगरा के इतने निकट पहुँच गए कि वहाँ से उस पर सहज ही आक्रमण कर सकते थे। मालवा पर बाजीराव के नियंत्रण को सम्राट को चुपचाप स्वीकार कर लेना पड़ा। रोहिल्लाओं की ओर अवध के नवाब वजीर तक में निष्क्रियता और पंगुत्व इतना अधिक था कि वे जमुना पार तक भी बाजीराव के धावों का प्रतिरोध करने में समर्थ नहीं हो सके। इसके बाद १७३५ में बाजीराव की वास्तविक चढ़ाई का हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं। यह भी हम बता चुके हैं कि भोपाल में निजाम-उल-मुल्क ने कितने लज्जास्पद ढंग से आत्मसमर्पण कर दिया था जिसके फलस्वरूप मराठा राजधानी पर सहज ही आक्रमण करने तक की स्थिति में पहुँच गए। निजाम का घुटने टेकना सचमुच में लज्जास्पद था और उसने मराठों को जो प्रदेश भेंट किए वे उसके अपने इलाकों से भिन्न दूसरे प्रदेश थे। उसका उद्देश्य सम्भवतः चम्बल और नर्मदा के बीच एक स्वतंत्र मराठा राज्य की स्थापना करना था जिससे उसके और सम्राट के बीच एक रोक—मराठा राज्य की दीवार—बनी रहे।

नादिरशाह का उत्थान

नादिरशाह का आक्रमण अधिकांशतः "भ्रष्टाचार, अदूरदर्शिता,

और तथ्यपूर्ण चेतावनियों की निरन्तर उपेक्षा करते रहना था।" सम्राट और उसके वजीर सर्वथा बेखबर बने रहे। नादिरशाह फारस के एक निम्न कुल में उत्पन्न हुआ था। साहसिकता उसमें कूट-कूट कर भरी थी। राज्य-क्रान्ति द्वारा उसने फारस के सिंहासन पर, तुर्की और रूसी आक्रमणों को खदेड़ कर अधिकार कर लिया था। पच्छिमी अफगानों के विरोध का शीघ्रता के साथ अन्त कर दिया, फिर हेरात और कंधार पर उसका आधिपत्य हो गया, मुगल सूबे काबुल और फिर कटक को उसने अपने अधिकार में कर लिया। मुगलों ने लापर्वाही से सीमान्ती कबीलों को 'धन' देना बन्द कर दिया था। फलतः वे सीमान्त मार्ग को खुला और सुरक्षित नहीं रख सके थे। नादिरशाह की शक्ति को भी उन्होंने कम आंका और उसके विरोधों और शिकायतों को अनसुना कर दिया, यहाँ तक कि उसके दूत को भी मार डाला गया। स्वभावतः इन सब चीजों ने नादिरशाह को क्रुद्ध कर दिया। पेशावर तक बढ़ कर उसने उस पर अपना अधिकार कर लिया। फिर इन्दस को पार कर उसने लाहौर के सूबेदार का सहज आत्म-समर्पण प्राप्त कर लिया। इसके बाद वह द्रुतगति से दिल्ली की ओर बढ़ा (जनवरी, १७३९)।

भारत पर आक्रमण

सम्राट और खान दौरन काफी बड़ी सेना के साथ आगे बढ़े। निजाम-उल-मुलक और सआदतखाँ भी सेना के साथ थे। किन्तु इन सब के रहते हुए भी सेना में उत्साह का संचार न हो सका। राजपूतों ने साथ आने से इन्कार कर दिया था। दिल्ली से लाहौर के राज-मार्ग में, करनाल के निकट पानीपत से बीस मील उत्तर में युद्ध हुआ (१३ फरवरी, १७३९)। हिन्दुस्तानी सेना की इस युद्ध में बुरी गति हुई। हार का कारण सेना के अनुपयुक्त हथियार और दोषपूर्ण नेतृत्व था। हिन्दुस्तानी सैनिक हथियारों के प्रयोग में दक्ष नहीं थे। फारस की सेना का अधिक गतिशील होने के कारण प्रारम्भ से ही पलड़ा भारी हो गया था। "हिन्दुस्तानियों ने सबसे अधिक मूर्खतापूर्ण बात यह की कि गोला-बारूद के आधुनिक युग

में हाथियों का इस्तेमाल किया जबकि दूसरी ओर काफी दूर की मार करने वाली तोपें ऊँटों पर लदी हुई थीं।"*

शाह दिल्ली में

खान दौरान धातक रूप में घायल हो गया और सम्रादतखाँ बन्दी बना लिया गया। सम्रादतखाँ निजाम से, और उसके प्रति सम्राट के पक्षपात से, जलता था। सन्देह किया जाता है कि उसीने नादिरशाह को दिल्ली पर आक्रमण कर लूटने का परामर्श दिया था। किस प्रकार मुहम्मदशाह को स्वयं उसकी राजधानी में ले जाया गया, किस प्रकार नादिरशाह ने शाही महल के शानदार खजाने और माल को लूटा, जिसमें मयूर-सिंहासन भी सम्मिलित था और किस प्रकार जनता की लूट और कत्ले-आम का दुःखद दृश्य प्रस्तुत हुआ, यह सब यहाँ वर्णन करने की आवश्यकता नहीं। यह गिरते हुए मुगल-साम्राज्य और उसकी अस्तोन्मुखी शान का दृश्य था। जब तक नादिरशाह दिल्ली में रहा, मुहम्मद शाह अपने ही महल में शाही कैदी बना रहा। दरगाह की यात्रा के बहाने नादिर-शाह अजमेर जाने के लिए भी तैयार हो गया था जिससे बाजीराव और जयसिंह दोनों विचलित हो उठे।

साम्राज्य पर इस आक्रमण का प्रभाव

नादिरशाह ने साम्राज्य के इन्दस पार के इलाकों पर आधिपत्य कर उन्हें अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया था। पश्चिमी सीमान्त में उसने शक्तिशाली विदेशी सत्ता स्थापित कर दी थी जिस पर अहमदशाह अब्दली और उसके वंशजों ने शासन किया। इसके शीघ्र बाद ही पंजाब भी मुहमदशाह के हाथों से निकल गया। "अठारहवीं शती के पूरे उत्तरार्द्ध में अहम्मदशाह अब्दली और उसके वंशजों ने जो काबुल और लाहौर पर शासन करते थे दिल्ली की शान्ति को निरन्तर आतंकित रखा। उनका यह आतंक पूर्वी सूबों तक पहुँच गया था।"† डाकुओं के दलों ने पश्चिमी सड़कों पर

---

* डबल्यू. इर्विन—दिलेटर मुगल्स, खंड २, पृष्ठ ३५२।

† इर्विन, खंड २, पृष्ठ ३७१। इर्विन ने इस आक्रमण की तैमूर के आक्रमण से तुलना की है जो तैमूर के पक्ष को अधिक भारी सिद्ध करती है।

शान्तिपूर्ण यातायात को बन्द कर दिया था। इस आक्रमण से दिल्ली के शाही षड्यंत्रों और चालों में कोई कमी नहीं आई। निज़ाम-उल-मुल्क जिसे नादिरशाह अत्यधिक चालाक होने के कारण सन्देह की दृष्टि से देखता था, दक्षिण वापिस लौट गया। अवध सआदतखाँ के भतीजे सफदरजंग को सौंप दिया गया था। मुलतान और पंजाब खान दौरन के पुत्र जकरियाखाँ को दे दिए गए थे। बंगाल में १७४० की घरेलू क्रान्ति के द्वारा बिहार के उपशासक अलीवर्दी खाँ ने नवाब को पदच्युत कर सत्ता पर अपना अधिकार कर लिया था और वह बंगाल, बिहार और उड़ीसा का वाइसराय बन गया था। दक्षिण में नासिरजंग ने, जो निज़ाम का दूसरा पुत्र था और जिसे उसका पिता अपना प्रतिनिधि नियुक्त कर गया था, विद्रोह कर दिया और कुछ काल तक उसे वश में नहीं किया जा सका। बरार के रघुजी भोंसले के मंत्री भास्कर ने राव पंडित के नेतृत्व में मराठों की एक भारी सेना १७४२ में बंगाल पर आक्रमण कर दिया और कुछ जिलों पर अधिकार कर लिया। यद्यपि कुछ कठिनाई से उन्हें बंगाल से खदेड़ दिया गया, लेकिन रघुजी भोंसले ने १७४३ में फिर आक्रमण किया।

इस प्रकार केन्द्र के साथ-साथ सूबों की व्यवस्था भी ठीक नहीं रही थी। सिखों ने फिर सिर उभारना शुरू कर दिया था और मुहम्मदशाह की मृत्यु के बाद से निरन्तर दिल्ली के हृदय में काँटे की भाँति चुभते रहे। स्वयं दिल्ली के सूबे में शान्ति और व्यापार का नाम नहीं रहा। दक्षिणी और पश्चिमी सूबों में मराठों ने अपने को पूर्णतया सुरक्षित कर लिया था और वे बार-बार उड़ीसा तथा दक्षिण-पूर्वी बिहार और बंगाल में, १७४२ में और इसके बाद से, घुसने की कोशिश करते रहे। प्रायः प्रतिवर्ष वे आक्रमण करते थे। अपने जीवन के शेष दिनों में मुहम्मदशाह अधिकाधिक शक्ति-क्षीण होता गया और अवध तथा दक्षिण के शासकों ने, व्यवहारतः, बंगाल के नवाब की भाँति अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया था।

हिन्दू प्रतिक्रिया की प्रगति

नादिरशाह के ध्वंस से उत्पन्न हिन्दुओं की प्रतिक्रिया का देशी

की राजनीतिक और सामाजिक (नागरिक) व्यवस्था के लिए कोई विशेष लाभ-प्रद परिणाम नहीं निकला। इस प्रतिक्रिया में सिखों की कट्टरता उल्लेखनीय थी। जाटों की अराजकता और मराठों की लूट-मार और विजय भी इसी का नतीजा था। जाटों का सरदार चूड़ामणि सैयदों के पक्ष में हो गया था और सम्राट मुहम्मदशाह तथा राजा जयसिंह के लिए, जिन्होंने उनका दमन करने का प्रयत्न किया था, वह चिन्ता और परेशानी का कारण बन गया था। उसके उत्तराधिकारी बदनसिंह और सूरजमल ने आगरा और मथुरा के समूचे जिलों पर अधिकार कर उस राज्य की स्थापना की जिसे हम आज भरतपुर राज्य के रूप में देखते हैं। रोहिल्लों ने, जो अफगान कबीले के लोग थे, अपने सरदार अली मुहम्मद के नेतृत्व में मुरादाबाद के गिर्द के प्रदेश में अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया। १७४३ में सम्राट ने मालवा पर मराठों के आधिपत्य को मान्यता प्रदान कर दी। मालवा को उन्होंने, कुछ वर्ष पहले ही, निजाम के हाथों से छीन लिया था। इसके शीघ्र बाद ही सम्राट को साम्राज्य के शेष सूबों में भी उन्हें चौथ वसूल करने का अधिकार देना पड़ा।

बंगाल में मराठों का और अधिक प्रवेश

बंगाल में अलीवर्दी खाँ ने वहाँ के नवाब सरफराज खाँ को अलग कर अपने हाथ में सत्ता ले ली थी और सम्राट ने उसकी सत्ता को भी स्वीकार कर लिया था। रघुजी भौंसले के नेतृत्व में मराठों ने बंगाल पर धावे शुरू कर दिए और अपने धावों की पुनरावृत्ति करते रहे। एक अवसर सम्राट ने स्वयं बालाजी राव का आवाहन किया कि वह भोंसले को रोकने में अलीवर्दी खाँ का साथ दे। भोंसले को बिहार खाली करने के लिए बाध्य होना पड़ा और सम्राट ने पेशवा बालाजी राव को, उसकी विगत सेवाओं के उपलक्ष्य में, मालवा प्रदान कर दिया (१७४३)। इसके बाद, अगले वर्ष, भोंसले के सेनानायक भास्कर पंडित के नेतृत्व में, मराठों ने फिर बंगाल में प्रवेश कर लिया, किन्तु उसकी सेना को नष्ट-भ्रष्ट हो जाना पड़ा और वह स्वयं विश्वासघात का शिकार हो कर मारा गया। दिल्ली ने अलीवर्दी खाँ के सैनिक कार्यों में कोई

हस्तक्षेप नहीं किया—ठीक वैसे ही जैसे निजाम-उल-मुल्क और हुसेन अली का हाथ उसने नहीं रोका था। किन्तु सम्राट को सम्रादत खां के भतीजे और अवध के नये शासक सफ़दरजंग के इरादों पर सन्देह था। उसकी उत्पाती अफ़गान सेना पर सम्राट ने कड़ा नियंत्रण रखा, किन्तु वह घरेलू झगड़ों और अपने सेना-नायकों के विद्रोह के कारण बहुत कमजोर पड़ गया था। १७४५ में उसे रघुजी के हाथों अनेक बार पराजित होना पड़ा। रघुजी ने मुर्शिदाबाद तक पर आक्रमण कर दिया था। इसके बाद मराठों के अन्य सैनिक आक्रमण हुए। जब-तब विद्रोही सेनानायक भी उनके साथ शामिल हो जाते थे। मराठों के आक्रमणों से अलीवर्दी खां अपने को १७५१ में मराठों को कटक तथा चौथ के रूप वार्षिक नजराना देने का वचन देने के बाद मुक्त कर सका। इस प्रकार बंगाल का नवाब एक करद शासक मात्र रह गया जैसे निजाम-उल-मुल्क पेशवाओं के अधीन हो गया था। सभी जगह मराठों का प्रभुत्व हो गया था और होता जा रहा था कि उत्तर भारत में, पानीपत के युद्ध में, उन्हें ध्वस्त हो जाना पड़ा।

अहमदशाह अब्दली के प्रारम्भिक आक्रमण (१७४८-६६)

१७४७ में नादिरशाह को हत्या कर दी गई और एक अब्दली अफ़गान, जो कबीले की पवित्र शाखा सदुज़ई शाखा का फल था, ऊपर उभर आया। इस अब्दली अफगान का नाम अहमद शाह था। संघर्ष करते-करते वह अफगान जाति का नेता बन गया था और सिंध पर उसने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। उसने अब अपने मालिक नादिरशाह का अनुसरण करते हुए एक छोटी किन्तु दृढ़ सेना के साथ पंजाब में प्रवेश किया। किन्तु उसे अपने ही नामराशि शाहजादा अहमद (मार्च १७४८) से इस बार मात खानी पड़ी और इस प्रकार कुछ वर्षों के लिए दिल्ली आक्रमणों की मुसीबत से सुरक्षित हो गई। विजयी शाहजादा अहमद दिल्ली लौट आया। तभी उसके पिता मुहम्मद शाह की मृत्यु हो गई और उसने, सम्राट अहमदशाह नाम से, अपने पिता का स्थान ग्रहण किया। अवध के सफदरजंग को उसने अपना वजीर बनाया।

मुहम्मदशाह की मृत्यु (१७४८)

"श्रद्धा का चाहे भले न हो, लेकिन मुहम्मद शाह दया का पात्र अवश्य था।" साम्राज्य को बचाना, उसे विच्छिन्न होने से रोकना, उसकी शक्ति और सामर्थ्य से बाहर था। वह स्थिति की विकटता और अपनी असमर्थता दोनों को ही जानता और अनुभव करता था। सेना का नैतिक स्तर अत्यधिक गिर गया था और अब वह बड़े-बड़े अमीरों के हाथ में टुकड़ियों के रूप में रह गई थी। सेना-नायक एक-दूसरे से ईर्ष्या करते थे और सैनिकों का अनुशासन तथा उनका शिक्षा-क्रम भंग हो चुका था। वृद्ध निजाम-उल-मुल्क को १७४२ में दिल्ली से दक्षिण लौट जाने के बाद, अपने पुत्र नासिरजंग के विद्रोह का दमन करना पड़ा। मराठों के आक्रमणों तथा स्थानिक अराजकता के कारण करनाटक के सूबे की अव्यवस्था को भी उसने शान्त किया। मुहम्मद शाह से कुछ सप्ताह पूर्व उसकी भी मृत्यु हो गई और उसके पुत्र तथा उत्तराधिकारी, अपने झगड़ों में ही इतने फँस गए कि उत्तर भारत की स्थिति की ओर ध्यान देना उनके लिए कठिन हो गया।

सम्राट अहमदशाह (१७४८-५४)

नये सम्राट का शासन अल्पकालिक और संकटापन्न रहा। रोहिल्लों के विद्रोह ने गम्भीर रूप-धारण कर लिया था जिसे सफदरजंग जाटों और मराठों से मदद मिलने पर ही दबा सका। इस विद्रोह को दबाने में योग देने के फलस्वरूप सिंधिया और होल्कर के हाथ और मजबूत हो गए और आक्रमण तथा लूट के नये अस्त्र उनके हाथों में आ गए। रोहिलखण्ड को अब उन्होंने रौंदना शुरू किया। दूसरी ओर शाही सेनाओं को मारवाड़ में पराजित होना पड़ा और पंजाब पर अहमदशाह अब्दाली ने, जो अब अपने को अफगानिस्तान का दुर्रानी शाह कहता था, विजय प्राप्त करने के बाद, दूसरी बार, १७४९ में, हिन्दुस्तान पर आक्रमण कर दिया। खुद दिल्ली में सफदरजंग और उसके प्रतिद्वन्द्वी निजाम-उल-मुल्क के पोते और स्वर्गीय वजीर के पुत्र गाजीउद्दीन में गहरा और तीखा

संघर्ष छिड़ गया था। "६ मास तक दिल्ली फारसियों और मुगलों, शिया और सुन्नियों के लड़ाकू नारों से गूँजती रही। होल्कर और उसके मराठा सैनिक मुगलों के पक्ष और अपने हिन्दू देश-भाइयों—जाटों के, जिनके राजा सूरजमल ने सफदरजंग का पक्ष ले रखा था—विरोध में युद्ध किया।" अन्त में सफदरजंग को पीछे हट कर अपने सूबे अवध में चला जाना पड़ा और विजयी गाजीउद्दीन ने, इसके शीघ्र बाद ही, सम्राट की आँखें निकलवा लीं और सिंहासन पर शाही वंश के एक दूसरे व्यक्ति को आलमगीर द्वितीय के नाम से प्रतिष्ठित कर दिया (१७५४)।

अहमद शाह अब्दली दिल्ली में (१७५६)

इसके शीघ्र बाद ही सफदरजंग की मृत्यु हो गई और उसकी जगह पर शुजाउद्दौला सूबे का शासक बन गया। शुजाउद्दौला ने आंग्ल-भारतीय इतिहास में प्रमुख भाग लिया। इसी बीच गाजीउद्दीन ने पंजाब को उसके अफगान शासक के चंगुल से मुक्त करा लिया था। अहमद शाह अब्दली ने एक बार फिर हिन्दुस्तान पर चढ़ाई की और दिल्ली पर आक्रमण कर उसे लूट-पाट लिया। अफगान आक्रमक ने जाने से पहले अवध के नवाब और जाटों से नजराना वसूल किया। उसने एक बहुत ही योग्य और चरित्रवान रोहिल्ला नजीब उद्दौला को, गाजी उद्दीन के मुकाबले में, दिल्ली का प्रधान सेनापति नियुक्त कर दिया (१७५७)। रघुजी भोंसले बहुधा बंगाल पर आक्रमण कर रहा था और, १७५१ में, अलीवर्दी ने उड़ीसा को स्थायी रूप से तीन सूबों की चौथ और सरदेशमुखी की मराठों की माँग के एवज में उनके आधिपत्य में दे दिया।

रघुनाथ राव की सफलताएँ (१७५७)

गाजीउद्दीन ने तेजी के साथ उत्पाती कार्य शुरू कर दिये। नजीबउद्दौला को उसने भागने के लिए बाध्य कर दिया और मराठों की मदद से, दिल्ली तथा सम्राट पर—उसे बन्दी बना कर—अपना अधिकार कर लिया। पेशवा के भाई रघुनाथ राव के नेतृत्व में मराठा उसका साथ दे रहे थे। अब्दली के पुत्र तैमूरशाह के

विरुद्ध भी उसने विद्रोह की आग भड़का दी जो पंजाब का भार संभाले हुए था। रघुनाथ राव को भी उसने सहायता के लिए निमंत्रित किया। सतलज को पार कर उसने पंजाब से अफगानों को निष्कासित कर दिया और लाहौर में अपनी पसन्द का शासक नियुक्त कर दिया। उसके एक सेनापति ने रुहेलखंड को रौंद डाला और अवध के शुजाउद्दौला से झगड़ा किया। सबसे बढ़ कर सदाशिव राव ने—जो भाऊ नाम से विख्यात था—और जो पेशवा का चचाजाद भाई था—दक्षिण में विजयों का शानदार क्रम शुरू कर दिया था "जिसका प्रारम्भ अहमद नगर के आधिपत्य और अन्त (१७६०) निजाम के शासन के अर्द्धभाग पर आधिपत्य के साथ हुआ।" निजाम-उल-मुल्क के सिंहासन के उत्तराधिकारियों और दावेदारों के संघर्ष के बीच मराठों ने सलावतजंग (जो १७५१ में सिंहासन पर बैठा) को और उसके फ्रैंच साथी एम. बसी को स्तब्ध ही नहीं कर दिया वरन् पश्चिमी बरार को भी उनसे प्राप्त कर लिया। अंग्रेजों के सहयोग में मराठों ने अंगरिया समुद्री डाकुओं के सुदृढ़ किले सावनदुर्ग पर (१७५५) और इसके बाद घेरिया के किले पर अधिकार कर लिया। १७५५ में रघुनाथ राव ने गुजरात में मुस्लिम शासन के अन्तिम अवशेषों को भी साफ कर दिया और, दामाजी गायकवाड़ के साथ, उसने राजपूताना तथा भरतपुर के हिन्दू राज्यों को चौथ देने के लिए बाध्य कर दिया। सम्राट के मनोनीत उत्तराधिकारी अलीगौहर ने गाजीउद्दीन के विरुद्ध पहले सैनिक भर्ती शुरू की थी, किन्तु बाद में उसने अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए बिहार को चुना और १७५८ में पटना पर आक्रमण कर दिया। यह वह समय था जब अंग्रेजों ने, पलासी के युद्ध के बाद, बंगाल और बिहार पर अपना आधिपत्य कर लिया था।

मराठों की सफलताएँ

१७५७ में मराठा शक्ति अपने उच्चतम शिखर पर पहुँच गई थी। यही वर्ष पलासी के युद्ध और विजय का वर्ष था। मैसूर से लेकर लाहौर तक के प्रदेशों पर बालाजी राव ने घूस-कर वसूल किया था मराठा संघ के सदस्यों के द्वारा उन पर अपना शासन स्थापित कर

लिया था। इससे पहले बालाजी राव ने मुल्की गीरी अभियान की एक महान् योजना बनाई थी कि चल कर करनाटक और मैसूर से चढ़ा हुआ नजराना वसूल किया जाए। १७५८ में उसने निजाम के अहमदनगर के भारी किले पर आधिपत्य कर लिया और १७६० में, उद्गीर के युद्ध में, उसने निजाम के विरुद्ध घटनापूर्ण विजय प्राप्त की। इस युद्ध में मराठा सेना-नायक सदाशिव राव ने बहुत ख्याति प्राप्त की। इलाके और मालगुजारी में कमी हो जाने से निजाम की शक्ति बहुत कुछ क्षीण हो गई थी। मराठों को उसे बहुत कुछ भेंट कर देना पड़ा था। मराठा सेना की शक्ति उसके भारी तोपखाने के कारण बहुत बढ़ गई थी। इब्राहीम गर्दी के संचालन में यह तोपखाना था। निजाम के दरबार के सुप्रसिद्ध फ्रान्सीसी सैनिक बुसी से उसने शिक्षा प्राप्त की थी। मराठा शासन व्यवस्था में सुधार कर बालाजी राव ने उसे बहुत प्रभावशाली बना दिया था। किन्तु अपने इलाके से बाहर, हर कहीं; मराठों का कृतित्व लूट-खसोट से आगे या उससे ऊँचा नहीं उठ सका। जहाँ भी उनके चरण पड़ते थे, वहाँ की सम्पत्ति और उद्योग-धंधों को पाला मार जाता था।

लेकिन महान् दुर्घटना की काली छाया मराठों के पथ को घेरे खड़ी थी। हिन्दुस्तान के प्रधान सेनापति रघुनाथ राव की जगह सदाशिव राव भाऊ, ने अपने को आरोपित कर लिया। रघुनाथ राव ने अबुद्धितापूर्वक लाहौर पर आधिपत्य कर अब्दली को क्रुद्ध कर दिया था। अहमदशाह अब्दली ने रोहिल्लाओं की ओर से हिन्दुओं से प्रतिशोध लेने के लिए हिन्दुस्तान पर फिर धावा कर दिया (१७५९)। गाज़ीउद्दीन ने भाग कर जाट राजा सूरज-मल के यहाँ शरण ली और अफगान अपने आगे-आगे होल्कर और दाताजी राव सिंधिया को खदेड़ते हुए बढ़ आए। इस कशम-कश में होल्कर को पराजित होना पड़ा और सिंधिया मारा गया। क्रूर गाजीउद्दीन के आदेश से आलमगीर की हत्या होने के बाद दिल्ली सम्राट-शून्य हो गई और राजधानी पर एक अफगान सेना ने आधिपत्य कर लिया (नवम्बर, १७५९)।

अब भाऊ मैदान में प्रकट हुआ। राजपूत, जाट और मराठों की

संयुक्त शक्ति के सहारे उसने दिल्ली पर आक्रमण किया और अभागे नगर को एक बार फिर लूट-खसोट और ध्वंस का शिकार होना पड़ा। उसने अफगान शाह को इन्दस के पार तक खदेड़ने का निश्चय कर लिया था। दिल्ली पर आधिपत्य होते ही उसने पेशवा के पुत्र विश्वास राव को, जो सेनापति के रूप में उसके साथ था, सम्पूर्ण भारत का चक्रवर्ती सम्राट घोषित कर दिया।

पानीपत का निर्णयात्मक युद्ध (१७६०-६१)

काशीराज पण्डित ने पानीपत के युद्ध को जिसने अपनी आँखों से देखा था और जो अवध के नवाब की सेवादारी में था, भाओ की शासन-योग्यता और क्षमता का प्रशंसात्मक वर्णन किया है, किन्तु साथ ही उसने उसके उद्धत स्वभाव और दम्भ का भी उल्लेख किया है कि किस प्रकार, मूर्खतापूर्ण ढंग से, होल्कर और सूरज मल के अनुभवी परामर्शों को वह अनसुना कर देता था। होल्कर और सूरजमल हिन्दुस्तान की स्थिति से परिचित थे। उन्होंने शिवाजी की प्रणाली के अनुसार गोरिल्ला युद्ध को जारी रखने का परामर्श दिया था। अफगानों का तोपखाना मराठों से कमजोर था, किन्तु अहमदशाह सतर्क था और उसने जम कर मराठों से युद्ध करने का अवसर न आने दिया जब तब स्थिति उसके अनुकूल न हो। दूसरी ओर अफगान शाह भी सावधानी के साथ खेल खेल रहा था। ढुलमुल शुजाउद्दौला को उसने अपनी ओर कर लिया, साथ ही नजीब और रोहिल्लाओं की मदद भी उसे प्राप्त हो गई। अन्त में उसने बढ़ी हुई जमुना को पार कर लिया। उसके इस तरह बढ़ आने का मराठों पर रोब पड़ा और पानीपत के मैदान में वे जम गए। मिट्टी की ओटें, एक खाई और तोपखाना उनके रक्षक थे। दो मास तक दोनों की सेनाएँ आमने-सामने डटी रहीं और दोनों में से एक को भी अपने रक्षात्मक स्थल को छोड़ कर बाहर निकलने का साहस नहीं हुआ। अन्त में भाओ ने जो अब्दली को खिन्न करने के अपने प्रयत्नों में सफल नहीं हो सका था और जो, आशा के अनुसार दक्षिण से भारी सेना को सहायता भी नहीं प्राप्त कर सका था, भूख और शत्रु की छुटपुट कार्यवाहियों से तंग आकर

निर्णयात्मक युद्ध में कूदने का निश्चय कर लिया। अकेले उसने मोर्चा लिया और अन्त तक बहादुरी के साथ वह लड़ा। * इस युद्ध का अन्तिम निर्णय उस समय हो गया जब सदाशिव की मृत्यु की खबर पाकर होल्कर और गायकवाड़, एक दम निराश हो, अपनी सेनाओं के साथ युद्ध क्षेत्र छोड़ कर चले गए। गहरे युद्ध और मार-काट के बीच भाऊ ने अपनी जान दे दी और समूची मराठा सेना अस्तव्यस्त हो ढोर-डंगरों की तरह भाग खड़ी हुई। गतिशील अफगान घोड़सवारों ने मराठा सैनिकों का पीछा कर हजारों को मौत के घाट उतार दिया। कितने ही, जिनमें जकोजी सिंधिया और इब्राहीम गर्दी भी थे। बाद में पकड़े गए और क्रूरता, पूर्वक उनकी हत्या कर दी गई। कुल सेना का एक चौथाई भाग जीवित बचा, अन्य सब मारे गए। मुसलमानों की यह खूनी

---

* भाऊ जानता था कि हिन्दुस्तान के मैदान गोरिल्ला युद्ध के लिए अनुपयुक्त हैं। इसके अलावा अफगान अपने तुर्की घोड़ों की सहायता से सहज ही मराठों को धर पकड़ सकते थे और इस प्रकार उनकी गोरिल्ला नीति को विफल कर सकते थे। एच० जी० रालिन्सन के अनुसार भाऊ ने अपनी शक्ति और साधनों को गोरिल्ला युद्ध में न लगा कर, ठीक ही किया। उसके लिए यही उपयुक्त था कि शत्रु को खुले युद्ध के लिए बाध्य करे। वह अपनी खाई-खन्दकों में जमा था। अगर शत्रु आक्रमण करता तो इब्राहीम गर्दी का तोप-खाना उसे भून देता। उधर पेशवा उसकी मदद के लिए समय पर नहीं आया और दक्षिण में ही अपना समय बरबाद करता रहा। फिर शाह ने ऐसा समय देख कर आक्रमण किया जब उसकी सेना का धैर्य टूटने लगा था और १०,००० घोड़सवारों की भारी सेना को उसने रिजर्व में रख छोड़ा था जिसने, अन्त में, युद्ध का निर्णय कर दिया। पेशवा अपनी अपराधी आत्मा को छिपाने के लिए न आ सकने की जिम्मेदारी दूसरों के कंधों पर डालने लगा।—काशीराज पण्डित का वर्णन, कर्नल जे० ब्राउन द्वारा अनुवादित, रालिन्सन द्वारा संपादित (१९२६), देखिए भूमिका के पृष्ठ १०-११।

युद्ध के विवरण के लिए ओवन लिखित "फाल आफ दि मुगल एम्पायर", पृ० २५६, और रालिन्सन के ग्रंथ पृष्ठ १७-४१ और कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इन्डिया, खण्ड ४ (१९३७)—पृष्ठ ४२०—६ भी देखिए।

विजय मुसलमान शासकों को, समान शत्रु के विरुद्ध, एक सूत्र में बाँधने में समर्थ नहीं हो सकी। अहमदशाह इन्दस को पार कर चला गया और फिर कभी हिन्दुस्तान नहीं लौटा। इस युद्ध के फलस्वरूप 'अगर मराठों की शक्ति को स्थायी आघात पहुँचा तो मुगल साम्राज्य भी फिर भी नहीं उबर सका,—उसका सितार ऐसा डूबा कि फिर चमक नहीं सका, यद्यपि नाम मात्र का सम्राट दिल्ली में अब भी दरबार का नाटक होता था और शक्तिशाली राजा तलवार के बल पर जीते राज्यों के उपलक्ष्य में सम्राट के अभिवादन का अब भी नाटक करते थे।"

पराजय की अशुभ सूचना, गुप्त-भाषा में लिखे हुए एक पत्र के द्वारा जो भेजी गई थी, पेशवा के लिए घातक आघात सिद्ध हुई। यह आघात इतना भारी था कि खण्डित हृदय पेशवा की, इसके शीघ्र बाद ही, मृत्यु हो गई। उत्तरी भारत की अपनी अभियान यात्रा को भंग कर वह, मानो मृत्यु को गले लगाने लिए ही, पूना लौट आया। मराठा संघ के पास अब खण्डित राज्य के सिवा और कुछ न रह गया और अंग्रेजों के लिए मार्ग पूरी तरह साफ हो गया था। यद्यपि किसी हद तक मराठा शक्ति ने अपने को संभालने में सफलता प्राप्त कर ली, किन्तु उनकी सेना की पुरानी प्रतिष्ठा और क्षमता फिर न लौट सकी। *

—: o :—

* "मराठा सैनिकों का स्थान अरबों और वेतन भोगी हिन्दुस्तानी सैनिकों ने ले लिया और सबसे महत्वपूर्ण यह पेशवा की शक्ति क्षीणता ने मराठा राज्य के मामलों में अंग्रजों के हस्तक्षेप करने की जमीन तैयार कर दी। पानीपत असामी और किरकी की पूर्व-भूमिका सिद्ध हुई। अहमदशाह के लिए भी यह विजय एक तरह का नृत्य मात्र सिद्ध होकर रह गई और दिल्ली को लूटने तथा ध्वस्त करने के बाद वह लौट गया।"—कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इन्डिया।

परिशिष्ट

घटनानुक्रमणिका

ईसवी—

१५२६—१७३० हिन्दुस्तान में बाबर का शासन।

१५२६—१५३७ गुजरात के बहादुरशाह का शासन।

१५२६ पानीपत का युद्ध।

१५२६ बहमनी राज्य का पूर्ण पतन।

१५२७ — सीकरी के निकट कनवाहा का युद्ध।

१५२९—३८ नूनो-द-कुन्हा की वाइसरायल्टी।

१५२९—१५४४ विजयनगर के अच्युतराय का शासन।

१५३०—१५४० हुमायूं का शासन।

१५३१—१५३५ बहादुरशाह, और फिर बाद में हुमायूं द्वारा मालवा पर विजय।

१५३१ वल्लभाचार्य की मृत्यु।

१५३८ शेरशाह का बंगाल पर आधिपत्य।

१५३८ नूनो-द-कुन्हा द्वारा डियू के दुर्ग का निर्माण।

१५३९ शेरशाह खाँ सूर का बंगाल का शासक बनना; उसके द्वारा चौसा के युद्ध में हुमायूं का पराजित होना।

१५४०—१५४५ दिल्ली में शेरशाह का शासन।

१५४०—१५५५ सूरवंश का शासन।

१५४१ (?) तंजोर नामक शिल्प की स्थापना।

१५४२—१५७० विजयनगर के सदाशिव राय का शासन।

१५४२ गोआ में सन्त फ्रांसिस सेवियर का आगमन, अकबर का जन्म।

लगभग १५२९—१७३६ मदुरा के नायकों का शासन।

१५४४ सिंध पर तरखां-वंश का शासन।

१५४५—१५४८ जो-द-कैस्ट्रो की वाइसरायल्टी।

१५४७ हुमायूं का काबुल पर पुनरधिकार।

जुलाई	१५५५	हुमायूं का साम्राज्य पर पुनरधिकार।
	१५५६	हुमायूं की मृत्यु।
	१५५६—१६०५	अकबर महान् का शासन।
नवम्बर	१५५६	पानीपत का द्वितीय युद्ध।
	१५५८—१५६०	ग्वालियर पर अकबर की विजय। अजमेर और जौनपुर पर आधिपत्य।
	१५६०	अकबर का बैराम खाँ को पदच्युत करना।
	१५६२	मालवा का अकबर के साम्राज्य में मिलना। अकबर का प्रभुत्व स्थापन।
	१५६३	बंगाल के शासन का सुलेमान खाँ के हाथों में जाना।
	१५६४	जजिया रद्द।
	१५६५	तालिकोट का युद्ध।
जून	१५६७	अकबर द्वारा राणा प्रतापसिंह की पराजय।
अक्टूबर	१५६७-फरवरी १५६८	चित्तौड़ का घेरा।
	१५६८—१५७१ और १५७८—१५८१	लुई द अथाइ दे की वाइसरायल्टी।
	१५६९	रणथम्भोर और कालिंजर पर आधिपत्य।
	१५७२—१५७३	गुजरात के विरुद्ध अकबर का प्रथम युद्ध।
	१५७२	बंगाल में गृह-युद्ध।
	१५७४—१५८१	चौथे सिख गुरु रामदास।
	१५७४	अमृतसर की स्थापना।
	१५७५—१५७६	अकबर की बंगाल पर विजय।
	१५७५	विजय नगर के तिरमल राय की मृत्य।
	१५७५—१५८६	औरंगा का शासन।
	१५७८	मुगल राजधानी में पुर्तगीज मिशन का आगमन।
	१५७९	अकबर की मुजाहिदे आजम बनने की घोषणा।
	१५८०	आगरा में प्रथम ईसाई मिशन का आगमन।
	१५८१—१६०६	सिख गुरु अर्जुनसिंह का गद्दी पर बैठना।

१५८२	दीने इलाही की घोषणा।
१५८१—१६१४	विजय नगर के वेंकटपति का शासन।
१५८६	काश्मीर राज्य पर मुगलों का स्वामित्व।
१५९१—९२	सिंध पर मुगलों का प्रभुत्व।
१५९१—९२	गुजरात पर मुगलों का स्वामित्व।
१५९२	अकबर की उड़ीसा विजय।
१५९५	चान्दबीबी द्वारा अहमदनगर का साहसपूर्ण रक्षात्मक युद्ध।
१५९५	पुर्तगीजों की शक्ति का निश्चित ह्रास।
१५९५	केप आफ गुड होप के गिर्द डच।
१५९६	बरार मुगलों के संरक्षण में।
१५९९—१६००	दकन में मगलों के अभियान का आउट-पोस्ट खानदेश।
१५९९	असीरगढ़ का पतन। खानदेश की स्वतंत्रता का अन्त। शाहजादा सलीम का विद्रोह।
१६०२	अबुलफजल की हत्या।
१६०५	अकबर की मृत्यु। जहाँगीर का सिंहासन पर बैठना।
१६०६	शाहजादा खुसरो का विद्रोह।
१६०८	मराठा सन्त तुकाराम का जन्म।
१६०८	कप्तान हॉकिन्स का सूरत में आगमन।
१६११	जहाँगीर का नूरजहाँ से विवाह।
१६११	कैम्बेरे पर डचों द्वारा पुर्तगीज बेड़े की पराजय।
१६१४	मेवाड़ के अमरसिंह का दमन।
१६१५	मेवाड़ के राजपूतों पर खुर्रम की विजय।
१६१५—१६१८	सर थामसरो का मुगल दरबार में आगमन।
१६२०	शाहजहाँ का दक्षिण में पुनरभियान।
१६२०	जहाँगीर का कांगड़ा दुर्ग पर आधिपत्य।
१६२३—१६२५	शाहजहाँ का विद्रोह।
१६२३—१६५९	मदुरा के निरुमल नायक का शासन

१६२६	महावत खाँ की क्रान्ति, मलिक अम्बर की मृत्यु।
१६२७	जहाँगीर की मृत्यु।
१६२८—१६५८	शाहजहाँ का शासन।
१६२६	खानजहाँ लोदी का विद्रोह।
१६३० (१६२७ ?)	शिवाजी का जन्म।
१६३१	मुमताज महल की मृत्यु।
१६३१	मुगलों द्वारा पुर्तगीजों का दमन।
१६३२	शाहजहाँ का अहमदनगर पर स्वामित्व।
१६३८—१६५८	सिंहल से डचों द्वारा पुर्तगीजों का निष्कासन।
१६४०	अंग्रेजों द्वारा मद्रास की स्थापना।
१६४१	मलक्का बन्दरगाह पर डचों का प्रभुत्व।
१६४६	इक्केरी के नायकों की शक्ति का संघटन। फारसियों का कंधार पर पुनः आधिपत्य।
१६४६	शिवाजी के आक्रमण जीवन का प्रारम्भ।
१६४६	नयी दिल्ली का उद्घाटन (शाहजहाँबाद)
१६५१	केप आफ गुड होप डचों का आधिपत्य। हुगली में अंग्रेजों की फैक्टरी की स्थापना।
१६५६	दक्षिण के वाइसराय के रूप में औरंगजेब का बीजापुर और गोलकुण्डा पर आक्रमण।
१६५७	शिवाजी का मुगल प्रदेशों पर आक्रमण।
सितम्बर १६५७	भ्रातृ-युद्ध का प्रारम्भ।
१६५८—१७०७	औरंगजेब का शासन-काल।
१६५६	शिवाजी द्वारा अफजल खाँ की हत्या।
१६६१—१६६३	आसाम में मीर जुमला।
१६६३	शिवाजी द्वारा शाइस्ता खाँ का मान-भंग।
१६६४	शिवाजी का शाही उपाधि ग्रहण करना, सूरत पर आक्रमण।
१६६४—१६७५	सिख गुरु तेगबहादुर।
१६६४	शिवाजी के पिता शाहजी की मृत्य

१६६५	पुरंधर की संधि।
१६६५	बंगाल और अराकान में पुर्तगीजों के हमले।
१६६६	शाहजहाँ की मृत्यु।
१६६९	औरंगजेब के फरमान से हिन्दू मन्दिरों का विनाश।
१६७०	अरबों द्वारा डियू के दुर्ग की लूट।
१६७२	औरंगजेब के विरुद्ध सतनामियों का विद्रोह।
१६७३	तंजोर के नायक-वंश का अन्त।
१६७४	शिवाजी का छत्रपति की उपाधि धारण करना।
१६७६—१६७८	शिवाजी की दक्षिण में सफलताएँ।
१६७५	सिख गुरु तेगबहादुर की मृत्यु।
१६७५—१७०८	गुरु गोविन्द सिंह का काल।
१६७८	जोधपुर के जसवन्त सिंह की मृत्यु।
१६७९	मुगलों का जोधपुर पर आधिपत्य, जजिया का फिर से लगाया जाना।
१६८०	शिवाजी की मृत्यु। सम्भाजी प्रथम का राज्य ग्रहण।
१६८०	मेवाड़ (उदयपुर) के विरुद्ध मुगलों का युद्ध।
१६८१	शाहजादा अकबर का विद्रोह, उसका पलायन—औरंगजेब का दक्षिणी अभियान।
१६८५	बीजापुर का घेरा।
१६८६	औरंगजेब का बीजापुर का अपने साम्राज्य में सम्मिलित करना।
१६८७	गोलकुंडा का पतन।
१६८९—१७०६	मदुरा में रानी-मंगम्मल का शासन।
१६८९	सम्भा जी का मुगलों के हाथों में बन्दी होना, उसकी मृत्यु।
१६८९	रामगढ़ पर मुगलों का आधिपत्य।
१६९०—१६९८	जिंजी का मुगल-घेरा।

१६६२	रामगढ़ और पनहल पर मराठों का पुनः आधिपत्य।
१७००	सतारा का पतन, राजाराम की मृत्यु।
१७०२—१७०७	मुगलों के विरुद्ध ताराबाई की सफलताएँ।
१७०७	औरंगजेब की मृत्यु।
१७०७	बहादुरशाह का मुगल सिंहासन पर बैठना।
१७०८—१७१६	मुगलों के विरुद्ध बन्दा वैरागी का विद्रोह।
१७१०	राजपूतों का सम्राट से मेल।
१७१२—१७१३	जहाँदार शाह का शासन।
१७१३—१७१९	फार्रुखसियार का शासन।
१७१३—१७२०	प्रथम पेशवा बालाजी विश्वनाथ का शासन।
१७१४	दक्षिण का वाइसराय सैयद हुसेन अली।
१७१९	मराठों को शाही सुविधाएँ।
१७१९—१७४८	मुहम्मद शाह का शासन।
१७२०	सैयदों के प्रभुत्व का अन्त।
१७२०—१७४०	बाजीराव पेशवा का शासन।
१७२२—१७२३	निजाम दिल्ली का वजीर नियुक्त।
१७२३	निजाम-उल-मुल्क का दिल्ली छोड़ कर दक्षिण चले जाना।
१७२४	दकन में निजाम के शासन का प्रारम्भ।
१७२८	निजाम और पेशवा के बीच समझौता, मुँगी शिवगाँव की संधि।
१७२९	बुन्देलखण्ड में मराठों का प्रवेश।
१७३१—१७३६	मदुरा के नायकों के राज्य का विच्छिन्न होना और रानी मीनाक्षी का शासन।
१७३१—१७३२	मालवा पर मराठों की विजय, गुजरात में उनका प्राधान्य।
१७३७	नादिरशाह का फारस का शाह बनना।
१७३७	बाजीराव के दिल्ली तक धावे, मालवा पर उसका आधिपत्य शाह द्वारा स्वीकृत।
१७३९	नादिरशाह का हिन्दुस्तान पर आक्रमण, करनाल में उसकी विजय, दिल्ली की लूट।

१७३९	मुगलों के हाथ से काबुल और इन्दस पार के इलाकों का निकलना।
१७४०	बाजीराव की मृत्यु—बालाजी राव का सिंहासन पर बैठना—बंगाल का नवाब अलीवर्दी खाँ।
१७४१	त्रिचनापली पर मराठों के आधिपत्य।
१७४२—१७५१	बंगाल पर मराठों के आक्रमण।
१७४५	सम्राट के विरुद्ध रोहिल्लाओं का विद्रोह।
१७४७	अहमद शाह और अब्दली का इन्दस पार करना।
१७४८	मुहम्मद शाह और निजाम-उल-मल्क की मृत्य।
१७४८—१७५४	सम्राट अहमद शाह का शासन।
१७४९	अहमद शाह का द्वितीय आक्रमण।
१७४९	साहू को मृत्यु। राज्य पर पेशवाओं का अधिकार।
१७५३	गुजरात में गायकवाड़ का प्रभुत्व।
१७५४—१७५९	सम्राट आलमगीर द्वितीय का शासन।
१७५६	अलीवर्दी खां की मृत्यु।
१७५६—१७५७	अहमदशाह अब्दली का आक्रमण।
१७५७	पलासी में अंग्रेजों की विजय।
१७५७—१७५८	हिन्दुस्तान में रघुनाथ राव की सफलताएँ। मराठा शक्ति अपने उच्चतम शिखर पर।
१७५८	पंजाब पर मराठों का आक्रमण।
१७५९	अहमद शाह द्वारा पंजाब से मराठां का निष्कासन।
१७६०	उद्गीर में मराठों की विजय।
१७६१	पानीपत का युद्ध—शाह आलम द्वितीय का सम्राट बनना—बालाजी राव को मृत्यु।

—:०:—